साधना के सूत्र

प्रवक्ता

मुनि श्री मिश्रीलालजी 'मधुकर'

सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

ब्यावर

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन का छठा पुष्प

प्रकाशक :
मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
पीपलिया बाजार
ब्यावर (राजस्थान)

आवृत्ति प्रथम
जनवरी, १९७१

आवृत्ति : द्वितीय
फरवरी, १९७६
पृष्ठ · ३८२

मूल्य :
दस रुपया मात्र

मुद्रक :
श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स
[illegible] २, आगरा-४

प्रकाशकीय

'साधना के सूत्र' प्रवुद्ध पाठको के हाथो मे सोपते हुए हमें परम प्रसन्नता हो रही है। इसमे पडितरत्न श्री मधुकर मुनिजी के अजमेर वर्षावास के कतिपय प्रवचनो का सकलन है।

आचार्य-प्रवर श्री हेमचन्द्रसूरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'योगशास्त्र' मे श्रावक के ३५ गुणो का अभिवर्णन किया है। मुनिश्री के उन पर भी विस्तृत प्रवचन हुए थे। 'साधना के सूत्र' मे गृहस्थधर्म से सम्वन्धित उन्ही प्रवचनो का सग्रह किया गया है।

गृहस्थ-जीवन में रहते हुए साधक का जीवन-स्तर जितना उच्च से उच्चतम व उज्ज्वल से समुज्ज्वल होगा, वह उसी स्तर पर अपना आत्मविकास कर सकेगा। गृहस्थ-जीवन की विशुद्ध भूमिका पर ही आत्मविकास की नीव डाली जा सकती है। यही विवेचन 'साधना के सूत्र' मे है।

अजमेर वर्षावास में मुनिश्रीजी के जितने भी प्रवचन हुए प्राय उन सवका सकलन व्यावर-अजमेर निवासी सुश्रावक श्री पन्नालालजी चोपडा ने आशुलिपिक श्री धर्मपाल जी मेहता द्वारा करवाया था। उसी का यह सुफल है कि वे इस रूप मे आपके हाथो मे पहुँच रहे है। पुस्तक का सम्पादन 'अमर भारती' के यशस्वी सम्पादक श्री श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' ने किया है।

श्री मधुकर मुनिजी महाराज स्वय मधुर प्रवक्ता हैं। उनके मधुर प्रवचनो मे श्री 'सरसजी' ने अपने सम्पादन से और सरसता पैदा कर दी है। अत साधना के सूत्र मे मधुरता व सरसता का सुन्दर सम्मिश्रण हो गया है। फिर भी यह पुस्तक कैसी वनी है, इसका सही निर्णय तो अध्येता ही करेंगे।

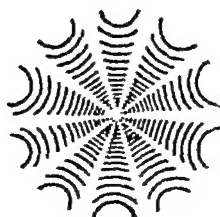
नोखा एव मद्रास निवासी श्री गुमानमलजी साहब चोरडिया ने पुस्तक के सम्पादन का पूर्ण व्यय-भार उठाकर सहयोग दिया है।

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन की ओर से मैं श्री पन्नालालजी चोपडा, श्री गुमानमलजी चोरडिया तथा श्री सायरमलजी चोरडिया के आर्थिक सहयोग के लिए आभार मानते हुए धन्यवाद देता हूँ। उनके आर्थिक सहयोग के कारण ही सस्था इस सुन्दर प्रकाशन को जन-जन के हाथो मे पहुँचाने का सुअवसर प्राप्त कर सकी है।

पूर्व प्रकाशित 'अन्तर की ओर' के दोनो भागो मे मुनिश्रीजी के व्यावर वर्षावास के प्रवचन सकलित किये गये थे। उन दोनो भागो को समाज ने अत्यधिक पसन्द किया है।

हमे आशा है कि 'साधना के सूत्र' भी उसी तरह सबको पसन्द आयेगी। इन जीवनोपयोगी प्रवचनों से जन-साधारण अधिक से अधिक लाभ उठाये इस दृष्टि से सुन्दर, उपयोगी और सस्ता साहित्य प्रस्तुत करने की हमारी योजना के अनुसार प्रस्तुत पुस्तक पाठको के कर-कमलो मे समर्पित है।

मन्त्री
मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
पीपलिया बाजार, व्यावर



द्वितीय संस्करण

'साधना के सूत्र' का प्रथम सस्करण सामान्य पाठको से लेकर विद्वानो तक ने पसन्द किया, सराहा और नित्य स्वाध्याय की पुस्तक के रूप मे स्थान दिया–यह हमारे अनेक मित्रो के पत्रो से ज्ञात कर हमे वडी प्रसन्नता हुई। वास्तव मे जीवन को सुख-शातिमय बनाने की जो सरल कुन्जी इस पुस्तक मे बताई गई है वह अपने आप मे महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत पुस्तक, जैन समाज के सभी सम्प्रदायो के अलावा जैनेतर पाठको ने भी बडे चाव से मँगाई। इस लोकप्रियता और उपयोगिता का ही यह प्रमाण है कि कुछ ही समय मे इसका प्रथम सस्करण समाप्त हो गया और पाठको की माँग आती ही रही। पुस्तक की अधिक माँग देखकर सस्था के अधिकारियों ने इसके दूसरे सस्करण का निर्णय लिया और यह द्वितीय सस्करण पाठको के हाथो मे है।

वर्तमान मे कागज, छपाई आदि के बढते हुए मूल्य और प्रचार साधनो की व्ययसाध्यता ने हमे पुस्तक का मूल्य बढाने का विवश किया है। पक्की जिल्द की जगह हमने इस पर प्लास्टिक कवर लगाकर एक रुचिकर परिवर्तन भी कर दिया है।

आशा है, पाठक पूर्व की भाँति इसे अपनायेंगे और नित्य स्वाध्याय के ग्रन्थो मे इसे स्थान देंगे।

अमरचन्द मोदी

मन्त्री—मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

प्रस्तावना

स्वर्ण-कलशो से चमकता गगनचुम्बी भव्य प्रासाद धरती मे गहराई तक उतरी हुई सुदृढ नीव पर ही खडा होता है। विना नीव का महल कही होता है ? हवा मे फेंकी गई ईंटें महल का निर्माण नही कर सकती, अपितु वापस लौट कर निर्माता की जीवनलीला को ही समाप्त कर देती हैं।

जीवन की धरती पर खडा किया जाने वाला आध्यात्मिक एव धार्मिक दिव्य प्रासाद भी नीव की अपेक्षा रखता है। और वह नींव है मानवता। अक्सर मानव तन का मानव तो वन जाता है, किन्तु मन का मानव नही वन पाता। और यही कारण है कि आज हजारो ही नही, लाखो की सख्या मे मानवतनधारी जो द्विपद प्राणी भटक रहे हैं, उन्हे और पशुतनधारी प्राणियो को एक साथ खडा कर दिया जाये तो तन के सिवा अन्य क्या अन्तर मिलेगा हमे। मानव तन के अन्दर भी कुत्ते हैं, बिल्ली हैं, सियार हैं, बाघ हैं, उल्लू है, चमगादड़ हैं। क्या-क्या नही है इस इन्सानी चोले मे। मानव, मानव के प्रति भी जव घृणा, वैर, विद्वेप की दहकती आग मन मे लिए फिरता है, एक दूसरे की वर्वादी के सपने दिन-रात देखा करता है, क्रोध और अह के कांटे हर किसी के पथ पर विछाता है, तव कहां रहती है मानवता, मानव के अन्तर्मानस मे।

आज धार्मिक परम्पराओ मे जो विसगतियां है, उसका एकमात्र कारण यही है कि मानवता की नींव के विना ही धार्मिकता का विराट् प्रासाद खडा किया जा रहा है। और यह प्रयास ऐसा ही है कि हवा मे ईंटें फेंकना। धर्म के नाम पर मन्दिरो मे घण्टे वज रहे हैं, पूजाएँ हो रही हैं। स्थानको मे आसन विछ रहे है, सामायिक की जा रही हैं, ऊँची आवाज में प्रतिक्रमण के 'मिच्छामि दुक्कड' के स्वर गूंज रहे है। त्याग-प्रत्याख्यान के लिए 'अप्पाण

वोसरामि' का पाठ बोला जा रहा है, और धार्मिकता के लम्बे-चौड़े प्रमाणपत्र वितरित किये जा रहे हैं। मस्जिदो मे नमाज और गिरजाघरो मे प्रेयर के आकर्षक नाटक खेले जा रहे हैं। धर्म के नाम पर बहुत कुछ हो रहा है, फिर भी आम शिकायत है कि समय बडा खराब है, लोग नास्तिक हो रहे हैं। धर्म नष्ट हो रहा है ! क्या करें, कलियुग है। बहुत बुरा वक्त है। यह सब क्या है ? इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि धार्मिक क्रिया-काण्ड तो हो रहे हैं, किन्तु धर्म नही हो रहा है। जप-तप, पूजा-पाठ आदि के फूल तो खिल रहे हैं, किन्तु उनमे सुगन्ध बिल्कुल नही है ! धार्मिक व्यक्तियों को जब कोई मानवता के साधारण गुणो से भी रिक्त देखता है, बाहर मे कुछ और तो अन्दर मे कुछ और ही पाता है, तब जनमानस मे नास्तिकता प्रसारित न होगी, तो और क्या होगी ? आवश्यकता है देवात्मा बनने से पहले मानवात्मा बनने की, परमात्मा एव महात्मा बनने से पहले साधु-आत्मा बनने की। साधु-आत्मा अर्थात् सदाचारी एव सद्व्यवहारी आत्मा !

प्राचीन जैनाचार्य इस स्थिति से अनजान नही थे। उन्होने अणुव्रत, महाव्रत आदि की विशिष्ट धर्मसाधना से पहले 'मार्गानुसारी' के रूप मे मानवता के दिव्य गुणो का उपदेश दिया है, सबसे पहले मानव को मानव बनने की शिक्षा दी है। आचार्य हरिभद्र के 'धर्मबिन्दु' मे और आचार्य श्री हेमचन्द्र के 'योग-शास्त्र, मे आज भी यह चर्चा विस्तार से उपलब्ध है।

मुनि श्री मिश्रीमलजी 'मधुकर' का 'साधना के सूत्र' के रूप मे प्रवचन सूत्र मेरे समक्ष हैं। देखता हूँ कितने सुन्दर भाववाही प्रवचन हैं, मन को सहसा छू लेते हैं, छू ही नही लेते—अन्तर् में काफी गहरे उतर जाते है। मुनिश्री का अध्ययन विशाल है, चिन्तन गहरा है, दृष्टि उदार एव व्यापक है, प्रवचन शैली सहज है, सुबोध है, मधुर भी ! काफी दूर तक श्रोता को साथ लिये चलते हैं, और उसके अन्तर्मानस मे एक ऐसी प्रेरणा छोड जाते है, जो उसके जीवन मे अनुगु जित रहती है समय के लम्बे प्रवाह तक ! 'मार्गानुसारी जीवन' का इतना सुन्दर, इतना उदात्त, इतना स्पष्ट एव अर्थ-गम्भीर विवेचन अभी हिन्दी भाषा मे अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। मैं हृदय से मुनिश्री को साधुवाद दूंगा, उक्त प्रवचन पुस्तक के लिए। 'साधना के सूत्र' का पाठक अवश्य ही अपने जीवन की दिव्यता के लिए इस पर से बहुत-कुछ पा सकेगा, धार्मिकता की पृष्ठभूमि के रूप मे मानवता की दिव्यकला सीख सकेगा। एक सद्गृहस्थ का जीवन कैसा होता है, उसका एक सर्वांगीण सुरम्य चित्र उपस्थित है 'साधना के सूत्र' मे। सरल, सरस, सुबोध, अर्थ-गम्भीर शैली मे !

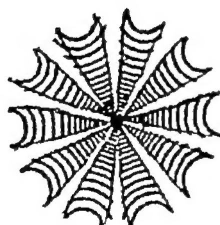
मुनिश्री यथार्थ ही 'यथानाम तथागुण' की लोकोक्ति को चरितार्थ करते हैं। वे मिश्री से मधुर हैं, मन से भी, वाणी से भी। निश्छल निर्मल मन ! नपी-तुली स्नेह-स्निग्ध वाणी। सीधा-सादा स्वच्छ व्यवहार ! यही सच्ची साधुता है और यह साधुता साधुहृदय मुनि श्री मिश्रीमलजी मे सहज भाव से है। बनावट या दिखावट जैसा उनमे कुछ ही नही है।

मुनिश्री और मैं अनेक वर्षावासो एव विहार यात्राओ मे काफी लम्बे समय तक साथ रहे हैं। इस कारण अतिनिकट का परिचय है मेरा उनके साथ। मैंने उन्हे जब भी पाया बहुत अच्छा पाया ! अस्तु, अपने अन्तर्मन की मगल-भावना के साथ मैं प्रस्तुत लेखन का दो शब्दो मे उपसहार कर रहा हूँ—मुनिश्री चिरजीवी हो, चिरयशस्वी हों।

साथ ही प्रवचन पुस्तक के सम्पादक श्री 'सरस' जी को भी मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ कि उन्होने पूरी तन्मयता के साथ पुस्तक को सरस एव विचार-प्रधान शैली मे प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है।

जैन भवन
मोतीकटरा, आगरा

—उपाध्याय अमरमुनि





जीवन का शास्त्र.....

प्रसिद्ध दार्शनिक डा० राधाकृष्णन ने जीवन के सम्बन्ध मे अपनी सरल अनुभूति लिखी है—"प्रेम और सहानुभूति वाला सरल जीवन मुझे विद्याभिमानी पण्डित व नीरस विचारो का विश्लेषण करने वाले दार्शनिक के जीवन से अच्छा लगा।"

और इसी सन्दर्भ मे आधुनिक विज्ञान के पिता अल्बर्ट आइस्टीन के विचार भी देखिये—"जीवन का जो उद्देश्य मेरे सामने हमेशा चमकता रहा है, और जिसने मुझे आनन्द पहुँचाया है, वह है—भलाई, सौन्दर्य और सत्य ! सुख-सुविधा को जीवन का लक्ष्य माना जाय, यह बात मुझे कभी नही रुची। इस बुनियाद पर जो आचार और नीति गढी जायगी, वह केवल जानवरो के झुण्ड के लिए काफी होगी। ।"

आधुनिक युग के दार्शनिक और वैज्ञानिक जीवन के इस शाश्वत सत्य विन्दु पर समान रूप से आ रहे हैं कि जीवन का लक्ष्य—सुख-सुविधा नही, भौतिक ऐश्वर्य और बाह्य समृद्धि नही। जीवन मे आन्तरिक सौन्दर्य जगना चाहिये, समृद्धि और ऐश्वर्य का स्रोत भीतर से फूटना चाहिये—तभी जीवन मे आनन्द, अभय एव प्रेम की धारा प्रवाहित हो सकेगी।

आज हमारा दृष्टि-विन्दु भौतिक ऐश्वर्य पर केन्द्रित हो गया है और उसी परिधि मे वन्द होकर हम जीवन की समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु दुर्भाग्य है कि समस्याएं और उलझती जा रही हैं। समस्याओ को

देखने का दृष्टिकोण जब तक स्वस्थ नही होगा, समस्या कैसे सुलझ सकेगी ? प्रसिद्ध विचारक जैनेन्द्रकुमार के शब्दो मे—"समस्या रहने-खाने-पहनने की नही है, इन्सान के लिए इन्सान होने की है।" और यह इन्सानियत की समस्या इन्सानियत के दृष्टिकोण से ही सुलझाई जा सकेगी।

मानव जब अपने मानवीय आदर्शों की विवेचना करेगा, जीवन के सही उद्देश्यो और जीने के सही तरीको पर सोचेगा, तो उसका हृदय अपने आप पुकार उठेगा—मैं आज तक भटक गया था, मेरे जीवन का लक्ष्य कुछ और है, सिद्धान्त कुछ और हैं, और तरीके कुछ और हैं, और वे सिद्धान्त एव तरीके ऐसे है, जिनसे स्वय वह भी आनन्द और अभय की प्राप्ति कर सकता है, अपनी सुख-समृद्धि एव उन्नति के साथ-साथ परिवार, समाज एव राष्ट्र की उन्नति मे भी सहयोगी बन सकता है।

आज के मानव के समक्ष बहुत बडे धर्मग्रन्थो की जरूरत नही, बस ऐसे ही जीवन-सूत्रो की आवश्यकता है, जो उसके दिग्मूढ एव दिशाहीन अन्त.करण को प्रकाश-किरण बनकर जगमगादे और उसे अपना जीवन-पथ स्पष्ट दीखने लगे।

आज से लगभग हजार वर्ष पूर्व महान जैन आचार्य हेमचन्द्र ने सम्राट् कुमारपाल के आग्रह से लोक-जीवन को धर्म एव नीति की सही शिक्षा देने वाले कुछ जीवन-सूत्रो की रचना की थी। गृहस्थ-जीवन मे धर्म की पृष्ठभूमि कैसे तैयार हो सकती है, और एक सद्गृहस्थ धार्मिक, सामाजिक, नैतिक एव राष्ट्रीय कर्त्तव्यो को एक साथ कैसे पूरा कर सकता है, इस विषय मे आचार्य श्री का यह दिशादर्शन महत्त्वपूर्ण है। निवृत्तिप्रधान जैनधर्म मे प्रवृत्ति की भी कितनी गुन्जायश है, और वह सद्प्रवृत्तियो मे किस प्रकार प्रोत्साहन एव मार्ग-दर्शन करता है, इसकी भी एक स्पष्ट झांकी मार्गानुसारी के पैंतीस बोलों मे—अर्थात् इन साधना-सूत्रो में मिल जाती है।

महान् श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु के शब्दो मे कहूँ तो समस्त जैन वाङ्मय का सार—सद्प्रवृत्ति है—सारो परूवणाए चरणं[1]—प्ररूपणा (जिन प्रवचन) का सार है आचार। भावना की पवित्रता, उद्देश्य की उच्चता और प्रवृत्ति की निर्दोषता—बस इन्ही तीन सूत्रो मे समस्त जैनदर्शन का सार समाया है, और यही हमारी आध्यात्मिकता का मूल आधार है।

---

१ आचाराग निर्युक्ति १७

मूल जैन-आगमो मे गृहस्थ-धर्म का वर्णन जरूर आता है, उसके पवित्र उद्देश्यो और निर्दोष-प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे स्थान-स्थान पर बिखरे हुए विचार-सूत्र भी मिलते हैं। उपासकदशा मे श्रावक के बारह व्रतो का विशद विवेचन भी उपलब्ध है। किन्तु सचाई यह है कि वह सब वर्णन एक तो बहुत नियमोप-नियमो से आबद्ध है, फिर उसका मुख्य दृष्टि-बिन्दु गृहस्थ-जीवन को अधिक से अधिक त्यागमय बनाना है। सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन की समस्याओ के साथ जूझते हुए गृहस्थ के लिए वे साधना-मार्ग कुछ कठिन एव कष्टसाध्य होते हैं। सम्भवत इसी प्रकार की विचारधारा से उत्प्रेरित हो, छठी सदी के महान आचार्य हरिभद्र ने अपने धर्मबिन्दु प्रकरण मे 'गृहस्थ धर्म' को कुछ व्यापक एव सरल रूप मे प्रस्तुत करने के लिए—'मार्गानुसारी के पैंतीस बोल' का सर्वप्रथम वर्णन किया है। उन्ही सूत्रो पर पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने टीका एव भाष्य करके उन्हे और अधिक जन-जीवनोपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। आचार्य हरिभद्र के उन सूत्रो की जनप्रियता इतनी बढी कि कई आचार्यो ने उनके आधार पर श्रावक के अलग-अलग आदर्शों की नई सूचियाँ भी तैयार कर दी। दिगम्बरग्रन्थ 'सागारधर्मामृत' मे भी उसका प्रतिबिम्ब स्पष्ट झलकता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने गृहस्थधर्म के उन्हीं पैंतीसबोलो को योगशास्त्र मे व्यवस्थित रूप देकर उन पर सुन्दर भाष्य भी किया है। वे पैंतीस बोल एक से एक अधिक उपयोगी, जीवन को नैतिक एव सास्कृतिक सौन्दर्य से मण्डित करने वाले हैं। मेरा तो विश्वास है कि यदि हमारे जीवन मे इन आदर्शों के प्रति निष्ठा और आचरण बढे तो हम और हमारी भावी पीढी एक आदर्श नागरिक के रूप मे देश का गौरव बढा सकते हैं।

प्रस्तुत मे गृहस्थधर्म के इन्ही साधना सूत्रो पर प० रत्न श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' के विवेचन एव चिन्तनपूर्ण प्रवचन हैं। मुनिश्री स्थानकवासी जैन परम्परा के दिव्यरत्न हैं। विद्वत्ता और विनम्रता एक साथ दुर्लभ मानी जाती है, किन्तु मैंने श्री मधुकर मुनिजी मे इसे 'सुलभ' होते देखा है। उनका हृदय बालक-सा सरल और सन्त-सा करुणाशील है। उनकी वाणी, जैसा 'मिश्री' नाम है वैसी ही वजनदार और मधुर है। वे अध्ययनशील एव विचारशील प्रवक्ता हैं। प्रस्तुत प्रवचनो को पढने वाला पाठक उनकी बहुश्रुतता, चिन्तन-शीलता एव स्पष्टवादिता से साक्षात्कार कर सकेगा, और जीवन की सही दृष्टि ही नही, किन्तु जीवन का सम्पूर्ण शास्त्र भी प्राप्त कर सकेगा।

गत वर्ष जब मुनिश्री का अजमेर मे चातुर्मास था, तो इन प्रवचनो से वहाँ की जनता को लाभ मिला था। प्रवचन तात्कालिक होते हैं, किन्तु उनको 'साहित्य' का रूप मिल जाने पर उनका स्थायी लाभ भी होता है, और दूर-दूर की जनता उनसे लाभान्वित हो सकती है। इसी दृष्टि से मुनिश्रीजी ने मुझ पर अनुग्रह किया और इनके सम्पादन का दायित्व मुझे सौंपा। यह सम्पादन बहुत पहले ही तैयार होकर प्रकाश मे आ जाना चाहिए था, किन्तु कुछ तो 'सम्पादक' होने के नाते, कुछ वैसे ही अन्य आवश्यक कार्य भी बीच-बीच मे आते गये और उन्हे भी सम्पन्न करना अनिवार्य-सा था, इस कारण प्रवचनो के सम्पादन मे अनपेक्षित-सा विलम्ब हो गया। इस विलम्ब के कारण सामग्री मे कुछ नवीनता एव रोचकता भी आ सकी है, अत. अपने प्रिय पाठको से क्षमा मांगने के बजाय यह उन्हे ही सविनय समर्पित कर देता हूँ, मूल्यांकन के लिए और जीवन मे नई प्रेरणा के लिए··· ··

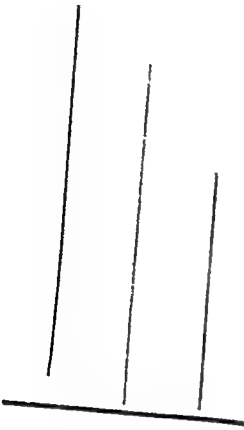
नव वर्ष

१–१–७१ —श्रीचन्द सुराना 'सरस'

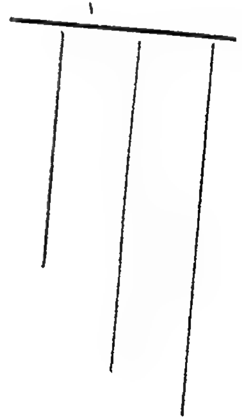
आगरा

अनुक्रमणिका





अहिंसा के सूत्र



मूल स्रोत

न्यायसम्पन्नविभव· शिष्टाचारप्रशसक ।
कुलशीलसमैं सार्द्धं कृतोद्वाहोन्यगोत्रजैं. ॥ १ ॥

पापभीरु प्रसिद्ध च देशाचारसमाचरन् ।
अवर्णवादी न क्वापि राजादिषु विशेपतः ॥ २ ॥

अनतिव्यक्तगुप्ते च स्थाने सुप्रातिवेश्मके ।
अनेकनिर्गम - द्वार-विर्वजित - निकेतनः ॥ ३ ॥

कृतसग - सदाचारै - र्मातापित्रोश्च पूजक ।
त्यजन्नुपप्लुत स्थानमप्रवृत्तश्च गर्हिते ॥ ४ ॥

व्ययमायोचितं कुर्वन् वेष वित्तानुसारत· ।
अष्टभिर्धिगुणैर्युक्त· शृण्वानो धर्ममन्वहम् ॥ ५ ॥

अजीर्ण भोजनत्यागी काले भोक्ता च साम्यत· ।
अन्योऽन्याऽप्रतिवधेन त्रिवर्गमपि साधयन् ॥ ६ ॥

यथावदतिथौ साधौ दीनेच प्रतिपत्तिकृत् ।
सदानभिनिविष्टश्च पक्षपाती गुणेपु च ॥ ७ ॥

अदेशाकालयोश्चर्यां त्यजन् जानन् वलावलम् ।
व्रतस्थ-ज्ञानवृद्धाना पूजक पोष्यपोपक· ॥ ८ ॥

दीर्घदर्शी विशेपज्ञ. कृतज्ञो लोकवल्लभ· ।
सलज्ज· सदय· सौम्यः परोपकृति-कर्मठ ॥ ९ ॥

अंतरगारिपड्वर्ग-परिहार - परायण. ।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो गृही धर्माय कल्पते ॥१०॥

—योगशास्त्र १।४७—५६

१

गृहस्थधर्म की पृष्ठभूमि

वधुओ ! आज आपके समक्ष मैं गृहस्थधर्म के सम्वन्ध मे वर्णन करने का सकल्प लेकर आया हूँ। वस्तु-वर्णन से पूर्व उसकी पृष्ठभूमि को कुछ स्पष्ट करदूं तो सभवत आप अधिक सरलता से उसे ग्रहण कर सकेंगे।

विक्रम की वारहवी शताब्दी मे जैन-परम्परा मे एक महान् प्रभावक आचार्य हुए है—श्री हेमचन्द्र। दर्शन, न्याय, व्याकरण, साहित्य, काव्य, इतिहास आदि का ऐसा कोई भी विषय नही रहा, जिस पर आचार्यश्री ने अपनी ओजस्विनी लेखनी नही चलाई हो। उनकी अद्भुत प्रतिभा और बुद्धिवल के समक्ष भारत का समस्त विद्वद्-मडल विनत हो चुका था। सम्राट कुमारपाल ने इसीलिए उन्हे 'कलिकाल सर्वज्ञ' का विरुद भी दिया था। हाँ तो, ऐसे महान् प्रतिभाशाली आचार्य की एक रचना है—'योगशास्त्र'। योगशास्त्र मे योग के विविध अगो का वर्णन करते हुए गृहस्थधर्म की सुन्दर विवेचना की गई है। जीवन की साधना के कुछ ऐसे अमोघ मार्ग वताये गये हैं कि जिन पर चलकर कोई भी साधक लघु से महान् वन सकता है, क्षुद्र से विराट् वन सकता है और जीवन की अनन्त दिव्यता का वरण कर सकता है। उस धर्म का एक-एक सूत्र इतना व्यापक है कि स्त्री हो या पुरुष, जैन हो या अजैन, मानव मात्र उसका आचरण कर सकता है और सहज इतना है कि आचरण करते-करते स्वभाव वन जाता है, ऐसा लगता भी नही कि किसी विशेष धर्म की साधना कर रहे हैं। आप चाहेगे कि ऐसा सहज, सरल एव व्यापक धर्म तो अवश्य ही सुनें, उस पर चिन्तन करें और जीवन मे उतारें। इसी विश्वास के साथ आपके समक्ष यह विवेचन प्रारम्भ किया जा रहा है।

धर्म का अधिकारी कौन ?

धर्म का विस्तार एव विवेचन करने से पूर्व एक वात और समझ लेनी है और वह है कि जिस धर्म का हम वर्णन कर रहे हैं, उस धर्म का अधिकारी कौन है ? अधिकारी से हमारा अभिप्राय योग्यता से है, पात्रता से है। किसी भी वस्तु को प्राप्त करने के पूर्व उसके योग्य वना जाता है। वस्तु को धारण करने की योग्यता नही हो, और हठात् उसे धारण करने का अभिनय किया जाता हो, तो उससे वस्तु एव व्यक्ति दोनो का ही अनिष्ट हो जाता है। कच्चे घड़े मे यदि अमृत भर दिया जाये तो घडा भी नष्ट हो जाता है और अमृत भी—"आमकुम्भा इव वारिगर्भा ।" आप लोग यह भी कहते हैं—सिंहनी का दूध सोने के पात्र मे ही टिकता है। इन सव वातो का अर्थ है कि वस्तु और पात्र दोनो ही श्रेष्ठ होने चाहिए। योग्य मे योग्य का आधान ही सुन्दर एव श्रेष्ठ होता है—"चकास्ति योग्येन हि योग्य-सगमः ।[1]

किसी कुशल चित्रकार से यदि आप कहे कि इस गारे की दीवार पर अपनी कला का चमत्कार दिखलाइए तो यह कैसी वात होगी ? वह क्या कहेगा ?—'वघु ! पहले दीवार अच्छी, साफ और चिकनी वनाइए, अच्छी दीवार पर ही अच्छे चित्र अंकित किये जा सकते हैं।' आप यह भी जानते हैं कि किसान अच्छी से अच्छी किस्म के वीज ले जाकर यो ही खेत मे नही डाल देता। जो चतुर और मेहनती किसान होता है वह पहले भूमि को तैयार करता है। अनेक उपायो से जव भूमि फसल वोने योग्य हो जाती है तव वह उसमे वीज डालता है। मतलव यह कि अच्छी भूमि मे ही अच्छी फसल पैदा हो सकती है। इन व्यावहारिक वातो से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वस्तु को धारण करने के लिए तदनुकूल योग्यता भी प्राप्त करनी चाहिए। तो प्रश्न होता है कि धर्म को धारण करने के लिए फिर कैसी योग्यता प्राप्त करनी चाहिए ? मनुष्य धर्म का अधिकारी (पात्र) कव और कैसे वन सकता है ?

आज से लगभग पच्चीस सौ वर्ष पूर्व भगवान महावीर के समक्ष एक वार यही प्रश्न उपस्थित हुआ था। इसके उत्तर मे कहा गया—'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ'[2]—धर्म शुद्ध हृदय मे ठहरता है। इस छोटे से पद मे जो वात कही गई है, उसका विस्तार लाखो पदो मे हो सकता है। मैं तो समझता हूँ सपूर्ण जिनप्रवचन का सार इस एक पद मे समाविष्ट हो गया है—"पवित्र हृदय ही धर्म का आधार है।"

पवित्र हृदय

जब तक हृदय पवित्र नही होता, तब तक जीवन मे पवित्रता कैसे आयेगी ? और जब तक जीवन मे पवित्रता नही आई, तब तक धर्म का आचरण कैसा ? मलिन एव अपवित्र हृदय से किये गये हजारो क्रिया-काण्ड, लाखो सामायिक एव प्रार्थनाएँ, जप-तप सभी बेकार हैं—भस्मनि हुतं—अर्थात् राख में घी डालने जैसा है । घर के एक कौने मे यदि गन्दगी का ढेर पडा सड रहा है, तो वहाँ चाहे जितनी अगरबत्तियाँ जला दीजिए, सुगन्धि महक नहीं सकती, बदबू ढक नही सकती । यही स्थिति जीवन की है, यदि मन मे, जीवन मे मलिनता है, अशुद्धि एव अपवित्रता है तो पहली बात तो धर्म उस जीवन को स्पर्श कर ही नही सकता । और यदि कोई धर्म का दिखावा करने का प्रयत्न भी करे तो उस जीवन मे धर्म का तेज तो प्रकट ही नही हो सकता। मन की अपवित्रता धर्म की तेजस्विता को दबा देती है, धर्म की असलियत को छुपा देती है ।

हाँ, तो मैं आपसे कह रहा था कि आचार्य हेमचन्द्रजी ने गृहस्थ जीवन के जिन सद्‌गुणो का वर्णन किया है, वे वस्तुत जीवन-भूमि को धर्म के योग्य बनाने वाले सद्‌गुण हैं । उन सद्‌गुणो के आचरण से मन और जीवन पवित्र एव विशुद्ध बन सकता है, मन का बर्तन मंजकर उज्ज्वल हो सकता है, जीवन की चादर धुलकर पवित्र हो सकती है । वे ऐसे सर्व-सामान्य गुण हैं कि उनके अभाव मे धर्म नही टिक सकता । उनका विकास हुए बिना धर्म का विकास नही हो सकता । वे गुण जीवन की भूमि को तैयार करने वाले हैं, यदि भूमि तैयार हो गई तो फिर धर्म की फुलवारी खिलने मे कोई कठिनाई नही होगी । अणुव्रत और महाव्रत रूप धर्म की पृष्ठभूमि इन्ही सद्‌गुणो के आधार पर तैयार हो सकती है । इसलिए मैं चाहता हूँ कि चतुर किसान की भाँति आप अपने जीवन की भूमि को धर्म की खेती के योग्य बनालें, तो धर्म के बीज अपने आप इस खेती मे पल्लवित-पुष्पित होने लग जायेंगे ।

आत्मा की श्रेणियाँ

हमारे धर्मशास्त्र एव आचारशास्त्र के समस्त चिंतन का आधार आत्मा है, इसलिए अच्छा हो कि आत्मा के सम्बन्ध मे भी कुछ आवश्यक बातें समझ ली जायँ । फिर धर्म की चर्चा करने मे सुविधा होगी ।

चैतन्य सत्ता को 'आत्मा' कहा गया है, वह ज्ञानमय है । जब तक वह अशुद्ध दशा मे वर्तता है, विभाव स्थिति मे रहता है, वह 'आत्मा' या ससारी आत्मा कहलाता है, और जब परम शुद्ध दशा को प्राप्त कर स्वभाव मे स्थित हो

जाता है तो वह चैतन्य सत्ता 'परमात्मा' कहलाती है। परमात्मा, सिद्ध, ईश्वर सभी पर्यायवाची नाम हैं। परमात्म-दशा का स्वरूप यद्यपि युक्ति-युक्त है, पर तर्कगम्य नही है, चूंकि वह एक अनुभवगम्य दशा है। आत्मा की परम विशुद्ध, सर्वथा निरपेक्ष स्थिति है, जिसका वर्णन तर्क, शब्द एव युक्तियो से नही किया जा सकता। सर्वज्ञ स्वय उस दशा का अनुभव करते हुए भी शब्दो द्वारा व्यक्त नहीं कर सके और इसीलिए कहना पडा—"तक्का जत्थ न विज्जई, मइ तत्थ न गाहिया"[1] तर्क उस दशा का वर्णन नही कर सकता, मति उसका अनुभव ग्रहण नही कर सकती। उपनिषद् मे आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी लम्बी-चौडी चर्चा के बाद आखिर यही कहा गया—'नैषा तर्केण मतिरापनेया'[2] तर्क के द्वारा बुद्धि की समझ मे आने का यह विषय नही है। हाँ, तो जब बुद्धि से अगम्य विषय है, तो इसके अधिक विस्तार मे जाने से क्या लाभ? इसलिए हम परमात्मा के सम्बन्ध मे अधिक चर्चा न करके आत्मा के सम्बन्ध मे ही चर्चा करेंगे। आत्मा को ही परमात्मा बनना है, इसलिए आत्मा से परमात्मा तक पहुंचने के मार्ग की जानकारी हमारे लिए वाञ्छनीय है।

आत्मा की विभिन्न दशाओ को समझने के लिए शास्त्र मे पांच श्रेणियाँ बताई गई हैं।

१ प्रसुप्त आत्मा
२ सुप्त आत्मा
३ जागृत आत्मा
४ उत्थित आत्मा
५ समुत्थित आत्मा

१ **प्रसुप्त आत्मा**—वह आत्मा है जो गाढ निद्रा मे सोया हुआ है। उसकी नीद कभी टूटती नही, मोहनिद्रा के वश निरतर ससार मे परिभ्रमण करता रहता है। इसके कर्मों का उपशम तथा क्षयोपशम तो हो सकता है, किंतु क्षय कभी नही हो सकता। कर्मों का क्षय हुए विना बधन-मुक्ति नहीं हो सकती और बन्धन-मुक्ति हुए विना कभी निर्वाण नही हो सकता। आत्मा मे निर्वाण की योग्यता होते हुए भी उसकी मोहनिद्रा इतनी प्रगाढ होती है कि उस योग्यता को विकसित करने का अवसर कभी प्राप्त नही हो सकता। प्रसुप्त आत्मा की इस स्थिति को व्यवहार भाषा मे—'अभव्यदशा' कहा जाता है। अभव्य आत्मा—कठोर से कठोर आचार क्रिया करके ऊँची

से ऊँची पुण्य प्रकृति को भोग सकता है, देवलोक मे भी जा सकता है, किन्तु घने मोह के कारण उसका धार्मिक विश्वास कभी भी सुस्थिर एव पवित्र नही हो सकता, इसी कारण वह कभी मोक्ष प्राप्त नही कर सकता।

२. **सुप्त आत्मा**—मोहनिद्रा का गाढ आवरण इस पर नही होता, फिर भी एक प्रकार की तन्द्रा, सुषुप्ति जैसी स्थिति मे यह आत्मा रहता है। उसके ज्ञानचक्षु खुल नही पाते और सत्य का दर्शन भी नही कर पाता। आत्मा की यह प्रथम गुणस्थान की स्थिति है। इस स्थिति मे तत्त्व के प्रति जिज्ञासा, सत्य को समझने की भावना जागृत हो सकती है, किन्तु सम्यक्‌बोध और यथार्थ दृष्टि के अभाव मे वह सत्य के स्वरूप पर आस्था नही कर सकता।

३. **जागृत आत्मा**—आत्मा की यह तीसरी दशा है। जब सत्य का सवेरा होता है, ज्ञान का सूर्य उदय होता है, तब आत्मा अपने स्वरूप का बोध प्राप्त करके जाग उठता है। अनन्त-अनन्त काल से चढी हुई मिथ्यात्व की परतें टूट जाती हैं, सशय एव अज्ञान की ग्रथियाँ खुल जाती है, एक अभूतपूर्व प्रकाश जगमगा उठता है, जीवन मे सत्य की ज्योति फैल जाती है। जैन परिभाषा मे इस स्थिति को चतुर्थ गुणस्थान-दशा कही जा सकती है, जब आत्मा ग्रन्थि भेद करके अपूर्वकरण का अनुभव करता है। उपनिषद् मे इस स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है—

> **भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशया.।**
> **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥**[१]

आत्म देव का दर्शन होने पर हृदय की सब ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं, और सब सशय समूल क्षीण हो जाते हैं। आत्मानुभव के साथ अपूर्व प्रसन्नता उमड पडती है।

जागृत अवस्था की यह दशा जितनी आनन्ददायी है, उतनी ही सावधानी से आगे बढने की अपेक्षा भी रखती है। जो आत्मा आज तक अधकार मे भटकता रहा, अज्ञान की ठोकरें खाता रहा, वह जब आत्म-ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करता है, सम्यक्त्व का अधिकारी बनता है तो उसे आगे पुरुषार्थ एव पराक्रम करने की अपेक्षा रहती है, ताकि उसका वह सम्यक्त्व सूर्य पुन मिथ्यात्व के बादलो की ओट मे नही छुप सके।

---

१ मुण्डक उपनिषद् २।२।८

चन्द्रमा को देखने वाला कछुआ

बहुत बार ऐसा भी होता है कि मनुष्य जाग तो जाता है, किन्तु आलस नही टूटता, और वह पुन सो जाता है। अधकार मे भटकता हुआ प्रकाश के किनारे तक पहुँचता है, अपूर्व प्रकाश का दर्शन करके मचल उठता है, किन्तु पुन. उस अधकार मे खो जाता है। ज्ञातासूत्र मे एक कछुए की कहानी आती है, जो इस विषय को बहुत स्पष्टता से समझा सकती है।

एक बहुत बडा तालाब था। तालाब के पानी पर चारो ओर बहुत घनी काई छाई हुई थी। काई की परतें इतनी घनी थी कि उस जल के भीतर रहने वाले हजारो जीव जन्तुओ ने कभी तालाब के बाहर का किनारा भी नही देखा। उनके लिए ससार उतना ही बडा था जितने मे वे रहते थे।

एक बार कोई एक कछुआ तालाब मे भ्रमण करता हुआ एक ओर पहुँचा जहाँ हवा के झोको से काई मे एक छिद्र हो गया था। छिद्र मे से प्रकाश छनकर आ रहा था, कछुए ने आश्चर्य के साथ छेद मे से बाहर गर्दन निकाल कर देखा तो उसे एक नई दुनिया दिखाई पडी! पूर्णिमा की रात, नीले आकाश मे चन्द्रमा विहँस रहा है, शीतल चाँदनी छितरा रही है, सामने वृक्षो की सुन्दर कतारें खडी है जिन पर चन्द्रमा की श्वेत किरणें छिटक रही हैं। रात इतनी सुहावनी लग रही थी कि कछुआ देखता ही रहा गया। उसने सोचा—"जीवन मे आज पहली बार इतनी सुन्दर दुनिया के दर्शन किये हैं? हमारी दुनिया तो बहुत छोटी है, उसमे कहाँ इतनी सुन्दरता! कहाँ इतना सुहावना प्रकाश! क्यो न मैं अपने बन्धुजनो को लाकर इस अपूर्व दुनिया का दर्शन कराऊँ! ऐसा न हो कि मैं अकेला ही आनन्द ले लूँ, और परिवार वाले सब वचित रह जाएँ।"

कछुआ अपने मित्रो और बन्धुओ के पास आया। बोला—"तुम किस छोटी-सी दुनिया मे बैठे हुए हो? आज मैंने इतनी सुन्दर और इतनी विशाल दुनिया के दर्शन किये कि बस क्या कहना! तुम लोग चलो, मैं तुम्हे नई दुनिया दिखाऊँ।"

बहुत से बूढ़े कछुए इस नौजवान कछुए की बात पर हँसे। बोले—"कहाँ की गप्प मार रहा है, हमने आज तक इस दुनिया से अच्छी और कोई दुनिया नही देखी, तू कहाँ से देख आया? कही भटका देगा सबको।"

कछुए ने उन्हे बहुत तरह से समझाया—आखिर उसके कुछ साथी कुतूहल वश उसके साथ हुए और बोले—"चल, दिखला तेरी नई दुनिया कहाँ है?"

इधर काई मे जो छिद्र हुआ था वह हवा के झोंके से पुन ढक गया था, अब कछुआ अपने बन्धु एव साथियो को साथ लिए इधर-उधर भटकने लगा, पर कही भी वह छिद्र दिखाई नही दिया। उसके साथी हँस रहे थे—"कहाँ चली गई तेरी दुनिया ? हम पहले ही कहते थे—अपनी दुनिया से अच्छी और कोई दुनिया है ही नही। तूने कोई स्वप्न देखा होगा और भटक गया उसमे ?"

कछुआ हैरान था, अभी-अभी उसने इतना मधुर, शीतल, शात प्रकाश देखा था। सुहावनी वृक्षावली एव सुरम्य वनराजि देखी थी। अब वे सब कहाँ चली गई ? बार-बार पछताने पर भी उसे पुन वह प्रकाश दिखाई नही दिया और वह उसी अँधेरी दुनिया मे खो गया।

भगवान महावीर ने इस रूपक के माध्यम से जागृत आत्मा की स्थिति का निदर्शन दिया है। कुछ आत्मा जो एक बार, पहली बार अपूर्व प्रकाश के दर्शन पाकर आनन्द-विह्वल हो उठती हैं, वे अपने पूर्व-परिचितो, मित्रो एव स्वजनो के स्नेहानुबन्धन के कारण उन्हे भी इस प्रकाश का दर्शन कराने को उतावली हो जाती है। उनकी भावना बुरी नही है, किन्तु स्वय उनकी स्थिति इतनी सुदृढ नही है कि वे अन्धकार से लौटकर पुन उस प्रकाश को प्राप्त कर सकें। वे पुन. अन्धकार मे ही भटक जाती है। इसलिए कहा है—जागृत हो गये हो, तो पुन सोओ मत, सुस्ता के मत बैठो, खडे हो जाओ ! मजिल पाने के लिए आगे चल पडो ! ऐतरेय ब्राह्मण[1] मे एक जगह कहा गया है—

कलि शयानो भवति सजिहानस्तु द्वापर।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सपद्यते चरन्॥
चरैवेति, चरैवेति॥

सोने वाले का भाग्य भी सोया रहता है, वह कलि के समान है, नीद त्याग कर जो जाग गया है लेकिन जमाई लेता हुआ बैठा है, उसका भाग्य भी बैठा रहता है, वह द्वापर के तुल्य है। जो उठकर खडा हो गया है, समझ लो उसका भाग्य भी खड़ा हो गया है, उसके लिए त्रेता युग आ गया है और जो चल पडा है, उसका सौभाग्य भी उसके आगे-आगे चलता रहता है, उसके लिए सर्वत्र ही सतयुग है।

हम जिस जागृत आत्मा की बात कर रहे हैं, वह तो प्रगति की प्रथम सोपान है, क्योकि जागे बिना आगे गति नही हो सकती, अत जागना तो सबसे

---

१ ऐतरेय ब्राह्मण ३।१।३,५

पहले आवश्यक है। आचार्य सघदासगणी ने जागृति का सदेश देते हुए कहा है—

> जागरह ! णरा णिच्च
> जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी ।[१]

मनुष्यो ! जागो ! निद्रा का त्याग करो ! जो जागता है उसकी वुद्धि भी जागती है, उसके विकास की अनन्त सम्भावनाएँ सामने खडी रहती है। अपने राजस्थानी मे भी कहा जाता है—**सोवँ सो खोवँ, जागँ सो पावँ**। तो आत्मा की यह तृतीय दशा है—जागृत आत्मा।

४. **उत्थित आत्मा**—जागने के वाद का सदेश है, उठो ! आलस्य त्यागो ! प्रमाद छोडो !—**उट्ठिए नो पमायए**।[२] जिस अपूर्व प्रकाश का दर्शन मिला है, जिस दुर्लभ सम्यक्त्व का स्पर्श पाया है, उसे अव आत्मसात् करलो, पुरुषार्थ करके उस मार्ग पर डट जाओ ! उत्थित आत्मा की यह स्थिति पाँचवें गुणस्थान की स्थिति है। इस स्थिति मे आत्मा जागृत होने के वाद धर्माचरण की ओर वढ जाता है। धर्म की ओर उसकी यह गति, यह पराक्रम ही श्रावक धर्म या गृहस्थ धर्म कहलाता है। इस दृष्टि से श्रावक को 'उत्थित आत्मा' कहा जाता है।

५ **समुत्थित आत्मा**—आत्मा की यह पाँचवी श्रेणी सवसे श्रेष्ठ श्रेणी है। समुत्थित का भावार्थ है—सम्यक् प्रकार से खडा होकर चल पडना। जागृत आत्मा अपने लक्ष्य का निर्णय करके उस ओर चल पड़ने का सकल्प करता है, मार्ग पर कदम वढाने की तैयारी करता है, और फिर अपने आपको साधकर वज्र सकल्प के साथ उस महापथ पर चल पडता है। यह छठे गुणस्थान की भूमिका है। इस भूमिका पर साधक जव पहुँचता है तो उसका विश्वास अत्यन्त दृढ होता है, लक्ष्य, दृष्टि विल्कुल स्पष्ट और स्थिर होती है, उसके संकल्पो मे वज्र से भी अधिक कठोरता, मेरु से भी अधिक निश्चलता रहती है। इस प्रकार की समुत्थित आत्मा को जो अपने महापथ पर चल पडी है—वीर कहा गया है—'पणया वीरा महावीहिं।[3]

उपदेश किसके लिए ?

आत्मा की इन पाँच श्रेणियो को समझने के वाद आप यह जान पायेंगे कि हमारा उपदेश का उपक्रम किस आत्मा के लिए है। समुत्थित आत्मा के

---

१. बृहत्कल्पभाष्य २ आचारांग १।५।२ ३. आचारांग।

लिए तो उपदेश की कोई आवश्यकता नही, वह इस भूमिका से आगे बढ गया है। चलते हुए को 'चल-चल' कहना कोई अर्थ नही रखता। प्रसुप्त और सुप्त आत्मा के लिए भी यह उपक्रम नही है। चूंकि जो अभी सोया है, उसे चलने का रास्ता बताना निरर्थक है। जो जाग के बैठा है, उसे भी रास्ता बताने से पूर्व चलने के लिए तैयार करने की आवश्यकता है। मार्ग पर चलने का सकल्प यदि उसमे जाग जाता है, वह यात्रा के लिए प्रस्तुत—उत्थित हो जाता है तब उसे मार्ग दिखाया जायेगा। अत तीसरी श्रेणी के लिए भी इस उपक्रम की उपयोगिता नही है। अत यह माना गया कि यह सब उपदेश, गृहस्थधर्म की शिक्षा, नियम व विधान, उत्थित आत्मा के लिए हैं। जो गृहस्थ है, श्रावक है उसके लिए ही आचार्य ने इन सद्‌गुणो का उपदेश किया है, उसके जीवन को आदर्श एव दिव्य बनाने के लिए इन विशेष गुणो पर बल दिया है। अब अधिक विस्तार मे नही जाकर हमे गृहस्थधर्म पर ही विशेष चर्चा करनी है।

गृहस्थ बनाम सद्‌गृहस्थ

मैं समझता हूँ गृहस्थ की परिभाषा बताने की कोई आवश्यकता आज नही है। सामान्यत गृहस्थ का अर्थ है घर में रहने वाला। गहराई मे जाएँ तो 'गृह' की भी अनेक परिभाषाएँ मिलेंगी। केवल ईंट, पत्थर व चूने के ढेर को ही घर नही कहा जाता है, **न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते**—जिसमे गृहिणी, पुत्र आदि परिवार बसता हो, वही वस्तुत गृह है। अस्तु, सामान्य बात यह है कि घर मे रहने वाला व्यक्ति गृहस्थ कहलाता है, वह कैसा ही आचार-व्यवहार रखता हो, किसी भी प्रकार जीवन-यापन करता हो वह गृहस्थ जरूर है। किन्तु यह जरूरी नही कि घर मे रहने वाला 'गृहस्थ' सद्‌गृहस्थ ही हो। **गृहस्थ होना एक स्थिति है, सद्‌गृहस्थ बनना एक गुण है।** गृहस्थ जीवन मे जब विशेष सद्‌गुणो का विकास होता है, उदात्त भावनाएँ और उच्च सकल्प जागृत होते हैं तब गृहस्थ 'सद्‌गृहस्थ' की कोटि मे आता है। हमारा यह धर्म, आचारशास्त्र, विधि-नियम, गृहस्थ को सद्‌गृहस्थ बनाने की एक योजना है, एक प्रक्रिया है।

धर्म क्या है ?

प्रश्न होता है, फिर वह धर्म क्या है, जिसके आचरण से गृहस्थ सद्‌गृहस्थ बन सके ? जो केवल नाम का श्रावक (धर्म को सुनने वाला) है वह सच्चा श्रावक (धर्म का अधिकारी) बन सके।

धर्म के दो रूप हैं—निश्चय और व्यवहार। निश्चय दृष्टि से आत्मा

पहले आवश्यक है। आचार्य सघदासगणी ने जागृति का सदेश देते हुए कहा है—

जागरह ! णरा णिच्च
जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी ।[१]

मनुष्यो ! जागो ! निद्रा का त्याग करो ! जो जागता है उसकी बुद्धि भी जागती है, उसके विकास की अनन्त सम्भावनाएँ सामने खडी रहती हैं। अपने राजस्थानी मे भी कहा जाता है—**सोवै सो खोवै, जागै सो पावै**। तो आत्मा की यह तृतीय दशा है—जागृत आत्मा।

४. **उत्थित आत्मा**—जागने के बाद का सदेश है, उठो ! आलस्य त्यागो ! प्रमाद छोडो !—**उट्ठिए नो पमायए**।[२] जिस अपूर्व प्रकाश का दर्शन मिला है, जिस दुर्लभ सम्यक्त्व का स्पर्श पाया है, उसे अब आत्मसात् करलो, पुरुषार्थ करके उस मार्ग पर डट जाओ ! उत्थित आत्मा की यह स्थिति पाँचवें गुणस्थान की स्थिति है। इस स्थिति मे आत्मा जागृत होने के बाद धर्माचरण की ओर बढ जाता है। धर्म की ओर उसकी यह गति, यह पराक्रम ही श्रावक धर्म या गृहस्थ धर्म कहलाता है। इस दृष्टि से श्रावक को 'उत्थित आत्मा' कहा जाता है।

५ **समुत्थित आत्मा**—आत्मा की यह पाँचवी श्रेणी सबसे श्रेष्ठ श्रेणी है। समुत्थित का भावार्थ है—सम्यक् प्रकार से खडा होकर चल पडना। जागृत आत्मा अपने लक्ष्य का निर्णय करके उस ओर चल पडने का सकल्प करता है, मार्ग पर कदम बढाने की तैयारी करता है, और फिर अपने आपको साधकर वज्र सकल्प के साथ उस महापथ पर चल पडता है। यह छठे गुणस्थान की भूमिका है। इस भूमिका पर साधक जब पहुँचता है तो उसका विश्वास अत्यन्त दृढ होता है, लक्ष्य, दृष्टि बिल्कुल स्पष्ट और स्थिर होती है, उसके सकल्पो मे वज्र से भी अधिक कठोरता, मेरु से भी अधिक निश्चलता रहती है। इस प्रकार की समुत्थित आत्मा को जो अपने महापथ पर चल पडी है—वीर कहा गया है—'पणया वीरा महावीहिं।[3]

उपदेश किसके लिए ?

आत्मा की इन पाँच श्रेणियो को समझने के बाद आप यह जान पायेंगे कि हमारा उपदेश का उपक्रम किस आत्मा के लिए है। समुत्थित आत्मा के

---

१. बृहत्कल्पभाष्य २ आचाराग ११५।२ ३ आचाराग।

लिए तो उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं, वह इस भूमिका से आगे बढ गया है। चलते हुए को 'चल-चल' कहना कोई अर्थ नहीं रखता। प्रसुप्त और सुप्त आत्मा के लिए भी यह उपक्रम नही है। चूंकि जो अभी सोया है, उसे चलने का रास्ता बताना निरर्थक है। जो जाग के बैठा है, उसे भी रास्ता बताने से पूर्व चलने के लिए तैयार करने की आवश्यकता है। मार्ग पर चलने का सकल्प यदि उसमे जाग जाता है, वह यात्रा के लिए प्रस्तुत—उत्थित हो जाता है तब उसे मार्ग दिखाया जायेगा। अत तीसरी श्रेणी के लिए भी इस उपक्रम की उपयोगिता नहीं है। अत यह माना गया कि यह सब उपदेश, गृहस्थधर्म की शिक्षा, नियम व विधान, उत्थित आत्मा के लिए हैं। जो गृहस्थ है, श्रावक है उसके लिए ही आचार्य ने इन सद्गुणो का उपदेश किया है, उसके जीवन को आदर्श एव दिव्य बनाने के लिए इन विशेष गुणो पर बल दिया है। अब अधिक विस्तार में नही जाकर हमे गृहस्थधर्म पर ही विशेष चर्चा करनी है।

गृहस्थ बनाम सद्गृहस्थ

मैं समझता हूँ गृहस्थ की परिभाषा बताने की कोई आवश्यकता आज नही है। सामान्यत गृहस्थ का अर्थ है घर मे रहने वाला। गहराई मे जाएँ तो 'गृह' की भी अनेक परिभाषाएँ मिलेंगी। केवल ईंट, पत्थर व चूने के ढेर को ही घर नही कहा जाता है, न गृह गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते—जिसमे गृहिणी, पुत्र आदि परिवार बसता हो, वही वस्तुत गृह है। अस्तु, सामान्य बात यह है कि घर मे रहने वाला व्यक्ति गृहस्थ कहलाता है, वह कैसा ही आचार-व्यवहार रखता हो, किसी भी प्रकार जीवन-यापन करता हो वह गृहस्थ जरूर है। किन्तु यह जरूरी नही कि घर मे रहने वाला 'गृहस्थ' सद्गृहस्थ ही हो। **गृहस्थ होना एक स्थिति है, सद्गृहस्थ बनना एक गुण है।** गृहस्थ जीवन मे जब विशेष सद्गुणो का विकास होता है, उदात्त भावनाएँ और उच्च सकल्प जागृत होते हैं तब गृहस्थ 'सद्गृहस्थ' की कोटि मे आता है। हमारा यह धर्म, आचारशास्त्र, विधि-नियम, गृहस्थ को सद्गृहस्थ बनाने की एक योजना है, एक प्रक्रिया है।

धर्म क्या है ?

प्रश्न होता है, फिर वह धर्म क्या है, जिसके आचरण से गृहस्थ सद्गृहस्थ बन सके ? जो केवल नाम का श्रावक (धर्म को सुनने वाला) है वह सच्चा श्रावक (धर्म का अधिकारी) बन सके।

धर्म के दो रूप हैं—निश्चय और व्यवहार। निश्चय दृष्टि से आत्मा

का स्वभाव धर्म है। स्वरूप परिणति धर्म है। 'वत्थु सहावो धम्मो' वस्तु का स्वभाव धर्म है, यह सूत्र हमारे यहाँ बहुत प्रचलित है। जल का स्वभाव शीतल है, यह उसका धर्म है, अग्नि का स्वभाव उष्ण है, यह अग्नि का धर्म है। आत्मा का स्वभाव ज्ञानमय है, आनन्दमय है, राग-द्वेष से रहित वीतराग दशा है, यह आत्मा का धर्म है। निश्चय दृष्टि से धर्म का स्वरूप बहुत गहरा और बहुत ऊँचा है। उस ऊँचाई तक पहुँचने के लिए व्यवहार धर्म के सोपानो का सहारा लेना होगा। महल मे पहुँचने के लिए सीढियो की आवश्यकता होती है, किनारे तक पहुँचने के लिए नाव की अपेक्षा रहती है, भले ही महल मे पहुँचने के बाद आप सीढी को छोड देते हैं, किनारे पर पहुँचने के बाद नाव को भी छोड देते है, किन्तु सीढी का और नाव का महत्त्व किसी प्रकार कम नही है।

सुखवादी मनोवृत्ति

इसी प्रकार निश्चयधर्म की स्थिति को प्राप्त करने के लिए व्यवहार धर्म का अपना महत्त्व है। जिस साधना मे केवल निश्चयधर्म का महत्त्व है, वह साधना एकागी है, बिना सीढी का महल है। जैनधर्म अनेकातवादी धर्म है, निश्चय और व्यवहार दोनो को समान महत्त्व देने वाला है। अत. उसने निश्चयधर्म की व्याख्या के साथ-साथ व्यवहारधर्म की भी व्याख्या की है, और उसकी साधना पर भी बहुत महत्त्व दिया है। आचार्यो ने यहाँ तक कहा है कि व्यवहार के बिना निश्चयधर्म की साधना हो ही नही सकती, बिना व्यवहार के धर्म का ही उच्छेद हो जाता है।

आजकल एक सुखवादी मनोवृत्ति पनप रही है, जिसका मूल भोग-प्रधान जीवन है। लोग आजकल यह सोचने लगे है और कहने लगे है कि ये धर्म के क्रियाकाण्ड निरर्थक हैं, विधि-विधान व्यर्थ हैं। बस, आत्म-स्वरूप को समझ लो, सत्य का बोध प्राप्त करलो और आत्मानन्द मे डूब जाओ! न कुछ त्याग करने की जरूरत, न तपस्या और साधना की ही जरूरत! मैं समझता हूँ यह उन लोगो की भोगप्रधान मनोवृत्ति है, जो अपने को अध्यात्मवादी कहने का अहं या लोभ भी नही छोड सकते और प्राप्त सुख-सुविधाओ का त्याग करने का साहस भी नही रखते। यह एक प्रकार की दुर्बल धार्मिक-भावना है, जो व्यवहार धर्म की उपेक्षा करके निश्चय धर्म का सहारा लेती है। इससे जीवन मे धार्मिकता का तेज नही निखर सकता। जीवन आदर्श और दिव्य नही बन सकता। बन्धुओ! आपको यदि जीवन मे दिव्यता, तेजस्विता और सच्ची धार्मिकता प्राप्त करनी है, तो व्यवहारधर्म के इन नियमो, इन आदर्शो पर आचरण करना ही होगा।

व्यवहार धर्म

हाँ तो, व्यवहार धर्म का वर्णन करते हुए आचार्यों ने चार भावनाएँ बताई हैं—मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ—

सत्वेषु मैत्रीं, गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव।[1]

प्रवचन-प्रार्थना के प्रारम्भ मे आप इसे सुनते ही आये हैं। यह हमारे जीवन की बहुत बडी निधि है। जो चार भावनाएँ इसमे व्यक्त की गई हैं वे धर्म रूप प्रासाद के चार स्तम्भ हैं। इन भावनाओ के आधार पर ही धर्म का समस्त विस्तार किया है, अत यहाँ पर सक्षेप मे ही इन पर विचार कर लेते हैं।

१ मैत्री—मैत्री भावना मे आत्मा समस्त ससार के प्रति मित्रता का सकल्प करता है। मनुष्य शत्रु को पराया और मित्र को अपना मानता आया है। इसलिए मित्र से कभी उसे भय नही होता, क्लेश नही होता। कोई व्यक्ति आपसे कहे कि मैं आपका मित्र हूँ, तो यह सुनकर आपको प्रसन्नता होगी, उसके प्रति स्नेह और प्रेम उमड़ेगा। और कोई कहे—मैं तुम्हारा शत्रु हूँ, तो झट से आप चौंक उठेंगे, कुछ सहम जायेंगे और मन भय से भर जायेगा। इसका अर्थ है मैत्री अभय देने वाली है। इसलिए भारतीय सस्कृति ने एक स्वर से मैत्री का सकल्प किया है। भगवान महावीर ने अपने प्रवचनो मे वार-वार इस वात को दुहराया है—"मेत्ति मे सव्व भुएसु[2]। मेत्तिं भूएसु कप्पए।[3] वेद एव उपनिषद् मे भी यह मैत्री सकल्प स्थान-स्थान पर व्यक्त हुआ है—"मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे"[4] हम सव प्राणियो को मित्र की दृष्टि से देखें। सव हमारे मित्र हैं, हम सव के मित्र हो। वात यह है कि जो गृहस्थ जीवन मे मैत्रीभावना का सकल्प लेकर चलता है, प्राणिमात्र के साथ मित्र दृष्टि रखता है, वह जीवन मे सदा आनन्द, अभय और आह्लाद प्राप्त करता है।

२ प्रमोद—प्रमोद का अर्थ है प्रसन्नता। ससार मे जहाँ कही भी कोई अच्छाई, कोई सद्‌गुण दिखाई दे तो उसे देखकर प्रसन्न होना, हृदय मे आह्लादित होना अच्छाई का स्वागत करना—यह प्रमोद भावना है।

---

१ आचार्य अमितगति
२ आवश्यक ५
३ उत्तराध्ययन ६।२
४ ऋग्वेद

प्रमोद भावना की आज जीवन मे बहुत बडी कमी हो रही है। किसी को आगे बढते देखकर, अच्छी प्रतिष्ठा या सम्पत्ति प्राप्त करते देखकर, दान देते देखकर, तपस्या या साधना करते देखकर मनुष्य एक अज्ञात ईर्ष्या से जल उठता है। यह जीवन की सबसे बडी दुर्बलता और घातक मनोवृत्ति है। यदि कोई गरीबो को दान करता है, किसी सामाजिक कार्य मे बहुत बडी रकम लिखता है तो लोग कहते हैं—ब्लैक का पैसा है, काला धन है, देंगे नही तो क्या करेंगे। कोई कठोर तपस्या करता है, त्याग-प्रत्याख्यान करता है, तो लोग कहते हैं—ढोंगी है, वाह-वाही लूटने के लिए भूखा मर रहा है। इस प्रकार किसी भी सद्गुण को देखकर उसकी प्रशसा के बजाय लोग निन्दा करते हैं, प्रसन्न होने के स्थान पर जलते है। आपको मालूम होना चाहिए—किसी के गुणो से जलने पर उसका कुछ अहित नही होने वाला है, लेकिन आपकी आत्मा का जरूर पतन हो जाता है, आप अपनी सद्वृत्तियो से गिर जाते है, अपना चरित्र (मौरल) खो बैठते है।

हमारे जीवन मे इस भावना का विकास होना चाहिए कि हम सद्गुण को देखकर हर्ष का अनुभव करें, उसे बढावा दें। जो व्यक्ति सद्गुणो की प्रशसा करता है, उसके जीवन मे भी सद्गुण धीरे-धीरे प्रवेश करते जाते हैं और वह किसी भी परिस्थिति मे प्रसन्नता का अनुभव करता है।

३ करुणा—करुणा भावना का सीधा-सा अर्थ है, दया, अनुकपा। दया और अनुकपा का क्षेत्र बहुत व्यापक है, इसका अर्थ असीम है। जो व्यक्ति व प्राणी ज्ञान मे, आत्म-विकास मे हमारे से हीन है, नीचे स्तर पर हैं, दुःख एव पीडा से घिरे हुए हैं, उनकी पीडा और दुःख देखकर हृदय मे जो एक सहज कपन पैदा होता है, उनका दुःख दूर करने की भावना पैदा होती है—वह अनुकपा है।

मैंने बताया आपको कि—दया, करुणा का क्षेत्र बहुत विशाल है। अहिंसा को भी दया कहा गया है। इसलिए दया, करुणा, अहिंसा मे जीवन की वे समस्त गतिविधियाँ आ जाती है जो हमारे जीवन मे प्रतिदिन चलती रहती है। हमारी किसी भी प्रवृत्ति से किसी प्राणी को कष्ट न हो, पीडा न हो, व्यवहार मे, व्यापार मे, परिवार, समाज एव राष्ट्रीय जीवन मे हमारे द्वारा ऐसी कोई प्रवृत्ति न हो कि जिससे शाति भग होती हो, अव्यवस्था पैदा होती हो और जीवन मे पीडा की अनुभूति जागृत होती हो, इसलिए अहिंसा की साधना का एक मापक यन्त्र है—

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्"[1]

जो आपको अपने मन के प्रतिकूल—बुरा लगता हो, आप जिसे नही चाहते हो, उसे दूसरो के लिए भी मत चाहिए। जैनाचार्यों की भाषा मे कहूँ तो—

ज इच्छसि अप्पणतो ज च न इच्छसि अप्पणतो।
त इच्छ परस्स वि एत्तियग जिणसासणय ॥[2]

वस यही जिनधर्म है, और यही निजधर्म अर्थात् आत्मधर्म है। यही अहिंसा है, यही करुणा है, यही दया है। जिस आत्मा के अन्दर करुणा भावना जागृत होती है, उसमे इस प्रकार की शुभ भावनाएँ अवश्य ही उद्‌बुद्ध होगी।

४ **मध्यस्थ भावना**—मध्यस्थ का अर्थ है दो किनारो के बीच ठहरना। जीवन मे ऐसे बहुत से प्रसग आते हैं जब हमे दोनो मार्गों को छोडकर किसी बीच के, मध्य मार्ग का अनुसरण करना पडता है। कल्पना कीजिए एक व्यक्ति आपके समक्ष आपके धर्म, गुरु या आपके किसी प्रिय व्यक्ति की निन्दा कर रहा है। वह क्रोध या अहकार मे इस प्रकार विफरा हुआ है कि समझाने से शान्त होने की जगह और अधिक भडक उठता है। उस समय आप क्या करेंगे ? क्या उसकी भाँति आप भी वकवास और मारपीट करने लगेंगे ? नही, यह तरीका सज्जनोचित नही है। फिर आप क्या करेंगे ? समझाने से तो आग मे घी का काम हो रहा है, लातो के देव बातो से मान नही रहे हैं, और लातो से आप उसकी पूजा कर नही सकते। उस समय आपको मध्यम मार्ग अपनाना होगा, मध्यस्थ वृत्ति ही उस समय आपके मन को शान्ति दे सकती है। आप सोचेंगे—"यह अज्ञानी है, क्रोध आदि कषायो के वशीभूत होकर यह निन्दा कर रहा है, यह नही जानता कि इससे इसकी आत्मा का कितना पतन हो रहा है। ऐसा व्यक्ति क्रोध का नही, दया का पात्र है। यह अज्ञानवश अपनी ही जड काट रहा है। इसलिए इस पर क्रोध नही करना चाहिए।" इस प्रकार की मध्यस्थ वृत्ति जागृत होने से व्यावहारिक जीवन की सैकडों

---

१ कृत्यरत्नाकर (देवल) मे उद्‌धृत देखें धर्म-शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १५, तुलना करें—न तत्परस्य सदध्यात् प्रतिकूल यदात्मन —महा० अनुशासन पर्व ११३।८ तथा—यथैवात्मा परस्तद्वत् द्रष्टव्य सुखमिच्छता।
—दक्षस्मृति ३।२२

२ वृह० भा० ४५८४

उलझने, समस्याएँ अपने आप सुलझ जायेंगी, जीवन मे कलह, विग्रह एव विवाद के प्रसग कम हो जायेंगे और शान्तिमय जीवन का आनन्द प्राप्त हो सकेगा।

आदर्श जीवन

इस प्रकार मैत्री, प्रमोद, करुणा एव मध्यस्थ भावना के द्वारा जीवन मे धर्म की पृष्ठभूमि तैयार होती है। मैंने प्रारम्भ मे बताया कि जब तक चतुर किसान भूमि को खेती योग्य नही बना लेता तब तक उसमे बीज नही डालता। इसी प्रकार कुशल साधक धर्म का बीज जीवन मे अकुरित करने से पहले मनोभूमि को तैयार करता है। मन की भूमिका जब सद्भावो से, मैत्री आदि भावनाओ से धर्म के योग्य बन जाती है तो उसमे व्रत, नियम, त्याग आदि के बीज बडी सरलता व शीघ्रता से अकुरित हो सकते हैं।

आप जानते हैं, गृहस्थ जीवन बहुत बडा उत्तरदायित्वो का जीवन है। साधु जीवन एक निश्चित दिशा की यात्रा है, उसके उत्तरदायित्व, कर्त्तव्य एव विधि-नियम सब निश्चित हैं। गृहस्थ जीवन मे ऐसा नही है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है, इसके उत्तरदायित्व असीम हैं, विभिन्न परिस्थितियो मे उसके विभिन्न कर्त्तव्य होते हैं। परिवार, समाज, धर्म एव राष्ट्र के अनेक दायित्व उसके कधो पर होते हैं और उन सबको सफलतापूर्वक शानदार ढग से निभाते जाना इसी मे गृहस्थधर्म की कुशलता है। यदि गृहस्थ अपने कर्त्तव्यो एव धार्मिक कृत्यो को सही ढग से निभाता है, तो उसका जीवन साधु जीवन का भी आधार बन सकता है। आगमो मे ऐसे सद्गृहस्थो को साधुओ के माता-पिता के तुल्य कहा है और धर्म का आधार बताया है। ऐसे कर्त्तव्य-परायण गृहस्थ का जीवन धन होने या न होने पर भी सुखी एव आनन्दमय रह सकता है, इस सम्बन्ध मे एक छोटा सा रूपक आपके सामने रखता हूँ।

मै राजा भोज हूँ

एक बार राजा भोज सध्या काल के समय हवा खाने के लिए नगर के बाहर उपवन मे घूम रहे थे। एक प्रौढ व्यक्ति सिर पर लकडियो की भारी गठरी लिए जगल मे आ रहा था। राजा ने देखा उसके सिर पर काफी भार है, पसीना चू रहा है, फिर भी उसके चेहरे पर एक अजीब मस्ती है, शरीर अच्छा, स्वस्थ एव गठा हुआ है और चाल-ढाल कुछ निराली ही है। राजा उसके सामने आया, लेकिन उसने राजा की ओर कोई ध्यान नही दिया, सरसराता बडी बेपरवाही से वह अपने घर की ओर बढ रहा था। राजा

ने पूछा—भाई ! तुम कौन हो ? लकडहारे ने विना इधर-उधर देखे, वडी मस्त आवाज से कहा—"मैं राजा भोज हूँ।"

राजा के आश्चर्य का कोई ठिकाना नही रहा। एक लकडहारा, चार-छ पैसे की लकडी सिर पर ढो रहा है, फटे-पुराने कपडो मे लिपटा हुआ है, गरीवी का साक्षात् अवतार है और इतनी वेफिक्री से अपने को राजा भोज कह रहा है। राजा को उसकी मस्ती और वेफिक्री से ईर्ष्या भी होने लगी। सोचा— राजा भोज तो मैं हूँ, यह नया राजा भोज कहाँ से पैदा हो गया ? किन्तु जो मस्ती इसके चेहरे पर है, जो अल्हडता इसकी चाल मे है वह मेरे पास भी कहाँ ? राजा भोज आगे वढा, और बोला—"अरे भाई ! जरा रुको तो सही ! तुम राजा भोज हो, तो वताओ तुम्हारी आमदनी क्या है !" लकडहारा रुका और वोला—"मेरी आमदनी है, छ टके रोज ?" अव तो राजा के कुतूहल एव आश्चर्य का कोई आर-पार नही रहा। यहाँ तो लाखो रुपये रोज के आते-जाते हैं, जिसमे भी सुख-चैन नही है। मन मे शाति नही, भोग की सव सामग्री होते हुए भी आनन्द नही है। और यह छ टके रोज कमाता है, कितनी मेहनत करता है, जिस पर कितना सुखी ! कितना मस्त ! कि अपने को राजा भोज वता रहा है। राजा ने आगे पूछा—"अच्छा भाई ! तू अपने को राजा भोज वताता है, और छ टके रोज कमाता है तो तेरे खर्च का हिसाव क्या है ? राजा है तो कुछ खर्च-वर्च की व्यवस्था भी होगी ?"

लकडहारे ने भारी वोझ को नीचे डाल दिया और कहा—"तुमको मुझ मे वडी दिलचस्पी है ? तो लो सुनो ! मैंने अपने खर्च का सव अलग-अलग हिसाव कर रखा है ? मैं छ टके रोज कमाता हूँ, जिसमे से एक टका अपने वोहरे को देता हूँ, एक टका अपनी आसामी को, एक टका अपने मत्री को, एक टका खजाने मे डालता हूँ, एक टका अपने काम मे लगाता हूँ, और एक टका अतिथि सत्कार मे खर्च करता हूँ।"

लकडहारे की वातें राजा को वडी ही अजीव लग रही थी, लेकिन वडी रसीली भी, वह मन-ही-मन सोच भी रहा था, छ टके रोज कमाने वाले के, वोहरा भी है, आसामी भी है, मत्री भी है—क्यो न होगा जव अपने को राजा भोज कहता है, और खजाना भी है, आश्चर्य तो यह है कि अतिथि सत्कार मे भी खर्च करता है ! लेकिन यह सव क्या पहेली है ? वोहरा कौन है ? आसामी कौन है ? और इसका मत्री कौन है ? राजा ने कहा—"भाई ! यह तो वताओ ! तुम्हारा वोहरा कौन है ?"

लकडहारे ने वडी सरलता से कहा—"तुम नही जानते, मेरा वोहरा कौन

है ? आदमी तो बड़े होशियार लगते हो, इतना भी नही मालूम' खैर मैं बताऊँ । माँ-बाप मेरे बोहरे हैं ? जिन्होने मुझे पाल-पोस कर बड़ा किया, अपने खून-पसीने की कमाई से मेरा भरण-पोषण किया, और यह आशा लगाई कि बुढापे मे यह हमारी कुछ सेवा करेगा, क्या वे बोहरे नही हैं ? बोहरा आसामी को इसी आशा से तो देता है कि वह समय पर ब्याज के साथ लौटा देगा ? क्या माँ-बाप पुत्र से ऐसी आशा नही करते ?"

"बिल्कुल ठीक बात है, तुम्हारी !" राजा ने सिर धुनकर कहा ।

"तो इसलिए मैं रोज एक टका अपने माँ-बाप की सेवा मे लगाता हूँ, क्योकि वे मेरे बोहरे है ।"

"और आसामी कौन है भाई ?"—राजा ने पूछा ।

"आसामी हैं मेरे पुत्र-पुत्रियाँ । वे अभी कमा नही सकते इसलिए उनके भरण-पोषण की सब जिम्मेदारी मेरी है, अभी उनकी व्यवस्था करना मेरा उत्तरदायित्व है, वे जब बड़े होगे तो माता-पिता के इस ऋण को चुकायेंगे । इसलिए वे मेरी आसामी हैं ।"

"बहुत खूब ! और मत्री कौन है ?"—राजा ने मुस्कराकर पूछा ।

"पत्नी मेरी मत्री है । वह सुख-दु ख मे मेरी सहायता करती है, मौके-बे-मौके सच्ची सलाह देती है । उदासी और चिंता के समय धैर्य बँधाती है, समय पर अपना सर्वस्व अर्पण करके भी पति की जीवन बाती को जगमगाती रखने का प्रयत्न करती है, भाई, उससे बढकर और मत्री कौन होगा ?"

राजा लकडहारे की बात पर गद्‌गद हो उठा, उसके कधे पर हाथ रख कर उसने कहा—"भाई ! तुम बात तो बडी पते की कह रहे हो ! स्त्री के प्रति तुम्हारे मन मे इतनी ऊँची और आदरपूर्ण भावना है तो सचमुच ही तुम राजा हो । दरअसल सच्चा मत्री तो पत्नी ही है ।"

"हाँ तो, इसलिए मैं एक टका अपने मत्री को देता हूँ । और एक टका अपने खजाने मे डालता हूँ ।"

"तुम्हारे पास खजाना भी है ?"—राजा ने पूछा ।

"क्यो नही, खजाना ही तो राजा का बल है । कोशमूला हि राजान[1]—जो आदमी अपनी आमदनी मे से भविष्य के लिए कुछ

---

१ महाभारत, शान्ति पर्व ११६।१६

बचाता नही, उसे समय पर पछताना पडता है। इसलिए मैं प्रतिदिन एक टका अपने खजाने मे डाल देता हूँ। और एक टका अपने लिए खर्च कर देता हूँ। अपने शरीर की भूख-प्यास, वस्त्र की आवश्यकता आदि को बस एक टके मे पूरी कर लेता हूँ।"

"और शेष बचे एक टके का क्या करते हो भाई।"—राजा ने पूछा, तो लकडहारे ने कहा—"तुम्हे मालूम नही, अतिथि सत्कार करना गृहस्थ का धर्म है।[1] घर पर कोई मेहमान या अतिथि आ गये तो उनका स्वागत करना, प्रेम से आसन देना, मीठी वाणी बोलना और जैसा हो पाये उनका स्वागत-सत्कार करना—गृहस्थ का कर्त्तव्य होता है। अब यदि मेरे पास कुछ नही हो, तो मैं अपना यह कर्त्तव्य कैसे पालन करूँ, इसलिए मैं अतिथि के लिए अपनी आमदनी मे से एक टका निकाल के रखता हूँ। भाई। यह मेरा हिसाब-किताब है, इस तरह से मेरी गाडी बड़े आराम से चल रही है।"

राजा भोज ने लकडहारे की बातें सुनी और आश्चर्यपूर्वक सोचने लगा—"मैं तो नाम का राजा भोज हूँ, वास्तव मे तो राजा भोज यही है। इसके जीवन मे कितनी व्यवस्था, कितनी कर्त्तव्यपरायणता और कितना आनन्द है। छ टके रोज कमाकर भी यह सबका भरण-पोषण करता है, अतिथि की सेवा भी करता है और भविष्य के लिए बचाता भी है। कितना सुखमय है इसका जीवन।"

बन्धुओ। यहाँ मैं आप से पूछूँ—लकडहारे की बातें आपको भी कुछ ठीक लगी होगी ? आप अपने जीवन के दर्पण मे इन बातो का प्रतिबिम्ब देखिए ? आप भी अपने बोहरो का (माता-पिता का) कर्ज चुकाते हैं या नही ? बुड्ढे माता-पिता की सेवा करते हुए यह तो नही सोचते कि कब परमात्मा इनको उठाले और अपना पिंड छूटे ? अपनी आसामियो के प्रति भी अपना उत्तरदायित्व आप पूरा कर रहे हैं, या नही, उनकी शिक्षा-दीक्षा आदि के लिए आपकी जो जिम्मेदारी है उसे निवाहने से पीछे तो नही हट रहे हैं ? और अपने मत्री (मत्राणी जी) का कभी अपमान और तिरस्कार तो नही करते ? आपके घर की व्यवस्था का सचालन करने वाली यही कुशल मत्री जी है, यदि आप इनका सम्मान करेंगे तो आपके जीवन मे यह प्रेरणा, उत्साह और आनन्द भरेगी। आपकी गृहस्थी को सुखमय बनायेंगी। बात

---

1 अतिथि देवो भव—तैत्तिरीयोपनिषद् १।११।२

लम्बी तो हो रही है, पर यहाँ मैं महात्मा बुद्ध के जीवन की एक घटना का वर्णन अवश्य करना चाहूँगा।

दिशा-पूजन

एक बार महात्मा बुद्ध राजगृह मे गये। वहाँ शृगाल नाम का एक वैश्य का लडका प्रात काल भीगे केश और भीगे वस्त्रो से पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण और ऊपर-नीचे इन छहो दिशाओ को हाथ जोडकर नमस्कार कर रहा था। बुद्ध ने पूछा—"गृहपति पुत्र ! तू यह क्या कर रहा है ?"

शृगाल ने कहा—"भते ! मरते समय मेरे पिताजी ने कहा था—पुत्र ! छहो दिशाओ को प्रतिदिन नमस्कार करना। इसलिए भते ! पिता की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ।"

बुद्ध ने कहा—गृहपति पुत्र ! तुम्हारे पिता ने तो ठीक कहा था, पर तुम उसका अर्थ नही समझ पाये ! ये दिशाएँ तो शून्य आकाश है, जीवित दिशाओ की पूजा करनी चाहिए ?"

शृगाल ने पूछा—"भते ! वे दिशाएं कौन-सी हैं जिनकी पूजा करनी चाहिए ?"

बुद्ध ने बताया—"माता-पिता पूर्व दिशा है, आचार्य दक्षिण दिशा हैं, स्त्री पुत्र आदि पश्चिम दिशा हैं तथा मित्र अमात्य आदि उत्तर दिशा हैं। दास-नौकर-चाकर आदि अधोदिशा (नीचीदिशा) हैं और श्रमण-ब्राह्मण आदि ऊर्ध्व दिशा हैं। गृहस्थ को इन छहो दिशाओ की सेवा करनी चाहिए, उनको नमस्कार, सत्कार तथा यथायोग्य अर्पण करना यही इन दिशाओ की पूजा है।[१] जो गृहस्थ इन दिशाओ की सदा पूजा करता है, वह अपने कर्त्तव्यो का सही रूप से पालन करता है और गृहस्थ-जीवन को सुखपूर्वक यापन करता है।"

बन्धुओ ! मैं आपको बताना चाहता हूँ कि इस प्रकार का जो व्यवस्थित गृह-जीवन होता है, जिसमे परिवार समाज, राष्ट्र एव धर्म के कर्त्तव्यो के

---

१ माता पिता दिसा पुब्बा आचरिया दक्खिणा दिसा।
पुत्त दारा दिसा पच्छा, मित्तमच्चा च उत्तरा॥
दास कम्मकरा हेट्ठा, उद्ध समण-ब्राह्मणा।
एता दिसा नमस्सेय्य अलमत्तो कुले गिही॥
दीघनिकाय ३।८।५

प्रति जागरूकता होती है, वह एक सद्गृहस्थ का आदर्श जीवन होता है। इस जीवन मे नीति भी होती है, सदाचार भी होता है, धर्म और अध्यात्म भी होता है। व्यक्ति प्रत्येक क्षेत्र मे अपने कर्त्तव्य को निष्ठा के साथ पूरा करता है। इस प्रकार का आदर्श-जीवन कैसे बने—बस, इसी प्रश्न के उत्तर मे आचार्य ने यह गृहस्थधर्म की विवेचना प्रस्तुत की है, जीवन के एक-एक पहलू को लेकर उसका परिष्कार एव सस्कार करने का उपक्रम किया है। आगे के प्रवचनो मे उन्ही विषयो पर क्रमश विचार किया जायेगा।



२

न्याय-मूलक अर्थ

धर्म की पृष्ठभूमि तैयार करने की चर्चा आपके समक्ष चल रही थी। गृहस्थ-जीवन मे धर्म की साधना किस प्रकार की जाय, जिससे कि जीवन मे दिव्यता एव प्रबुद्धता आये इसके लिए आचार्य हेमचन्द्र ने मार्गानुसारी के पैंतीस बोलो का वर्णन किया है। उनमे सबसे पहला बोल है—"न्यायसंपन्न-विभव" न्याय से उपार्जित धन। अर्थात् न्यायपूर्वक आजीविका करना गृहस्थ का प्रथम धर्म है।

सम्यक् आजीविका

हमारे यहां एक कहावत है—

> कोई बाई पीसैं कोई बाई पोवैं।
> साधुजी तो सीधोई जोवैं॥

साधु को कही कमाना नही पडता, भिक्षा से उसका जीवन-निर्वाह हो जाता है, पर गृहस्थ के लिए तो यह बात नही है। गृहस्थ भी यदि भिक्षा मांगने लगे तो यह उसके लिए लज्जा की बात होती है। गृहस्थ को अपना जीवन चलाने के लिए पुरुषार्थ करना होता है, उद्योग करना होता है, पुरुषार्थ करने मे लक्ष्मी प्राप्त होती है, और जीवन-यात्रा सुखपूर्वक चल सकती है। आप मे से कौन नही चाहेगा कि हम धन्ना सेठ बनें, लक्ष्मी घर मे पीढा डाल ले। बडे-बडे बगले और कार हो, कारखाने भी हो चारो तरफ लक्ष्मी की रेल-पेल मची रहे। और इसके लिए उद्योग भी आप कर ही रहे हैं, दिन-रात घोडे की तरह दौड रहे हैं, मशीन की तरह चल रहे हैं, कही किधर हाथ मारा, कही किधर ही! और कुछ नही, तो लॉटरी का टिकट खरीद कर ही लखपति

वनने के स्वप्न देख रहे हैं। मतलव यह है कि गृहस्थ के मन मे धन की लालसा वनी रहती है। इस अर्थप्रधान युग मे वह मानता है कि अर्थ के विना सव व्यर्थ है। कौडी के विना जीवन तीन कौडी का है।

जैनधर्म यह नही कहता कि गृहस्थ को धन नही कमाना चाहिए, दरिद्र और भिखारी बने रहने की वात भी जैनधर्म नही सिखाता। वह कहता है, धन भले ही कमाओ, पर अन्याय से मत कमाओ। गृहस्थ-जीवन के लिए अर्थ और काम आवश्यक हैं, पर दोनो पर न्याय एव नीति का नियन्त्रण रहना चाहिए। यह न्याय और नीति ही धर्म है। धर्म से अनुवन्धित अर्थ एव काम—जीवन-विकास मे सहायक वनते हैं। इसलिए महान् श्रुतधर आचार्य भद्रवाहु ने भी कहा है—**"सच्छासयप्पओगा अत्थो वीसभओ कामो"**[१]—स्वच्छ आशय से प्रयुक्त अर्थ और मर्यादानुकूल काम धर्म का विरोधी नही है। मतलव यह है कि गृहस्थ के लिए धन कमाने का सर्वथा निषेध नही, किन्तु अन्यायपूर्वक धन कमाने का निषेध किया है। जैन आचार्यों ने इसलिए सद्गृहस्थ का सवसे पहला विशेषण दिया है—**"न्यायसम्पन्नविभव."** न्याय एव नीतिपूर्वक अर्थोपार्जन करने वाला। यह श्रावक का लक्षण वताया है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने धर्म विन्दु प्रकरण के प्रथम प्रकरण मे कहा है—

न्यायोपात्त हि वित्तमुभयलोक हितायेति

—धर्मविन्दु (हरिभद्र) प्रकरण १

पण्डित आशाधर जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सागारधर्मामृत मे धर्म को धारण करने वाले गृहस्थ का लक्षण वताते हुए कहा है—

न्यायोपात्त धनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गभजन्

—सागारधर्मामृत ११

और भी कहा है—

अन्यायोपार्जितं वित्त दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्तेस्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥

---

१ दशवैकालिक निर्युक्ति २६४, तुलना करिए—भोक्ता च धर्माविरुद्धान् भोगान्। एवमुभौलोकावभिजयति—आपस्तम्व २।८।२०। तथा—धर्मार्थाविरोधेन् काम सेवेत—कौटिलीय अर्थशास्त्र १।७ तथा—धर्मविरुद्धौ चार्थकामौ परिहरेत्—विष्णुधर्मसूत्र ७१।८४। तथा च—महाभारत उद्योगपर्व १२४।३४-३८ श्लोक।

बौद्धधर्म में भी अष्टाङ्गिक मार्ग बताया है। जो बुद्ध का उपासक होता है वह इन आठ मार्गों का अनुसरण करता है। इनमें सम्यक्ज्ञान, सम्यक्संकल्प आदि बताकर पाँचवाँ मार्ग बताया है—सम्यक्आजीव, अर्थात् न्यायपूर्वक जीविका चलाने वाला। जैनसूत्रों में भी श्रावकों का जहाँ वर्णन आता है वहाँ—धम्माजीवी—यह विशेषण मिलता है। आप जानते हैं, धर्म से आजीविका कैसे चल सकती है? धर्म तो है त्याग! धर्म है तपस्या! पर नहीं, यहाँ, धर्म का अर्थ है—नीति, सदाचार! जो श्रावक नीति एवं न्यायपूर्वक व्यापार करके अपनी जीविका चलाते थे उन्हें 'धम्माजीवी' कहा गया है।

न्याय से धन कमाया जा सकता है?

न्याय से धन कमाने की बात आने पर शायद आपके मन में प्रश्न खड़ा होगा, क्या न्याय से धन कमाया जा सकता है? और धन कमाया जा सकता हो, तब भी बड़ी-बड़ी हवेलियाँ तो नहीं बन सकती? बंगले और अम्बेसडर कार तो नहीं आ सकती?

मैं सोचता हूँ यह प्रश्न आपके मन की दुर्बलता का द्योतक है। न्याय के प्रति आपके मन में आस्था नहीं है, आपको विश्वास नहीं है कि न्याय का सिक्का चल सकता है? मैं पूछता हूँ कि यदि न्याय से नहीं तो क्या अन्याय से धन कमाया जा सकता है? अनीति और अप्रामाणिकता से व्यापार चल सकता है? विश्वासघात और असत्य आचरण से कोई धनाढ्य बन सकता है? नहीं! कभी नहीं। कहावत है—'असत्य के पैर नहीं होते' 'अनीति की जड़ नहीं होती' अन्याय से धन जमा भी हो गया तो वह धन सुख और चैन नहीं दे सकता। अनीति का धन अपने साथ अनेक विपत्तियाँ लाता है। बीमारी, संकट, कलह और वैमनस्य से जीवन को दुःखमय ही बनाता है। मैंने बहुत से व्यक्तियों को कहते सुना है, "महाराज, धन तो कमाया है, पर सुख नहीं मिला! साल में हजारों रुपये तो डाक्टर ले जाते हैं, हजारों ही वकील की जेब में चले जाते हैं। कभी कचहरी, कभी अस्पताल, बस रात-दिन इन्हीं का चक्कर रहता है।" मैं पूछता हूँ—जीवन में धन आया, पर इसके साथ सुख क्यों नहीं आया, आराम एवं चैन क्यों नहीं मिला! घर में बढ़िया डनलप का पलंग आ गया पर आँखों की नींद कहाँ हराम हो गयी? घर में बिस्कुट-फ्रूट, मक्खन आदि की भरमार तो हो गई, पर स्वास्थ्य चौपट क्यों हो रहा है? और डाक्टर साहब के चक्कर क्यों लग रहे हैं भाई! यहाँ आपके हृदय से

जरूर आवाज उठेगी—"नीति की कमाई नही है। पाप का पैसा है। बरकत नही करता।"

जीवन का उद्देश्य : धन या सुख ?

बन्धुओ ! यही बात जैनधर्म ने कही है, जिस अर्थ की जड मे पाप है, अन्याय है, वह सुख कैसे दे सकेगा ? जिस वृक्ष की जड मे नमक सीचा जा रहा है, क्या वह मीठे फल देगा ? सुख तो शुभ कर्म के उदय से मिलता है, आप धन कमाने के लिए अशुभ कार्य अर्थात् अन्याय कर रहे हैं—यह उल्टी गगा बह रही है ! पूरब मे आपका घर है और पश्चिम मे चले जा रहे हैं, तो क्या घर पहुँच जायेंगे ? नही ! तो फिर अन्याय से अर्जित धन के द्वारा सुख कैसे मिलेगा ?

एक विचारक ने पूछा है—तुम्हारे जीवन का उद्देश्य क्या है ? धन या सुख ?

आप कहेंगे—सुख ! हमे सुख चाहिए, धन हो या न हो, सुख होना चाहिए ! लेकिन कुछ भाई ऐसे भी मिलेंगे जो कहते हैं—धन होगा तो सुख भी हो जायेगा ? पर, जैसा भाई ! मैंने आपको बताया—बहुत से व्यक्तियो को धन होने पर भी सुख नसीब नही हुआ। वे जीवन भर सुख-सुख रोते ही रहे। सुख धन से नही, मन से मिलता है। मन मे समता है, नीति है, तो निर्भयता है, निर्भयता है तो शाति है। शाति है तो बस, जीवन सुखी है। इसलिए बात का सार यह हुआ कि जीवन का उद्देश्य धन नही, सुख है। धन से सुख प्राप्त हो भी सकता है, पर उसी धन से जिसमे अन्याय एव अनीति का जहर नहीं मिला हो। जहरीले भोजन से जैसे जीवन को, जिन्दगी को खतरा हो जाता है[१] वैसे ही अन्याय से उपार्जित धन से सुख-चैन पर खतरे की घटी बज जाती है। धन को सम्पत्ति कहा जाता है, आपको मालूम है, सम्पत्ति का अर्थ क्या है ? **सम्यक्-प्रतिपत्ति**—**सम्पत्ति** अर्थात् जो न्यायपूर्ण, शुद्ध एव सही तरीके से प्राप्त होती है वही सम्पत्ति है। अन्याय एव गलत तरीके से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति सम्पत्ति नही, विपत्ति ही है। इसलिए वह विपत्ति अपने साथ अन्य विपत्ति भी लायेगी ही !

अन्याय की परिभाषा

आपके मन मे प्रश्न खडा होगा कि न्याय और अन्याय की परिभाषा

---

१. नहु पाव हवई हिय विस जहा जीवियत्थिस्स। —मरणसमाधि ६१३

क्या है ? वह कौन सी कसौटी है जिस पर कस कर यह बताया जा सके कि यह न्याय है, यह अन्याय है ?

वैसे तो न्याय-अन्याय का फैसला मनुष्य का हृदय अपने आप कर देता है। कोई भी कार्य करते समय अन्तरात्मा मे यह प्रतिभासित हो जाता है कि यह न्याय है ! फिर भी न्याय शास्त्रो मे, कुछ ऐसी मुख्य बातें बतायी गयी हैं जो अन्याय की कोटि मे आती हैं। जैसे—

असत्य का आचरण करना अन्याय है।
विश्वासघात या धोखा देना अन्याय है।
मित्र एवं स्वामी का द्रोह करना अन्याय है।

इन तरीको से तथा ऐसे ही अन्य तरीको से जिनमे लोभ की तीव्रता होती है, धन कमाने की अध-लालसा होती है, वे सब तरीके अन्याय की गिनती मे आते हैं। जब मनुष्य अत्यन्त लोभ के वस हो जाता है, तो उसकी सद्विवेक बुद्धि पर आवरण आ जाता है, वह यह नही सोच पाता कि अमुक कार्य करने से अपने आपको कितना दु.ख होगा, किसी के हृदय को कितनी चोट पहुँचेगी ? उसके सामने तो बस धन ! धन ! यही एक सकल्प रहता है। रात-दिन—भज कलदारम् भज कलदारम् कलदारं भज मूढमते ! बस यही एक भजन रहता है। पैसा ही उसकी नजर मे परमेश्वर होता है, पैसा ही पिता और पैसा ही पुत्र ! इसलिए पैसे के लिए वह कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। चाहे जैसा झूठ वह बोल लेता है, चाहे जिसको धोखा दे देता है। राष्ट्र के साथ, स्वामी के साथ तथा मित्र के साथ भी द्रोह करने को तैयार हो जाता है। तो इस प्रकार जो धन कमाया जाता है, वह अन्याय का धन कहलाता है, वह पाप का पैसा कहलाता है।

असत्य अन्याय की जड़ है ?

अन्याय की परिभाषा मे सबसे पहले असत्य आचरण बताया है। असत्य से ही अन्याय का प्रारम्भ होता है। असत्य बोलने के तीन मुख्य कारण बताये गये है—

कोहा ओ वा—क्रोध के वश
भया ओ वा—भय के वश
लोहा ओ वा—लोभ के वश !

क्रोध जब आता है तो मनुष्य अधा हो जाता है। क्रोध की दशा मे हित-

अहित, भला-बुरा, न्याय-अन्याय कुछ भी नही सोच सकता। क्रोध उतरने के बाद मनुष्य अपने किये पर पछताता है। इसीलिए कहा जाता है—"क्रोध के आँख पीछे होती है, भय के आगे होती है, और लोभ के आँख होती ही नही।" हाँ, तो क्रोध की दशा मे मनुष्य असत्य बोलता है। दूसरा भय के वश असत्य बोला जाता है। अपनी बुराई को छिपाने के लिए, अन्याय को दबाने के लिए भी मनुष्य असत्य बोलता है। वह सोचता है—कही मेरी बुराई प्रकट हो गई तो लोग मुझे थू-थू करेंगे। क्योंकि भय के आगे आँख होती है, इसलिए वह हर एक बात को पहले ही सोचकर उसे छिपाने की चेष्टा करता है। छिपाने की आदत ही बुराई की जड है। गाधीजी से एक बार पूछा गया—"आप बुराई किसे मानते है?" गाधीजी ने कहा—"जिस काम को करने के बाद छिपाने की कोशिश की जाती है, समझ लो वह बुराई है।" सचाई को कोई नही छिपाता! भलाई को कोई नही दबाता। छिपाया और दबाया जाता है असत्य अन्याय! और पाप! इसलिए दड के भय से, बदनामी के भय से मनुष्य असत्य बोलता है। जो असत्य नही बोलेगा, वह बदनामी होने जैसे काम ही नही करेगा। अगर करता होगा तब भी छोड देगा।

सत्य से सुधार

✓ हमारे यहाँ एक कहानी आती है। सेठ जी के एक लडका था। इकलौता था इसलिए लाडेसर था। लाड-प्यार से कुसगति मे पड गया और धीरे-धीरे सातो कुव्यसनो मे अग्रणी हो गया। सेठ जी ने पुत्र को बहुत समझाया पर चिकने घडे पर छीटा लगे तो उसको शिक्षा लगे। सेठ जी बिचारे बडे दुःखी थे। सोचा पूर्वजो की मान-प्रतिष्ठा, खानदान की इज्जत को मैं सँभाल कर रख रहा हूँ, पर यह पेट का कीडा उन सब पर पानी फेर देगा।

एक दिन नगर मे कोई मुनिराज पधारे। सेठ जी गये। मुनि का उपदेश सुनकर सेठ को विश्वास हुआ कि इनके उपदेश से मेरा पुत्र अवश्य सुधर सकता है। इनकी वाणी मे वह जादू है जो किसी भी पथभ्रष्ट को सन्मार्ग पर ला सकती है। सेठ ने मुनि से निवेदन किया—"प्रभो! आपकी कृपा हो तो यह नैया पार लग सकती है। मेरा पुत्र बिल्कुल पथ-भ्रष्ट हो चुका है, आपके उपदेश से वह सुधर सकता है।"

मुनिराज ने कहा—"अपने पुत्र को हमारे पास लाइए, संपर्क से सस्कार भी बदले जा सकते हैं।" सेठ जी की प्रेरणा से आखिर पुत्र मुनि के चरणो मे पहुँचा। मुनि ने उसे समझाया, प्रतिदिन प्रवचन में आने को कहा।

क्या है ? वह कौन सी कसौटी है जिस पर कस कर यह बताया जा सके कि यह न्याय है, यह अन्याय है ?

वैसे तो न्याय-अन्याय का फैसला मनुष्य का हृदय अपने आप कर देता है। कोई भी कार्य करते समय अन्तरात्मा मे यह प्रतिभासित हो जाता है कि यह न्याय है ! फिर भी न्याय शास्त्रो मे, कुछ ऐसी मुख्य बातें बतायी गयी हैं जो अन्याय की कोटि मे आती हैं। जैसे—

असत्य का आचरण करना अन्याय है।
विश्वासघात या धोखा देना अन्याय है।
मित्र एवं स्वामी का द्रोह करना अन्याय है।

इन तरीको से तथा ऐसे ही अन्य तरीको से जिनमे लोभ की तीव्रता होती है, धन कमाने की अध-लालसा होती है, वे सब तरीके अन्याय की गिनती मे आते हैं। जब मनुष्य अत्यन्त लोभ के वस हो जाता है, तो उसकी सद्विवेक बुद्धि पर आवरण आ जाता है, वह यह नहीं सोच पाता कि अमुक कार्य करने से अपने आपको कितना दु ख होगा, किसी के हृदय को कितनी चोट पहुँचेगी ? उसके सामने तो बस धन ! धन ! यही एक सकल्प रहता है। रात-दिन—भज कलदारम् भज कलदारम् कलदारं भज मूढमते ! बस यही एक भजन रहता है। पैसा ही उसकी नजर मे परमेश्वर होता है, पैसा ही पिता और पैसा ही पुत्र ! इसलिए पैसे के लिए वह कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। चाहे जैसा झूठ वह बोल लेता है, चाहे जिसको धोखा दे देता है। राष्ट्र के साथ, स्वामी के साथ तथा मित्र के साथ भी द्रोह करने को तैयार हो जाता है। तो इस प्रकार जो धन कमाया जाता है, वह अन्याय का धन कहलाता है, वह पाप का पैसा कहलाता है।

असत्य अन्याय की जड़ है ?

अन्याय की परिभाषा मे सबसे पहले असत्य आचरण बताया है। असत्य से ही अन्याय का प्रारम्भ होता है। असत्य बोलने के तीन मुख्य कारण बताये गये है—

कोहा ओ वा—क्रोध के वश
भया ओ वा—भय के वश
लोहा ओ वा—लोभ के वश !

क्रोध जब आता है तो मनुष्य अधा हो जाता है। क्रोध की दशा मे हित-

अहित, भला-बुरा, न्याय-अन्याय कुछ भी नही सोच सकता। क्रोध उतरने के बाद मनुष्य अपने किये पर पछताता है। इसीलिए कहा जाता है—"क्रोध के आँख पीछे होती है, भय के आगे होती है, और लोभ के आँख होती ही नही।" हाँ, तो क्रोध की दशा मे मनुष्य असत्य बोलता है। दूसरा भय के वश असत्य बोला जाता है। अपनी बुराई को छिपाने के लिए, अन्याय को दबाने के लिए भी मनुष्य असत्य बोलता है। वह सोचता है—कही मेरी बुराई प्रकट हो गई तो लोग मुझे थू-थू करेंगे। क्योकि भय के आगे आँख होती है, इसलिए वह हर एक बात को पहले ही सोचकर उसे छिपाने की चेष्टा करता है। छिपाने की आदत ही बुराई की जड है। गाधीजी से एक बार पूछा गया—"आप बुराई किसे मानते है?" गाधीजी ने कहा—"जिस काम को करने के बाद छिपाने की कोशिश की जाती है, समझ लो वह बुराई है।" सचाई को कोई नही छिपाता! भलाई को कोई नही दबाता। छिपाया और दबाया जाता है असत्य अन्याय! और पाप! इसलिए दड के भय से, बदनामी के भय से मनुष्य असत्य बोलता है। जो असत्य नही बोलेगा, वह बदनामी होने जैसे काम ही नही करेगा। अगर करता होगा तब भी छोड देगा।

सत्य से सुधार

✓ हमारे यहाँ एक कहानी आती है। सेठ जी के एक लडका था। इकलौता था इसलिए लाडेसर था। लाड-प्यार से कुसगति मे पड गया और धीरे-धीरे सातो कुव्यसनो मे अग्रणी हो गया। सेठ जी ने पुत्र को बहुत समझाया पर चिकने घडे पर छीटा लगे तो उसको शिक्षा लगे। सेठ जी बिचारे बड़े दु खी थे। सोचा पूर्वजो की मान-प्रतिष्ठा, खानदान की इज्जत को मैं सँभाल कर रख रहा हूँ, पर यह पेट का कीडा उन सब पर पानी फेर देगा।

एक दिन नगर मे कोई मुनिराज पधारे। सेठ जी गये। मुनि का उपदेश सुनकर सेठ को विश्वास हुआ कि इनके उपदेश से मेरा पुत्र अवश्य सुधर सकता है। इनकी वाणी मे वह जादू है जो किसी भी पथभ्रष्ट को सन्मार्ग पर ला सकती है। सेठ ने मुनि से निवेदन किया—"प्रभो! आपकी कृपा हो तो यह नैया पार लग सकती है। मेरा पुत्र बिल्कुल पथ-भ्रष्ट हो चुका है, आपके उपदेश से वह सुधर सकता है।"

मुनिराज ने कहा—"अपने पुत्र को हमारे पास लाइए, 'सपर्क से सस्कार भी बदले जा सकते हैं।" सेठ जी की प्रेरणा से आखिर पुत्र मुनि के चरणो मे पहुँचा। मुनि ने उसे समझाया, प्रतिदिन प्रवचन मे आने को कहा।

उसने कहा—"महाराज ! प्रवचन सुनने को तो आऊँगा, लेकिन मेरी एक शर्त है ?"

मुनि ने पूछा—"क्या शर्त है ?"

"मुझमे कुछ व्यसन पडे हुए है, आप कभी भी व्यसन छोडने की वात नही कहेगे। त्याग—पचखाण करने की वात कहेंगे, तो मैं उसी दिन से आना वन्द कर दूँगा।"

मुनि ने कहा—"भाई ! ठीक है।" और अव सेठजी का लडका प्रतिदिन मुनि के पास आने लगा। वैठता, बात-चीत करता। धीरे-धीरे उसके हृदय मे सस्कार जमने लगे। मुनि के प्रति श्रद्धा वढने लगी। एक दिन प्रसग देखकर मुनि ने कहा—"तू चोरी करता है तो इसके लिए मैं कुछ नही कहूँगा। परस्त्री गमन करता है तो भी मुझे कुछ नही कहना है। मास खाता है, मद्य पीता है, जुआ खेलता है, वेश्यागमन करता है और शिकार खेलने को जाता है तो भी तू जाने, मैं कुछ नही कहता मुझे तो सिर्फ एक वात कहनी है, बोल मानेगा ?"

लडके ने आश्चर्य के साथ कहा—"जव इन सव वातो के लिए कुछ नही कहना है तो फिर क्या वात कहनी है ?"

मुनि ने कहा—"एक वात ! सिर्फ एक वात ! झूठ कभी नही वोलना !"

लडका कुछ देर सोचता रहा—"झूठ नही वोलना ! वहुत साधारण वात है ? इससे मेरी आदतो पर कोई असर पडने वाला नही है—चलो जिन्दगी मे एक प्रतिज्ञा ली सही।" और मुनि से वोला—"अच्छा महाराज ! आपकी वात मानूँगा।" मुनिराज ने उसे जीवन भर के लिए झूठ न वोलने का सोगन करवा दिया। सेठजी ने सुना तो उनके जीवन मे सुख का जैसे नया सचार हो गया। सोचा—"अव गाडी लाइन पर आ गयी है। त्याग के नाम से चिढने वाला, प्रतिज्ञा के नाम से दूर भागने वाला आज एक प्रतिज्ञा मे वँधा है तो वस उसका रास्ता वदल गया है। कल तक सही रास्ते पर आ ही जायेगा।"

हाँ तो, अव सत्य वोलने का सकल्प लेकर सेठ का पुत्र अपने घर आया। कुछ देर वाद जुआ खेलने का समय हुआ और घर से निकल कर अड्डे की ओर जाने लगा। घर से निकला ही था कि उधर से वडे मुनीम जी सामने मिल गये। उन्होने पूछ लिया—"कुँवर साहव ! कहाँ जा रहे हो ?" लडका सकपकाया, सोचा—आज ही सिर मुँडाया और आज ही ओले पड गये। आज ही तो झूठ वोलने का त्याग किया है, और अव सच कैसे वोलूँ कि जुआ खेलने जा रहा हूँ। पिताजी के तुल्य है ये ! इनके सामने कैसे कहूँ ?

लडका कुछ नही बोला और चुपचाप मुनीम जी के साथ घर लौट आया। आज पहली बार उसने जुआ खेलने का समय चुकाया।

सध्या का समय हुआ, स्नान आदि करके वेश्या के घर की ओर कदम वढाया। कुछ दूर चला ही था कि उधर से वड़े भाई साहब आ निकले! पूछा "वाबू, कहाँ चला ?" वावू के तो हाथ-पैर ठडे पड गए ? अचकचाकर एक मिनिट खडा रह गया। सोचा—क्या उत्तर दूँ ? असत्य तो वोल नही सकता। और सत्य कहूं तो किस मुँह से कहूँ कि वेश्या के यहाँ जा रहा हूँ। बड़े भाई हैं, उनका कुछ कायदा भी होता है, अदव होता है, इतनी हीन वात उनके सामने मुँह से निकल नहीं सकती। वस, चुपचाप भाई साहव के साथ वापस घर लौट आया। आदत पडी हुई होने से घर मे उसका दिल नही लग रहा था, थोडी देर हुई और मयखाने की ओर जाने का विचार किया। जाने की तैयारी करके निकला ही था कि पिताजी ने पूछ लिया—"वेटा! किधर की तैयारी है?" अव तो उसे जैसे काठ सूँघ गया। सोचा आज तो शकुन ही खराब हो रहे हैं, जब भी कही जाने को निकलता हूँ कि कोई न कोई पूछ बैठता है और जाना रुक जाता है। अव पिताजी के सामने कैसे कहूं कि "दारू पीने जा रहा हूँ! वडी शरम की बात है, यह तो।" आखिर खानदान का लडका था, आँख की शर्म थी ? जाने की तैयारी छोडकर घर मे जाकर सो गया।

घरवालो ने देखा—पहली बार कुँवर साहब ने समय पर खाना खाया है और समय पर सोये है। आज ही जीवन मे प्रतिज्ञा का चमत्कार होने लग गया है। हाँ, तो अव उसके जीवन मे धीरे-धीरे वह परिवर्तन आने लगा कि घर वाले देख कर चकित थे। वह अपने व्यसनो की पूर्ति करने इधर-उधर जाता, और कोई उसे पूछ लेता—तो न सच कहते वनता और न झूठ कहते। सच वोलने मे शर्म आती, झूठ वोलने मे प्रतिज्ञा टूटने का भय था। जो सकल्प किया उसका भी वह पक्का था। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही समय मे उसकी सब बुरी आदतें छूट गयी। जो पाप छुपकर करता था, और असत्य वोलकर दवाता था, वह दवाने की आदत छूट गई, असत्य वोलने की वृत्ति वद हो गई और जीवन मे महत्त्वपूर्ण सुधार आ गया।

वधुओ! यह सत्य का चमत्कार है, सत्य वोलने का सकल्प जिस जीवन में जग गया, वह जीवन प्रकाश की ओर वढ गया। सत्य मे साहस होता है। असत्य मे कायरता! सत्य मे स्पष्टता होती है, असत्य मे छिपाव! अन्याय का मार्ग छिपाव का मार्ग है, कायरता का मार्ग है।

आप जानते है, अन्याय करने वाला कभी भी अपने अन्याय को स्वीकार नही करता, उस अन्याय को छुपाने के लिए वह असत्य का सहारा लेता है। इस प्रकार असत्य एव अन्याय का गठबधन हो जाता है। अन्याय से असत्य बढता है और असत्य की छाया मे अन्याय पलता है। इसलिए अन्याय का दुर्व्यसन का एव दुराचार का प्रतिकार करने के लिए सबसे पहले असत्य का प्रतिकार करना होगा। असत्य छोड दिया तो समझ लीजिए अन्याय एव दुराचार की जड कट गई। एक पौराणिक उदाहरण मैंने आपके समक्ष अभी रखा ही है, अब इतिहास की एक घटना भी मुझे इस प्रसग पर याद आ रही है, वह भी आपके सामने रख रहा हूँ।

सत्य का संकल्प करो

साबरमती आश्रम मे, जब गाधीजी वहाँ रहते थे, तो कुछ छात्राएँ भी वहाँ अध्ययन करती थी। गाधीजी हरएक वस्तु का बडी बारीकी से निरीक्षण करते थे—खास करके कार्यकर्ता एव विद्यार्थियो का। गाधीजी निरीक्षण करते हुए छात्राओ के आवास की ओर चले गये। छात्राओ से उन्होंने कई बातें पूछी, एक प्रश्न किया—"तुम मे से कोई कभी झूठ भी बोलती हो या नही ?"

गाधीजी के प्रश्न पर पहले तो सन्नाटा छा गया, फिर वे काना-फूसी करने लगी, क्या उत्तर दें इस बात का ? आखिर हिम्मत करके उन्होंने कहा—"बापूजी! काम करने से जी चुराने के लिए कभी-कभी झूठ बोल देती है।"

गाधीजी ने गभीर होकर कहा—"यह तो और भी बुरी बात है! काम से जी चुराना यह भी एक बुराई है, और फिर उसके लिए झूठ बोलना यह तो बहुत बडी बुराई है। इससे तो तुम्हारी प्रगति के सब रास्ते ही बद हो जायेंगे। असत्य बोलने से तुम्हारे जीवन मे कायरता आयेगी, और कायर आदमी कभी कोई महान् कार्य नही कर सकता। सत्य बोलने से मन मे साहस जागृत होता है, और साहस से ही जीवन का उत्थान हो सकता है। इसलिए तुम सबसे पहले अपने जीवन मे सत्य बोलने का सकल्प लो।" गाधीजी ने फिर एक दूसरा प्रश्न किया—"अच्छा, यह बताओ, तुम मे से झूठ बोलने मे कौन सबसे आगे है ?"

गाधीजी के प्रश्न ने छात्राओ को झकझोर दिया। उनमे आत्ममथन करने की प्रेरणा जगी। कुछ देर बाद एक छात्रा बोली—"बापूजी! मैं हूँ सबसे आगे।"

गाधीजी ने उसकी ओर देखा और कहा—"वहिन ! तुम झूठ वोलने मे मबसे आगे क्यो हो ? क्या तुम्हें पता नही है कि इससे हमारा आत्मपतन होता है, जीवन का विकास रुक जाता है ।"

छात्रा ने कहा—"वापूजी ! सत्य वोलने का प्रयत्न तो करती हूँ, फिर भी चूक हो जाती है ।" गाधीजी ने गभीर होकर कहा—"गलत वात है ! यदि सत्य वोलने का सही प्रयत्न किया होता तो जीवन मे इस प्रकार की चूक नही आ सकती ! मन मे सत्य वोलने का दृढ सकल्प जगाओ, फिर कोई शक्ति तुम्हे अपने सकल्प से गिरा नही सकती । छात्राओ को आत्मवल जगाने की प्रेरणा देते हुए गाधीजी ने कहा—"प्रात काल उठकर भगवान के सामने प्रार्थना करो कि—'भगवन् ! मुझे सत्य वोलने का वल दो ! असत्य के गर्त मे जव तव गिर पड़ूँ तो कृपा करके मुझे ऊपर उठा दो ।' इस प्रकार की भावना से तुम्हारे हृदय मे सत्य का वल जगने लगेगा, तुम असत्य के गर्त मे गिरते-गिरते भी वच जाओगी और फिर सायकाल के समय आत्मचितन करो कि 'आज की मेरी दिनचर्या मे कितनी वार असत्य का आचरण हुआ, कितनी वार मैं अपने सकल्प से गिरी, और क्यो गिरी ?' अपनी गलतियो को नोट करो और उन्हें सुधारने का सकल्प करो ! इस प्रकार जीवन मे सत्य की निष्ठा पैदा हो जायेगी, हृदय मे राम विराजमान हो जायेंगे और जीवन मे सही परिवर्तन होगा !"

गाधीजी का छात्राओ को दिया हुआ यह प्रेरणा-सदेश—हर एक सत्य-साधक के लिए आवश्यक है । साधक के मन मे जव सत्य की अटूट निष्ठा जग जाती है, तो ईश्वर अपने आप हृदय मे विराजमान हो जाते हैं और यही तो धर्म का सार है । कहा है—

ग्रन्थ पंथ सव जगत के वात वतावत तीन ।
राम हृदय, मन मे दया, तन सेवा में लीन ॥

ससार के जितने भी ग्रन्थ है, जितने भी पथ है, और जितने भी सत हैं—वे ग्रन्थ, पथ और संत ये तीन ही वातें वताते हैं । पहली वात है—हृदय मे राम ! राम का निवास मदिर मे नही, हृदय मे होना चाहिए । जिस हृदय मे राम विराजमान हो गये, वह जीवन कितना ऊँचा और कितना पवित्र हो जाता है ? उस जीवन मे कितना साहस जग जाता है ? वह फिर अन्याय एव असत्य के सामने कभी झुकता नही । दूसरी वात है—मन मे दया ! राम जव हृदय मे होगा अर्थात् हृदय ईश्वर मे लीन होगा तो मन अवश्य ही करुणा से ओत-प्रोत रहेगा । भगवद्भक्त का हृदय कभी कठोर

एव निष्ठुर नही हो सकता। वह कभी किसी के साथ कटु एव अन्यायपूर्ण व्यवहार नही कर सकता। किसी को दुखी व पीडित देखकर उसकी उपेक्षा नही कर सकता, वह अपने तन को उसकी सेवा मे लगा देता है, और सदा निस्पृहभाव से परोपकार करता रहता है।

तो बधुओ! न्यायमार्ग पर चलने के लिए सबसे पहले जीवन मे सत्य के प्रति निष्ठा होनी चाहिए। मन मे यह दृढ विश्वास होना चाहिए कि—सांच को कभी आंच नही। सत्य कभी भी निष्फल नही होता। सत्य की नाव कभी मझधार मे नही डूबती, कितने ही तूफान आयें, झझावात उठें, वह उनसे सघर्ष करती हुई आखिर अपने किनारे को प्राप्त कर ही लेती है। ऋग्वेद मे कहा है, सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्—सत्य की नाव धर्मात्मा को पार लगाती है। भगवान महावीर ने तो इससे भी बडी बात कही है—**सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ**[1]—सत्य मे स्थिर हुआ बुद्धिमान साधक मृत्यु को भी जीत लेता है। सत्य की महिमा इसलिए है कि सत्य जीवन का आधार है। वेदो मे सत्य एव ऋत् दो शब्द आते है। सत्य का अर्थ तो आपने सुना ही है, ऋत् का अर्थ है—सीधी रेखा, नियम, न्याय! अर्थात् न्यायपूर्वक आचरण करना यह ऋत है। अथर्ववेद मे एक जगह कहा है—सत्य एव ऋत् के आधार पर यह पृथ्वी टिकी है।[2] इन सब बातो से यह स्पष्ट है कि जीवन मे न्यायपूर्वक आचरण करने के लिए सत्य का सकल्प होना अनिवार्य है। गृहस्थधर्म की नीव न्याय पर टिकी है, उस नीव को स्थिर करने के लिए सत्य का आधार आवश्यक है। इसलिए मैंने न्याय-अन्याय की परिभाषा मे आपको बताया कि—असत्य आचरण करना अन्याय है, सत्य का आचरण करना न्याय है। अन्याय के अगले दो विषयों पर आपके समक्ष फिर चर्चा की जायगी।

☆☆

---

१. आचाराग १।३।३　　　　२. अथर्ववेद १२।१।१

३

अन्याय की जड़

एक बार गुरु नानकदेव किसी जगल मे साधना कर रहे थे। एक बडे जागीरदार ने उनकी सेवा की। विविध पकवानो से सजाकर एक थाल उनके भोजन के लिए लाया और प्रार्थना की—"गुरु! कुछ प्रसाद लो!" कुछ देर बाद एक गरीब भक्त आया, और वह अपने साथ दो रूखी रोटी लाया था। उसने भी गुरु के चरणो मे प्रसाद रखा।

गुरु नानकदेव ने रूखी रोटी मे से एक कौर तोडा और बड़े आनन्द के साथ खाया। जागीरदार ने प्रार्थना की—"गुरु! इसमे से भी कुछ प्रसाद लीजिए!"

नानकदेव ने कहा—"जो मिठास इन रूखी रोटियो मे है, वह तेरे इन पकवानो मे नही है। तेरे पकवान रक्त से सने हुए हैं। इनमे बदबू आ रही है।"

जागीरदार चौंका—"रक्त से कैसे सने है?" कहते हैं गुरु ने उसमे से एक कौर तोडा, उसे निचोडा तो उसमे से रक्त की बूंदें निकलीं। जागीरदार दग था। गुरु ने कहा—"तेरी रोटी अन्याय की रोटी है, इसमे गरीबो का रक्त सना है। मुझे तो न्याय की रोटी प्रिय है, भले ही वह रूखी हो।"

इस बात मे अतिशयोक्ति हो सकती है, किन्तु यह बात सच है कि अन्याय के पकवानो से न्याय की रूखी रोटी मीठी होती है, अन्याय के लाखो करोडो रुपयो से भी न्याय का एक पैसा अधिक बरकत करता है।

महाभारत का प्रसग तो आपने सुना ही है, जब श्री कृष्ण शान्ति प्रस्ताव

लेकर दुर्योधन के पास आते हैं तो दुर्योधन उनके स्वागत मे मिष्ठानो के थाल सजाकर रखता है, पर श्री कृष्ण ने उनमे से एक ग्रास भी नही लिया और विदुर के घर आकर केले के छिलके भी प्रेम से खा लिये।

"दुर्योधन के मेवा तज कर, केल विदुर घर खाये।"

क्या बात थी यह ? क्या दुर्योधन के पकवानो मे जहर मिला था ? हाँ, पर वह जहर कौन-सा था ? अन्याय का, बन्धु-द्रोह का, विश्वासघात का ? उसका धन, अन्न एव मन सब बन्धुद्रोह के विप से भरे हुए थे। उसकी सम्पत्ति अन्याय की सम्पत्ति थी, उसका वैभव विश्वासघात से प्राप्त हुआ था। इसलिए श्रीकृष्ण ने उसके पापमय अन्न का एक कण भी मुंह मे नही लिया, और न्याय-नीतिनिष्ठ विदुर के घर पर आकर जब भोजन माँगा तो प्रेम-विह्वल विदुरपत्नी ने केले लाकर रखे, उनको छीलने लगी और उसे पता ही नही चला कि केले खुद खा रही है, छिलके श्रीकृष्ण को दे रही है। और श्रीकृष्ण को वे छिलके भी बडे मीठे लगे। क्योकि वह नीतिनिष्ठ विदुर के घर का था और वह प्रेम व स्नेह के रस से भरा था।

असत्य का चक्र

बन्धुओ ! इसीलिए हमारे धर्मशास्त्रो मे बताया है—सद्गृहस्थ को न्यायपूर्वक आजीविका करनी चाहिए। गृहस्थ के घर का आश्रय सब कोई लेते हैं—साधु, सन्यासी, भिक्षु, अतिथि ! यदि गृहस्थ के घर का अन्न पापमय है, उसका धन अन्याय से आया हुआ है, तो वह अपवित्र है। हो सकता है वह जिसके पास जाये उसकी बुद्धि को भी खराब कर दे ! भ्रष्ट कर दे ! इसीलिए धन की पवित्रता पर नीतिशास्त्रो ने बल दिया है। मनु ने, जो कि हिन्दुओ के सबसे प्राचीन धर्मशास्त्रकार है, कहा है—"योऽर्थे शुचिर्हि स शुचि."[1]—जो अर्थ के मामले मे शुद्ध है, पवित्र है, जिसके धन कमाने के तरीके न्याययुक्त हैं वही गृहस्थ वास्तव मे पवित्र है, शुद्ध है। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने गृहस्थधर्म का पहला विशेषण दिया है—"न्यायसंपन्न विभवः।"

कल भी मैंने आपके समक्ष न्याय की चर्चा की थी, और बताया था कि—असत्य का आचरण अन्याय है। आज भी इसी विषय पर विस्तार करना है।

रिश्वत और मिलावट

'असत्य' शब्द बहुत व्यापक है। इसमे बेईमानी, अप्रामाणिकता, रिश्वत,

---

१. मनुस्मृति

मिलावट, कम तौल-माप ये सब बातें आ जाती हैं। इन चीजो की व्याख्या तथा विश्लेषण करने की आज आवश्यकता नही है। हमसे अधिक आप इन चीजो को जानते है, दरअसल ये आप लोगो ने ही तो पैदा की है। रिश्वत, मिलावट और तौल-माप की गडवडी कहाँ होती है ? साधुजी के पास होती है या आफिस और दुकान मे ! वहाँ आप ही बैठते है, कुर्सी पर भी आपके ही भाई हैं और दुकान पर भी आपके ही भाई है। कुर्सी वालो को रिश्वत की चाट आप लगाते हैं। अपने छोटे से स्वार्थ के लिए पहले उनकी आदत बिगाडते है, सीधे तरीके से काम होने मे जब अडचन आती है तो पीछे से रिश्वत खिलाकर काम कराते हैं। आप खुश होते होगे कि कितना होशियार हूँ, बस एक नोट पटका कि 'चट रोटी पट दाल' सब काम बन गया। पर आप जानते हैं कि इसके परिणाम कितने घातक होते हैं ? रिश्वत खाने वाला अफसर फिर आपको कितना परेशान करता है, और आप ही फिर उन्हे गालियाँ देते हैं—"साले बेईमान हैं, रिश्वतखोर हैं। हराम का पैसा खाते है। नाक मे दम कर रखा है।"

रिश्वत खाने वाला अधिकारी भी शायद आपके चमचमाते नोट देखकर प्रसन्न हो जाता होगा कि तनखा तो मिलती है—३००-४०० और ऊपर का मिल जाता है—१०००-१५००, पाँचो अगुली घी मे हैं। पर वह नही सोचता, जो बनिया उसे हराम का खिला रहा है, वह अपनी जेब से नही, उसी की जेब से काटेगा, उसका दस गुना वसूल कर लेगा। आप देखते हैं कि जिन कर्मचारियो को दो सौ रुपये मिलते थे, वे महीने भर आराम से गुजर कर लेते थे। और आज, जिन्हे हजार रुपये मिलते हैं, वे भी बीस-पच्चीस तारीख के बाद खाली हाथ हो जाते हैं। आज हजार पन्द्रह सौ मे भी उनकी गुजर नही होती है ? आखिर वह पैसा कहाँ जाता है ? जमीन मे तो नही जाता, आकाश मे भी नही उडता ! वह जाता है उन्ही हाथो मे, जिन हाथो को मजबूर करके वे दस-बीस-पचास रुपया रिश्वत खाते हैं। वे ही महंगाई बढ़ा देते है, घटिया चीज देते हैं, माप-तौल मे गडवड करते हैं, और उन्ही से एक का दस वसूल कर लेते है, तो इस प्रकार असत्य का चक्कर चलता है, दोनो ओर बेईमानी का दौर चलता है और मजा तो यह है कि रिश्वतखोर व्यापारियो को गाली देता है, व्यापारी रिश्वतखोरो को ! दोनो मे कोई सुखी नही है, किसी को चैन नही है। दोनो को लगता है कि चाँदी बना रहे हैं, पर वह चाँदी कहाँ उड जाती है, पता ही नही चलता। वह बेईमानी का पैसा घर मे टिकता नही, उल्टा ब्याज समेत वापस जाता है। तकलीफ देकर जाता है, कष्ट छोडकर जाता है।

मैं नही बताना चाहता कि आज किस प्रकार की मिलावटखोरी चल रही

है, आप मुझ से अधिक जानते हैं, मैं तो सिर्फ सुनी-सुनाई बात कहूँगा, आप तो इसके आविष्कारक हैं। रोज-रोज नई-नई घटनाएँ हो रही हैं, बेईमानी के एक से एक आला तरीके निकल रहे हैं। खाद्य पदार्थों मे मिलावट, दवाइयो मे मिलावट, सीमेंट मे मिट्टी, मिट्टी के तेल मे पानी और शायद पानी मे भी कुछ मिलावट निकली या नही, पता नही। कहते है कि एक आदमी मरने के लिए जहर लाया और खाकर सो गया, पर जहर का कोई असर नही हुआ, वह तो वैसे ही भला-चगा सोया रहा। उसको दुकानदार पर बडा क्रोध आया और गालियाँ देने लगा कि "साला! जहर मे भी मिलावट कर देता है। जहर भी खालिस नही मिलता अब जीयें तो कैसे? और मरें तो कैसे?"

बात यह है कि इस मिलावटखोरी से शायद आप दो पैसे ज्यादा भले ही कमा लें, पर उससे स्वास्थ्य कितना चौपट हो रहा है—बीमारियाँ कितनी बढ रही हैं—यह भी आप देख रहे हैं। आज बढिया मकान बनाया, एक भी वर्षा नही निकली की फट गया, पानी चूने लग गया। आप इजीनियर को गाली देंगे—ठेकेदार को गाली देंगे और वे सीमेंट वाले व्यापारी को, माल सप्लाई करने वाले कट्राक्टर को! इस प्रकार चक्कर घूमता रहता है, पर समस्या का कोई हल नही हो पाता।

ठग-ठगांरै पावणा

एक कवि ने कहा है—एक बार शहद की मक्खी ने किसी राजा के पास जाकर शिकायत की—

रोकर नृप के पास शहद की मक्खी बोली,
नाथ, हमारे भवन चली डाकुन की टोली।
सारा शहद समेट ले गये नट के लडके,
मिट्टी मे भी मिला शहद छत्ते से झडके।
नृप के हाथ गुलाब का फूल, वह बोला हँसकर वहीं,
और डाका डाला एक दिन तुमने हम पर नहीं?

"महाराज! आपके राज्य मे कैसा अन्याय हो रहा है, लोग हमारे घर-बार उजाड देते हैं, घरो मे आग लगा देते हैं, फिर भी आप कुछ नही करते?"

राजा ने कहा—"हुआ क्या?"

मक्खी बोली—"नट के लडको ने हमारे छत्ते पर हमला किया, हमने जीवन भर परिश्रम करके जितना शहद एकत्र किया था, वह सब का सब चुरा कर ले गये, छत्तो को तोडकर मिट्टी मे मिला गये। अब हम बेघर-बार हो गई।

महाराज ! आपके शासन मे भी इतना अन्याय ? दूसरो के घरो पर ऐसे दिन-दहाड़े डाका डाला जा रहा है ?"

राजा के हाथ मे गुलाब का फूल था, मक्खी की बात सुनकर वह मुस्कराया और बोला—"क्योरी ! तुमने भी तो एक दिन हमारे घरो पर डाका डाला था ? तब तेरा न्याय कहाँ चला गया था ?"

आज व्यापारी व अधिकारी वर्ग भी इसी स्थिति मे चल रहा है । स्वय दूसरो की गांठ काटते हैं, भय और रौब से पैसे ऐंठते हैं, और जब उनकी गांठ कटती है तो शिकायत ! बेईमानी और भ्रष्टाचार का शोरगुल ! तो इस प्रकार आज बात यह हो रही है कि 'ठग-ठगारै पावणा' एक ठग दूसरे ठग को ठग रहा है, एक डाकू दूसरे डाकू पर आक्रमण कर रहा है ।

मनुष्य जब किसी को धोखा देता है, उसके साथ अन्याय करता है तब वह यह नही सोचता कि एक दिन यह भी मेरे साथ धोखा करेगा, अन्याय करेगा । जैसी मेरी ध्वनि है, वैसी ही तो प्रतिध्वनि होगी—"**यादृशी ध्वनिस्तादृशी प्रतिध्वनि.**" । कूए मे या किसी शून्य स्थान मे जैसी आपकी ध्वनि निकलेगी, वैसी ही तो प्रतिध्वनि वहाँ गूंजेगी । जैसा व्यवहार आप किसी के साथ करेंगे वैसा ही व्यवहार आपके साथ सर्वत्र होगा । यह नही होता कि—

"बीज आक का बोय के खाया चाहे आम"

आक लगाकर आम खाने की इच्छा रखना मूर्खता है । अन्याय करके, धोखा देकर, विश्वासघात करके यदि आप चाहे कि आपके साथ न्याय हो, कोई आपको धोखा न दे, आपके मित्र व परिचित आपके साथ कोई विश्वास-घात न करे तो यह कैसे सम्भव है ?

किसी सेठ जी ने अपने यहाँ एक नौकर रखा । नौकर कुछ दिन बाद एक दिन सेठजी की छतरी लेकर बिना कहे ही नौ-दो-ग्यारह हो गया । अब सेठजी का कोई परिचित मिलता तो बात-बात मे सेठजी यही बात कहते—"भई, आज का जमाना बडा खराब है, विश्वास नाम की तो चीज ही उठ गई, किसी पर भरोसा करना ही बुरा है ।" एक मित्र ने पूछा—"सेठजी ! ऐसी क्या बात हुई ?"

सेठजी बोले—"भाई ! एक नौकर रखा था कुछ दिन तो रहा. एक दिन छतरी उठाकर बिना कहे ही रवाना हो गया ।"

मित्र ने पूछा—"छतरी कब खरीदी थी, कितने की थी ?" सेठजी ने जवाब दिया—"भई खरीदी-बरीदी तो मैंने नहीं, यो ही एक दिन रेल मे सफर करते

हुए मिल गयी थी। किसी मुसाफिर ने मेरे पास रखी थी, जब मैं उतरा तो अपने हाथ मे दबाकर ले आया।"

मित्र ने हँसकर कहा—"तब तो फिकर की बात नही, जैसा आपने मुसाफिर के साथ किया, वैसा नौकर ने आपके साथ कर दिया। गुरु को गुरु ही मिल गया!"

मतलब यह है कि जब आपके साथ अन्याय होता है, विश्वासघात होता है तो आपकी आत्मा तिलमिला उठती है, आपके हृदय पर चोट लगती है, बहुत बड़ा आघात लगता है, आप सोचते हैं—संसार कैसा है, कैसा जमाना आ गया, किसी पर विश्वास करना अपने को खतरे मे डालना है। आप चिल्ला-चिल्ला कर अन्याय और विश्वासघात की शिकायत करते हैं। संसार को गालियाँ देते हैं, और सबको धोखेबाज बताते है। पर जरा सोचिए, जब आप किसी के साथ विश्वासघात करते हैं तो तब भी क्या ये विचार आपके हृदय मे उठते हैं? तब भी आपकी आत्मा मे दर्द होता है? कोई टीस उठती है कि नही? उस समय आप कैसे अनुभव शून्य जैसे बन जाते हैं, वीतरागी जैसी बातें करते हैं। दूसरो के दुःख-दर्द से बिलकुल अनजान बन जाते हैं, बस अपनी रोटी सेंकने के फिक्र मे रहते हैं, भले ही गरीब की झोपड़ी जले, या मियाँजी की दाढी जले?

मैं मानता हूँ कि यदि मन मे अनुकम्पा या दया की भावना होगी तो आप इस प्रकार किसी के साथ अन्याय नही कर सकते, विश्वासघात नही कर सकते और किसी को धोखा नही दे सकते। मनुष्य अन्याय दो स्थितियो मे करता है, पहली स्थिति है—क्रूरता, अत्यन्त लोभाकुलता। मनुष्य क्रूर होकर दूसरे की पीड़ा को भूल जाता है, दूसरो की तकलीफ का अनुमान उसे नही होता। उसकी बुद्धि मे अनुभव की यह जागृति नही होती कि जिस चाकू से मेरी अंगुली कट सकती है और उससे जो पीड़ा होती है, वैसी ही पीड़ा दूसरे को भी होती है। लोभ के वश होकर दूसरे की पीड़ा की अनुभूति की अवहेलना कर देता है, सोचता है—क्या है, दर्द होगा तो कुछ देर मे लेगा। हमे तो पैसे मे मतलब है! पैसा ही अपना परमेश्वर है।

अन्याय करने का दूसरा कारण है—नास्तिकता! परलोक मे, पुनर्जन्म मे अविश्वास! जो यह मानता है कि आगे-पीछे कुछ नहीं है, जो कुछ है सो यही है फिर जितने दिन संसार मे जीना है, मजे से जीना—"ऋण कृत्वा घृतं पिबेत्—कर्ज लो और माल उड़ाओ। बुराई-भलाई का कोई फल आगे नही मिलने वाला है। इस प्रकार की धारणा वाला मनुष्य अन्याय, अत्याचार एवं विश्वासघात करने मे कभी सकुचाता नही।

मैं आपसे पूछता हूँ कि आप में कौन-सी भावना प्रवल है ? शायद दूसरी वृत्ति तो नही है। परलोक एव पुनर्जन्म मे आपका विश्वास है, इसलिए आप वहुत वडे अन्याय करने मे तो सकुचाते है, दूसरो को लूटना, डाका डालना, हत्या करना—ये वडे पाप भी आप नही करते। पर पहली वृत्ति और उसमे भी लोभवृत्ति आप मे प्रवल है। इसलिए दूसरे के दर्द एव दुख को समझते हुए भी आप लोभ के वश होकर उसे भूल जाते है और उसी स्थिति मे ये वुराइयाँ जन्म लेती हैं। मिलावट और कम तौल-माप की भावना लोभ की अधिकता के कारण ही प्रवल होती है। स्थानागसूत्र मे वताया गया है कि जव मन मे कपट, धूर्तता एव वक्रता का भाव प्रवल होता है तव मनुष्य कूट-तौल-माप करता है, और इसी कारण वह तिर्यंच गति का वन्ध करता है। दूसरे को छलने की, धोखा देने की भावना से वह माप-तौल की यह चोरी करता है। आप चौंकेंगे कि यह चोरी कैसे ? पर, मैं वताऊँ कि भारतीय नीति ग्रन्थो मे—दो प्रकार के चोर वताये है, एक प्रकाश (प्रकट) चोर तथा एक अप्रकाश (गुप्त) चोर। मनुस्मृति (९।२५६)[1] मे वताया है गलत तराजू एव वटखरे वाले व्यापारी, जुआरी, मिथ्याचिकित्सक (नकली वैद्य) घूँसखोर, वेश्याएँ, नकली वस्तु देने वाले व्यापारी, जादू-टोना करने वाले—आदि ये प्रकाश-तस्कर हैं। दिन-दहाडे चोरी करने वाले है। गुप्त चोर (अप्रकाश तस्कर) हैं उचक्का (उत्क्षेपक), सेंध लगाने वाला (सधिभेत्ता), जेवकतरा (ग्रन्थिभेदक), आदि। वे तो छिपकर चोरी करते है। जैनशास्त्रो मे इसीलिए अचौर्यव्रत के अतिचारो मे हीनाधिकमानोन्मान एव प्रतिरूपक व्यवहार असली दिखाकर नकली देना की गणना की गई है। जो गृहस्थ ऐसा करता है, वह चौर्य कर्म करने वाला कहा जाता है। आप चाहे साहूकार के वेटे हो, किन्तु दुकान पर वैठकर किसी को ठगते हैं तो वास्तव मे आपकी वृत्ति साहूकार की नही, चोर की है, तस्कर की है। आपने कभी अनुभव किया होगा कि जो व्यक्ति ठगा जाता है, जिसके साथ धोखा होता है—उसके मन पर क्या गुजरती होगी ? कितनी चोट लगती है उसके मन पर, और मन ही मन ठगने वाले को कितनी दुराशीषे और कितनी गालियाँ देता होगा ?

अपने राजस्थान मे एक कहानी वहुत प्रसिद्ध है कि एक सग्रामसिह नामक चारण था। एक वार घर मे प्रसूति का अवसर आया तो पत्नी ने कहा—"घर मे अजवायन कही रखी हुई थी, आज ढूँढ-ढूढ कर हार गई, कही दिखाई नही

---

१ देखिए 'धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ० ८२५ तथा स्मृतिचन्द्रिका (वृहस्पति) पृष्ठ ३१।

दे रही है, अब समय नजदीक है, समय पर कहाँ से आयेगी, इसलिए आप सेर भर अजवायन ले आइए।"

चारण विचारा सीधा-सादा था। बोला—"पास मे पैसे का तो अभी जुगाड नही है और बनिया उधार देगा नही, इसलिए लाओ यह थाल रखकर अजवायन ले आता हूँ।" चारण थाल लेकर बनिये की दुकान पर गया और सेर भर अजवायन मांगी। बनिये ने भी थाल बन्धक रखकर अजवायन दे दी। चारण घर पर आया तो पत्नी ने कहा—"लो, अब मिल गई। इसलिए इसको वापस लौटा दो।" चारण वापस लेकर आया और बोला—"शाह जी! घर पर अजवायन ले तो गया था, पर पहले रखी हुई मिल गई, इसलिए इसको वापस ले लीजिए, और मेरा थाल लौटा दीजिए।"

शाहजी की त्योरियाँ चढ गईं। बोले—"मैं क्या जानूं, तेरी मिल गई तो रख। मैं बेची हुई चीज वापस नही लेता, क्या पता इसमे से तुमने कुछ निकाल ली हो?"

चारण बोला—"शाहजी! इन्सान पर विश्वास करो, अभी तो मैंने तुम्हारी पुडिया भी नही खोली, इस पर भी तुम्हारा मन न माने तो तौल लो, जितनी दी उसमे से एक दाना भी कम नही होगा।"

शाहजी ने अजवायन तराजू मे डाली तो अब तीन पाव ही बैठी, बोले—"देख, बेईमान कही का, पाव भर निकाल के रखली, और मुझे धोखा दे रहा है।" चारण को बडा आश्चर्य हुआ। बंधी की बंधी पुडिया मे एक पाव का फरक कैसे पड गया? उसने कहा—"सेठ! बेईमान मैं नही, तू है। तुमने ही यह तौलने मे फर्क डाला है। परमात्मा से कुछ तो डर!" उसने कहा—

सुण शाहजी! संग्राम कहे, वो-को-वो ही सेर
देता-लेतां पाव को, पड्यो किसी विध फेर?
पड्यो किसी विध फेर, इसी थे करी कमाई,
तोला बार हजार कमी नहीं राखी काई।
साहिब लेखो मांगसी देसी ऊंधो टेर
सुण शाहजी! संग्राम कहे है वो-को-वो ही सेर!

बन्धुओ! इस प्रकार की कमाई अन्याय की कमाई है। यह चौर्य कर्म है। सद्गृहस्थ को इस प्रकार धनोपार्जन करना अनुचित है।

मित्र एवं स्वामि-द्रोह

अन्याय की परिभाषा मे मैंने तीन बातें आपको बताई थीं, शायद भूले

नही होगे ? १—असत्य का आचरण, २—विश्वासघात और ३—मित्र एव स्वामी का द्रोह ! पहली दो बातो पर कुछ विचार आपके सामने आये हैं, अब तीसरी बात पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए।

नीति का एक श्लोक है—

सेतु गत्वा समुद्रस्य गगा-सागर संगमे।
ब्रह्महा मुच्यते पापै मित्रद्रोही न मुच्यते॥

प्राचीन काल मे ब्राह्मण की हत्या करना—सबसे बडा पाप माना जाता था और उसके लिए सबसे कठोर प्राणदण्ड की व्यवस्था थी। नीतिकार ने कहा है—समुद्रो के पार जाकर जहाँ गगा नदी समुद्र के साथ मिलती है उस सगम पर बार-बार स्नान करने से ब्राह्मण की हत्या करने वाला तो अपने पाप से फिर भी छूट सकता है, किन्तु मित्र के साथ द्रोह करने वाला पाप से कभी मुक्त नही हो सकता।

मित्र वह होता है जो एक-दूसरे पर विश्वास करे, एक-दूसरे को अपना हृदय सौप दे। उस स्थिति मे मनुष्य मित्र की ओर से सर्वथा निर्भय एव बेपरवाह रहता है, और सोचता है मित्र की ओर से मुझे कभी कोई खतरा होने वाला नही है, वह तो हमेशा मेरा भला करेगा। विश्वास की इस परिस्थिति मे यदि कोई मित्र किसी को धोखा देता है तो अचानक उसके हृदय पर कितनी भयकर चोट लगती है ? इसकी कल्पना आप इसी बात से कर सकते है कि जब सन् १९६२ मे चीन ने भारत की सीमा पर अचानक आक्रमण किया और नेहरू जी ने जब आकाशवाणी पर इस बात को पहली बार दुहराया तो रेडियो सुनने वाले बता रहे थे कि नेहरू जी से बोला नही गया, उनका गला रुँध आया, भर्रायी हुई आवाज मे उन्होने कहा—"चीन ने हमारे साथ जबर्दस्त विश्वासघात किया है, सामने से मित्रता का हाथ बढाकर पीठ पीछे छुरा घोंप दिया है।" तो एक राष्ट्र का नायक, राजनीति का मँजा हुआ खिलाडी भी विश्वासघात की इस चोट से आहत हो गया तो आप सोच सकते हैं सामान्य व्यक्ति की क्या दशा हो सकती है ? मित्र जो ऊपर से मीठी-मीठी बातें बनाकर दूसरे व्यक्ति को दिखाता है कि मैं तुम्हारा सच्चा हितैषी हूँ, मददगार हूँ। और जब वह उसकी बातो मे आ जाता है तो चुपके से ऐसी मार मारता है कि चारो खाने चित्त ! यह कितना बड़ा अन्याय है। जिसने तुम्हारे पर विश्वास किया है, अपना दिल तुम्हे दे दिया है, उसको धोखा देना कौन-सी विशेष बुद्धिमानी है ? जो तुम्हारे घुटनो पर सिर रख कर सोया है, उसे मार देना कोई वीरता है ?

विश्वासप्रतिपन्नाना वंचने का विशेषता !
अंकमारुह्य सुप्तानां हन्तुं किं नाम पौरुषम् ?

मित्र का ठगना सरल !

साधारणत. मनुष्य हरेक आदमी से सावधान रहता है, चौकन्ना रहता है, जल्दी से किसी के धोखे मे नही आता, किसी का विश्वास नही करता इसलिए उसे छलना कठिन होता है। किन्तु जहां मित्रता होती है, वहां असावधानी रहती है, और असावधान को छलना बहुत सरल होता है। एक भाई ने बताया कि उसके किसी रिश्तेदार की सराफे की दुकान थी। रिश्तेदारी मे जरा प्रेम भी था और विश्वास भी था। एक बार लडकी की शादी आई तो उसने सोचा गहना बनवाना है, और कही से बनवायेंगे तो माल भी खराब बनेगा और भाव-ताव भी ज्यादा लगेंगे, व्यापार-धन्धे मे इतनी फुर्सत है नही कि सुनार को सामने बैठा कर तैयार करवाएँ। इसलिए क्यो न अपने रिश्तेदार से ही यह काम करवा लिया जाय ? तो साहब उन्होने आर्डर दे दिया, और विश्वास था कि काम और दाम बिल्कुल सही होगा। लडकी की शादी पर बढिया-बढिया आभूषण आ गये और लडकी को चढा दिये। हिसाब-किताब भी हो गया। कुछ दिन बाद लडकी को कोई चीज पसन्द नही आई इसलिए उसे तुडवाकर नई फैशन की बनाने का विचार किया। बाजार मे दिखाया तो पता चला कि वह चौबीस कैरेट सोने का माल दरअसल चौदह कैरेट सोने से भी हल्का है। सोने मे खोट ही खोट भरदी। तो वह भाई जरा विचारशील था कह रहा था, इसमे उसकी क्या गलती है ? भूल हमारी थी कि हम मित्रता के नाम पर उसका आँख मीचकर विश्वास कर बैठे ! वह तो सोने का धन्धा करता है उसका नाम ही 'पश्यतोहर' देखते-देखते चुराने वाला है। उसका कौन मित्र ? कौन शत्रु ? सोना उसका सच्चा मित्र है, बाकी सब झूठे मित्र हैं। हमने उसे अपना सच्चा हितैषी समझ लिया, मित्र मान लिया और इसकी मजा मिल गई। अब धोखा-धोखा चिल्लाने से तो बेवकूफी ही जाहिर होगी।

मैं देखता हूँ कि आज मित्रता के नाम पर प्राय. इसी प्रकार की घटनाएँ ज्यादा होती हैं। मित्रता का आवरण डालकर मनुष्य को अन्धा बनाने का प्रयत्न होता है। धोखे के अधगर्त पर प्रेम की जाजम बिछाई जाती है और उसमे भोले-भाले मनुष्यो को ढकेलने की कोशिशें होती हैं। कही मित्रता के नाम पर ठगा जाता है और कही पर हत्या भी करदी जाती है। इस प्रकार की रोमांचित करने वाली घटनाएँ आए दिन अखबारो मे पढते है, सुनते हैं। दिल मे विचार आता है कि मनुष्य का ईमान कहाँ चला गया ? कहाँ गई

उसकी मनुष्यता ? नैतिकता ? एक जमाना था, जव सत तुलसीदास जी ने कहा था—

जे न मित्र दुख होहि दुखारी,
तिनहि विलोकत पातक भारी।

और एक जमाना आज है, जहाँ यह भावना पनप रही है—

हाय, मित्र को दिया न धोका,
व्यर्थ खो दिया स्वर्णिम मौका।

जहाँ पर यह भावना आई है उसके परिणाम भी आप देख रहे हैं। जिस प्रकार आप मित्र को ठगना चाहते है, उसी प्रकार आपको भी कोई मित्रता के नाम पर ठगने वाला खडा है—चारो ओर यही चक्कर चल रहा है, कही किसी को सुख-चैन नही है।

स्वामि-द्रोह

मित्र-द्रोह की वात के साथ ही स्वामि-द्रोह की वात भी वँधी हुई है। स्वामी का अर्थ है मालिक। जो किसी की रक्षा करता है, किसी को आजीविका उपार्जन करने मे सहायता करता है या उसके योग्य वनाता है, वह स्वामी कहलाता है। पुराने जमाने मे जहाँ स्वामी-सेवक का पवित्र सम्वन्ध था, वहाँ आज वह सघर्ष वन गया है। रक्षा करने वाले का, या आजीविका देने वाले का उपकार माना जाता था और उसके प्रति कृतज्ञता की भावना रखी जाती थी गुरु तथा माता-पिता की श्रेणी मे ही उसका नाम आता था।[१] सेवक स्वामी से स्वतन्त्र होकर आजीविका करने पर भी उसको स्वामी मानता था, उसका उपकार मानता था, और कहता था—'अच्छे दिन उन्हीं के दिये हुए हैं।' लेकिन आज क्या स्थिति है—आपके समक्ष है ? पचास वर्ष किसी के यहाँ नौकरी करके भी यदि आज सेवक स्वतन्त्र होता है तो वह उसकी वुराई करता है, अपने मालिक को गालियाँ देता है। सदा उसका वुरा सोचता है।

मुझे स्मरण है, एक स्थान पर एक सेठ का मुनीम था, उसने अलग दुकान खोल ली। दुकान की तो कोई वात नही, पर जव पुराने ग्राहक उसके पास मे आये और पूछा—"आप यहाँ कैसे ? सेठजी कहाँ हैं" तो मुनीम ने कहा—"सेठजी मर गए।" कितनी धृष्टता और नीचता के शब्द निकले उसके मुंह से। दुनिया मे मालिक मे मुनीम अलग होते आये हैं, किन्तु उनके हृदय मे मालिक

---

१ स्थानागसूत्र ३।३

के लिए द्रोह एव कृतघ्नता की जो भावना थी, वह क्यो ? इसलिए कि सेठ को मरा बताकर ग्राहको को अपने यहाँ ही रोकले ? एक छोटी-सी बात के लिए कितना बडा अन्याय, स्वामिद्रोह ! मालिक का द्रोह करके कभी कोई सुखी नही हो सकता। आज यह प्रवृत्ति समाज मे बहुत बढ रही है, जो नौजवान है, जिनका नया खून है उन्हे तो पता ही नही है कि स्वामिद्रोह किस चिडिया का नाम है ? वे इसे कम्पटीशन समझते हैं, व्यापारिक प्रतिस्पर्धा समझते हैं। किंतु कम्पटीशन और चीज है, प्रतिस्पर्धा और बात है और स्वामिद्रोह और बात है। जिसके यहाँ रहकर व्यापारिक बुद्धि पाई है, आजीविका का साधन मिला है, अनुभव और प्रतिष्ठा पाई है उसके प्रति द्रोह करके, उसे गिराने का प्रयत्न करके, धनवान बनने की लालसा वस्तुत अन्याय की वृत्ति है। और इस प्रकार कमाया गया धन अन्यायोपार्जित धन ही कहलायेगा।

स्वामि-द्रोह की श्रेणी मे राष्ट्र-द्रोह भी आ जाता है। राष्ट्र मे निषिद्ध वस्तुओ का व्यापार करना, चोरी छुपे आयात-निर्यात करना, तस्करी के माल का व्यापार करना—ये सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। लोग सोचते हैं आजकल जल्दी लखपति बनना हो तो स्मगलिंग का धन्धा करो ! हो सकता है इस धन्धे मे पैसा मिलता हो, पर कितना खतरा रहता है ? जीवन मे कितनी चिन्ता और भय बना रहता है ? और फिर ऐसी सम्पत्ति से क्या करना है जो आज आई, कल चली गई ! आप देखते हैं एरण्ड का वृक्ष कितना जल्दी हरा-भरा होता है, वर्षा के दो-तीन महीने मे तो ऐसा लगता है मानो पाँच साल पुराना वृक्ष हो, और पत्तो से, फूलो से लद रहा है। कितनी जल्दी बढता है ? उधर बड के वृक्ष को देखिए, धीरे-धीरे बढता है, दो-चार वर्ष तक तो उसकी टहनियो का पूरा विकास-विस्तार ही नही हो पाता। पर एरण्ड की उम्र कितनी, और बड की उम्र कितनी ? एरण्ड एक वर्ष भर भी मुश्किल से जिन्दा रहता है, और बड सैकडो-हजारो वर्षो तक हरा-भरा रहकर संसार को छाया देता रहता है। बस, आज के प्रवचन का यही निष्कर्ष है कि अनीति एव अन्याय से आजीविका करने वालो की सम्पत्ति एरन्ड की तरह क्षणस्थायी होती है और जो सद्गृहस्थ न्याय एव नीति से अर्थ का उपार्जन करता है उसकी सम्पत्ति एव समृद्धि वट की भाँति सदा बढती रहती है, उसकी सुख-सपदा चिरजीवी होती है।

☆☆

शिष्टाचार के सिद्धान्त

(प्रथम खण्ड)

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने गृहस्थ-धर्म का दूसरा आदर्श बताया है— "शिष्टाचार प्रशंसकः।" शिष्ट पुरुषो के आचार की प्रशसा करने वाला अथवा शिष्ट—अर्थात् श्रेष्ठ आचार की प्रशसा करने वाला। आचार्य हरिभद्र सूरि ने अपने धर्मबिन्दु प्रकरण मे इस गुण को चौथे क्रम पर रखा है और कहा है—तथा शिष्टाचार प्रशंसनमिति—शिष्टपुरुषो के आचार की प्रशसा करना।

शिष्ट कौन ?

शिष्ट और शिष्टाचार शब्द—आज आम शब्द बन गये है। कोई भी व्यक्ति जो दीखने मे, बोल-चाल मे जरा सभ्य दीखता है, चतुर होता है, लोग उसे शिष्ट कहते हैं, अच्छा व्यवहार देखकर आप कहते हैं—बड़ी शिष्टता है, बडा शिष्ट है। शिष्टाचार शब्द तो और भी ज्यादा सामान्य हो गया है—घर पर आये हुए व्यक्ति का स्वागत करना, मीठी वाणी बोलना, उसको ठीक से बैठाना, चाय-पानी के लिए आग्रह करना—यह सब आजकल शिष्टाचार कहलाता है। यदि आप किसी के घर जाएँ और वहाँ आपका कुछ स्वागत न हो, कोई ठीक व्यवहार न हो तो आप कह उठेंगे—क्या है जी, कुछ शिष्टाचार भी नही! तो मतलब है कि आपका व्यवहार, दिखावा, रहन-सहन जिसे सभ्यता कहते हैं उसे ही आजकल शिष्टाचार कहा जाता है। किन्तु प्राचीन आचार्यो ने धर्म-ग्रन्थो मे शिष्टाचार का बहुत व्यापक अर्थ किया है। मैं उसी शिष्टाचार के सम्बन्ध मे आज आपको कुछ बता रहा हूँ।

'शिष्ट' शब्द का यदि व्याकरण की दृष्टि से अर्थ किया जाए तो इसका अर्थ होता है—अनुशासित ! अनुशासन मे चलने वाला। यहाँ प्रश्न होगा—किसके अनुशासन मे चलने वाला ? राजा के अनुशासन मे, स्वामी और गुरु के अनुशासन मे, या माता-पिता के अनुशासन मे ? बधुओ ! ये तो वस्तुत: बाहर के अनुशासन हैं ! जैसे पशु डडे से हांका जाता है, वैसे ही मूर्ख मनुष्य भी भय व डडे से चलाये जाते हैं—"दंड: शास्ति प्रजा सर्वा"[१] मनु ने कहा है—प्रजा (जनता) पर डडा ही शासन करता है ? किन्तु यह मूर्खों व दुराचारियो के लिए बात हुई। जो शिक्षित, ज्ञानी और नीतिनिष्ठ होते हैं, वे डडे से नही चलाये जाते, भय से भी उनको नही चलाया जा सकता—उनके ऊपर अनुशासन करने वाला कोई और ही तत्त्व होता है और उसका नाम है—ज्ञान ! विवेक ! बुद्धि ! इसी बात को आचार्यो ने स्पष्ट करते हुए कहा है—जिसने ज्ञानियो की, वृद्ध पुरुषो की एव गुरुओ की सेवा मे रहकर विनयपूर्वक शिक्षा, सदाचार एव अनुभव का लाभ प्राप्त किया है—वह अपने ज्ञान एव अनुभव के बल पर अपना अनुशासन स्वय करता है। स्वय अपने कर्त्तव्य का निर्णय करता है। महाभारत मे एक प्रसग है, जहाँ पूछा गया है कि आप पडित पडित पुकार कर रहे हैं, पडित कौन होता है ? उसकी पहचान क्या है ? क्या उसके सर पर कोई सोने का फूल उगा होता है ? तब बताया गया है कि पडित की पहली पहचान है—

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् !
नासपृष्टो व्युपयुक्ते परार्थे
तत् प्रज्ञान प्रथमं पण्डितस्य ॥[२]

जो किसी भी विषय को देर तक धैर्यपूर्वक सुनता है, किन्तु शीघ्र ही समझ लेता है, विषय को समझने मे उसे विलम्ब नही लगता। और फिर बिना किसी छिछली कामना के कर्त्तव्यबुद्धि से उस पर आचरण करता है। अपने ज्ञान को, बिना पूछे ही दूसरो को उपदेश नही सुनाता, किन्तु पूछने पर ही कर्त्तव्य की बात बताता है। यह विद्वान पण्डित की पहली पहचान है।

तो मतलब हुआ कि जिसने गुरुजनो से, वृद्धो से सुनकर, सेवा करके ज्ञान प्राप्त किया है, अनुभव का खजाना पाया है, केवल पाया ही नही, बल्कि कर्त्तव्य भावना से उस पर आचरण भी किया है, वह शिष्ट पुरुष है। उसका

---

१ मनुस्मृति २ महाभारत, उद्योगपर्व ३३।२२

आचार न शास्त्रो से विपरीत जाता है, और न व्यवहार से। क्योकि उसने केवल ज्ञान ही नही, अनुभव भी प्राप्त किया है। राजस्थान मे आप जिसे—'भणिया गुणिया' कहते है, वे दोनो बातें उसमे होती हैं। उसे आप पडित भी कह सकते हैं। केवल पोथी पढने वाला ही पडित नही होता—**"पोथी पढ-पढ़ जुग मुआ पडित भया न कोय"** कबीरदास ने कहा है? पोथी के साथ 'होती' अर्थात् जो हो रही है, व्यवहार जो चल रहा है, उसको समझने वाला पडित होता है। वह चाहे सस्कृत-प्राकृत पढा हो, या न हो, चाहे फारसी और अरबी जानता हो या न हो, किंतु जिसके पास विवेक है, कर्त्तव्य का निर्णय करने की बुद्धि है, और जिसका आचार ऊंचा होता है, आजकल जिसे 'करेक्टर' या 'मौरल' (Moral) कहते हैं, वह जिस व्यक्ति मे होता है—वह शिष्ट कहलाता है। ऐसे शिष्ट व्यक्ति समाज की शोभा होते हैं, धर्म का गौरव होते हैं। वे जहाँ भी रहते है, अपने आचार-विचार से समाज व धर्म की उन्नति करते हैं, भलाई करते हैं। जैसे दूध मे मिश्री मिलाने से, खिचडी मे घी मिलाने से उसका स्वाद एव गुण बढ जाता है, वैसे ही शिष्ट व्यक्ति समाज मे रहते हैं तो समाज की ख्याति एव गौरव ऊँचा उठता है। समाज का गौरव जब ऊँचा उठता है तो धर्म की प्रभावना भी होती है, राष्ट्र का नैतिक बल एव गौरव भी ऊँचा उठता है।

शिष्टाचार की प्रशंसा

आचार्य ने—**'शिष्टाचार प्रशंसक'** जो सूत्र दिया है वह समाज मे शिष्टाचार की प्रतिष्ठा बढाने की दृष्टि से दिया है। उसमे आचार्य की दो भावनाएँ ध्वनित होती हैं—पहली—शिष्ट व्यक्तियो के आचार-चरित्र की प्रशसा और दूसरी—शिष्टाचार की प्रशसा।

समाजशास्त्र एव नीतिशास्त्र का यह नियम है कि समाज मे सदाचार को प्रतिष्ठा दी जाए और दुराचार की अवहेलना की जाए—तभी समाज व सामाजिक अपने नियमो व आदर्शों के अनुसार चल सकते हैं। जब समाज मे चोर को प्रशसा मिलती है, अन्यायी को वाह-वाह मिलती हो तो लोग सोचेंगे जब चोरी एव अन्याय से ही प्रतिष्ठा मिलती है तो साहूकारी के कष्ट क्यो झेले जाएँ, न्याय के लिए अपना बलिदान क्यो किया जाय? महाभारत मे कहा है—

यदा तु प्रतिषेद्धारं पापो न लभते क्वचित्।
तिष्ठन्ति बहवो लोकास्तदा पापेषु कर्मसु॥[१]

---

१ महाभारत, आदि पर्व १७९।१०

जब अन्यायी एव अत्याचारी पापी को समाज मे कोई रोक-टोक करने वाला नही मिलता, तब बहुत बडी सख्या मे समाज के अनेक लोक पाप करने लग जाते हैं। समाज का बहुसख्यक वर्ग गतानुगतिक होता है, देखा-देखी करने वाला होता है, यदि एक पापी को, दुराचारी को समाज के ऊँचे पद पर बैठा देखेंगे, उसकी वाह-वाह होते देखेंगे तो सहज ही उनके मन मे यह धारणा बन जायेगी—देखो, पाप करने से प्रतिष्ठा मिलती है। और वे कहने लग जाते हैं—"रोटी खाणी शक्कर से, दुनिया ठगणी मक्कर से।" तो इन विचारो एव व्यवहारो से समाज मे अन्याय की वृद्धि होती है, दुराचार को प्रोत्साहन मिलता है, और समाज धीरे-धीरे रसातल मे पहुँच जाता है। बृहत्कल्पसूत्र पर बृहद्भाष्य की रचना करने वाले आचार्य जिनदासगणी ने कहा है—

> जंहि णत्थि सारणा वारणा य
> पडिचोयणा य गच्छम्मि य।
> सोउ अगच्छो गच्छो
> संजय कामीण मोत्तव्वो ॥[1]

सघ को सुव्यवस्थित रूप से चलाने वाली तीन बातें हैं—सारणा, वारणा, एव पडिचोयणा।

सारणा का अर्थ है—कर्त्तव्य की शिक्षा-सूचना। कर्त्तव्य क्या है यह बताया जाए—और जो सदाचारी कर्त्तव्यपरायण हैं, उनकी प्रशसा की जाय, इसे सारणा कहते हैं। वारणा का अर्थ है—अकर्त्तव्य का निषेध। जो अविहित है, अनाचार है, उसका निषेध करना, उसके आचरण की निन्दा करना, तथा अनाचार का सेवन करने वालो की अवहेलना करना। तीसरी बात है पडिचोयणा—यदि कोई व्यक्ति प्रमाद से, लापरवाही से अनाचार का सेवन कर लेता है तो उसकी रख-पक्ष नही करनी चाहिए, उसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए, किन्तु कठोरता के साथ उसका प्रतिषेध करना चाहिए। ये तीन बातें जिस संघ या समाज मे होती है वही सघ, सघ है, वही समाज, समाज है।

मानव समाज के रूप मे जो यह संगठन, एक समूह खडा है उसकी नीति की मूल धुरी यही है कि अन्याय की निन्दा और न्याय की प्रशसा के द्वारा

---

१ बृहत्कल्पभाष्य, ४४६४

सामाजिको को न्याय-मार्ग की ओर प्रोत्साहित रखना। इस दृष्टि से आचार्य ने पहली वात कही है—समाज मे शिष्टाचारी पुरुषो की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। जो सदाचारी है, चाहे वह गरीब है या धनवान, वास्तव मे जिसके पास सदाचार का धन है, वह कभी गरीब होता ही नही। लेकिन उनके पास यदि पैसा कम भी है, तव भी समाज मे उनका आदर होना चाहिए।

समाज का आदर्श

ईसामसीह ने कहा है—"मनुष्य इस पृथ्वी का नमक है।"[1] इस वात को और आगे वढकर कहें तो कह सकते हैं—सदाचारी मनुष्य ही पृथ्वी का नमक है। एक चिमटी या थोडा-सा नमक भी सेर भर आटे का स्वाद वदल देता है। सेर भर आटे मे यदि एक चिमटी नमक न डाला जाए तो ? सव मसाले वेकार! सव रसोई मिट्टी! तो सदाचरी मनुष्य इस विशाल पृथ्वी पर भले ही थोडे हो, किन्तु वे नमक की तरह समूची पृथ्वी का स्वाद वदल देते है, उसका वातावरण वदल देते हैं। उन पुरुषो के प्रति हमारे मन मे आदर होना चाहिए। ऊँची पगडी और ऊँची हवेली देखकर नही भूलना चाहिए, किन्तु ऊँचा चरित्र देखना चाहिए। और ऊँचे चरित्र वाले को ही ऊँचा आसन मिलना चाहिए। ऊँचे आसन का मतलवँ यह नही कि उसे ऊँची कुर्सी पर विठाया जाए, किन्तु उसका चरित्र सवकी नजरो मे रहना चाहिए, उसके प्रति सम्मान और आदर का भाव होना चाहिए। जहाँ भी अवसर आए उसके गुणो की प्रशसा करनी चाहिए। उसकी अच्छाइयो का वर्णन करना चाहिए। इससे दो लाभ होते हैं—आपकी भावना पवित्र होती है, आपके हृदय मे भी उसके गुणो का प्रतिविम्व पडता है, अच्छे गुणो की चर्चा व प्रशसा करने से मनुष्य का चरित्र भी अच्छा बनता है, ऊँचा उठता है और फिर दूसरो के मन मे भी उन गुणो के प्रति आकर्षण होता है, उन गुणो की प्रशसा जो सुनेगा, उस व्यक्ति की कीर्ति और सम्मान कोई देखेगा तो उसके मन मे भी भावना जागेगी कि मैं भी इसकी तरह अपने चरित्र को ऊँचा उठाऊँ और समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त करूँ। समाज मे गुणियो का आदर होने से गुणो मे एक प्रकार की प्रतियोगिता की भावना पैदा हो जाती है।

पुराने जमाने मे किसी ठिकाने मे, किसी राजदरवार मे कोई अच्छे लक्षणो

---

१. पहाडी उपदेश

वाला घोडा आता तो उसे दिखाने के लिए राजा लोग अपने मित्रो को बुलाते, मुख्य नागरिको को दिखाते और उसकी प्रशंसा करते, उस घोडे का विशेष सम्मान करते। आज भी आप लोग घर मे कोई अच्छी गाय-भैंस लाते हैं, तो दस आदमियो को दिखाते हैं, उसके शुभ लक्षणो का बखान करते हैं। और तो क्या, किसी के पास अच्छा कुत्ता है, बढिया नस्ल का है, तो लोग उसकी भी प्रशसा करते हैं। मतलब यह है कि घर मे कोई जानवर, कोई अच्छी वस्तु आती है तो आप अपने मित्रो को दिखाते है और उनके सामने उसकी प्रशसा करते हैं। तो फिर जिस पुरुष ने अच्छी शिक्षा प्राप्त की है, अच्छे गुणो का विकास किया है, अपने चरित्र को ऊँचा उठाया है, जिसने समाज मे अपना गौरव बनाया है—क्या हम उसकी प्रशसा नही कर सकते? उस चरित्रवान, सुशिक्षित एव सुयोग्य शिष्ट पुरुष की प्रशसा करते समय जबान क्यो दब जाती है? पुरानी कहावत है—"नगर की शोभा बडे-बडे भवनो मे नहीं किन्तु उसमें रहने वाले नागरिको के चरित्र मे होती है।" उन नागरिको के चरित्र मे गौरव है, जो नमक की तरह है, जो एक आदर्श है—यदि उस पुरुष की प्रशसा समाज मे नही होती है, तो मैं कहता हूँ, वह समाज समाज नही, सिर्फ एक पशुओं का झुड है। आदमियो का एक गिरोह है। समाज की नैतिकता का पहला मापदण्ड यही है कि समाज मे चरित्रसम्पन्न व्यक्तियो की प्रशसा, प्रतिष्ठा हो, उनके आदर्शो का अनुकरण हो।

आचार्य ने शिष्टाचारी पुरुषो की प्रशसा का सूत्र देकर समाज मे शिष्टाचार का जीवित प्रतिमान स्थापित किया है। भारतीय मानस महापुरुषो के चरित्र को अद्भुत और अलौकिक मानता है, इसलिए उसकी पूजा तो करता है, पर अनुकरण नहीं करता। महापुरुषो का चरित्र उसके लिए केवल श्रद्धा का विषय रह जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि समाज मे सामाजिको के समक्ष ऐसे चरित्र उभर कर आएँ जो महापुरुष नही सत्पुरुष हो, समाज के साथ रहते हो और लोक यह मानते हो कि इनका अनुकरण हम कर सकते है। इसलिए आचार्यो ने यह दृष्टि दी है कि ऐसे शिष्टाचार सपन्न पुरुषो को समाज अपना आदर्श माने और उनके आदर्श के अनुसार आचरण करे। यह होता भी है, आपकी दृष्टि मे जो व्यक्ति अच्छा है, गुणवान है, आप चाहेगे कि आप उसके पास बैठें उसकी तरह आचरण करें, आपकी सतान भी उसका अनुकरण करें। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उसके चरित्र का समाज के चरित्र पर, व्यक्ति के चरित्र पर प्रभाव पडता ही है—

गीता मे कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तद्तदेवेतरो जनः
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।[1]

श्रेष्ठ व्यक्ति जो आचरण करता है, लोक उसका अनुकरण करते हैं, वह जिस बात को प्रमाण, ठीक मानता है, लोक भी वैसा ही मानने लगते हैं। क्योकि यह स्वाभाविक बात है। इसलिए मानव स्वभाव को ध्यान मे रखकर आचार्यो ने कहा—हम सदाचारी एव शिष्टाचारी पुरुषो के प्रशसक बनें, उनका आदर करें एव उन्हे अपना आदर्श मानें।

शिष्टाचारी पुरुषो की प्रशसा की बात समझने के बाद शिष्टाचार की प्रशसा का विषय अपने आप स्पष्ट हो जाता है। शिष्टाचार के प्रति जिसके मन मे आस्था एव निष्ठा होगी, वही व्यक्ति शिष्टाचारी पुरुषो की प्रशसा करेगा। जो व्यक्ति शिष्टाचार को नही समझ पाता या शिष्टाचार के प्रति जिसके मन मे आस्था नही है वह शिष्टाचारी की प्रशसा कैसे करेगा ? और कैसे उसे अपना आदर्श मानेगा ? इसलिए यह आवश्यक है कि हम शिष्टाचार की रूपरेखा को भी समझें।

---

१ भगवद्गीता ३।२१

५

शिष्टाचार के सिद्धान्त

(द्वितीय खंड)

शिष्टाचार और सदाचार—ये दो शब्द आजकल काफी प्रचलित हो गये हैं। भावना की दृष्टि से इनमे कोई विशेष अन्तर नही, पर आजकल की चालू भाषा मे इनमे काफी अन्तर दिखाई पड़ता है। आजकल सदाचारी उसे कहते है, 'जो काछ-वाच का सच्चा हो, नीतिवान हो और कोई अन्याय नही करता हो', जबकि शिष्टाचार केवल औपचारिकता, सभ्यता, तक सीमित हो गया है। जैसा मैंने पहले बताया—घर आए महमान का स्वागत, प्रेमपूर्ण व्यवहार, व मेल-जोल मे सभ्यता रखना यह शिष्टाचार कहलाता है। किन्तु आचार्यों ने जिस प्रकार शिष्ट व्यक्ति की परिभाषा को व्यापक बनाया है उसी प्रकार शिष्टाचार को भी बहुत व्यापक एव विस्तृत रूप दिया है तथा जीवन के मुख्य-मुख्य सभी गुणो को शिष्टाचार की सीमाओ मे ले लिया है। धर्मबिन्दु की टीका मे आचार्य मुनिचन्द्रसूरि ने शिष्टाचार की व्याख्या करने वाले अठारह सूत्र दिये हैं। पहले उन अठारह सूत्रो को सूत्र रूप मे मैं आपके समक्ष रख दूं, फिर इन पर विश्लेषण के साथ विचार किया जाये तो ठीक रहेगा। शिष्टाचार के अठारह सूत्र इस प्रकार हैं—

१ लोकापवाद का भय
२ दीन-गरीबो के प्रति सहयोग की भावना
३ कृतज्ञता
४ निंदा का त्याग
५ विद्वानो की प्रशसा
६ आपत्ति मे धैर्य
७ सम्पत्ति मे नम्रता

८ समय पर उचित एव परिमित वाणी बोलना
९ किसी के साथ किसी प्रकार का विरोध व कदाग्रह नही करना
१० अगीकृत कार्य को पार उतारना
११ कुल धर्म का पालन करना
१२ धन का अपव्यय नही करना
१३ आवश्यक कार्य मे उचित प्रयत्न करना
१४ उत्तम कार्य मे सदा सलग्न रहना
१५ प्रमाद का परिहार
१६ लोकाचार का पालन
१७ जहाँ पर जो उचित कार्य हो, उसे करना
१८ नीच कार्य कभी भी नही करना ।[1]

लोक-निन्दा का भय

लोकापवाद का भय—यह शिष्टाचार का पहला सूत्र है। समाज मे जो एक परम्परा, एक रीति चली आ रही है, जिसे सामाजिक मर्यादा के रूप मे सब स्वीकार करते हैं, लोकनीति के रूप मे जो बात मान्य है—उसके विरुद्ध आचरण करने पर लोक मे निन्दा होती है, जनता उसे शका व सदेह की दृष्टि से देखती है और उसे मर्यादा से पतित समझती है। इसलिए नीतिकारो ने कहा है—लोक-व्यवहार एव लोकनीति का सदा पालन करना चाहिए। आप कोई कार्य करते हैं तो पहले यह देखना चाहिए कि लोक इस कार्य की निन्दा तो नही करेंगे, इस काम को करने से मेरी कीर्ति को धब्बा तो नही लगेगा?

---

१ लोकापवादभीरुत्व दीनाभ्युद्धरणादर ।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्य सदाचार प्रकीर्तित ॥
सर्वत्र निन्दा संत्यागो वर्णवादश्च साधुषु ।
आपद्यदैन्यमत्यन्त तद्वद्सम्पदि नम्रता ॥
प्रस्तावे मितभाषित्वमविसंवादन तथा ।
प्रतिपन्नक्रिया चेति कुलधर्मानुपालनम् ॥
असद् व्ययपरित्याग स्थाने चैव क्रिया सदा ।
प्रधानकार्ये निर्बन्ध प्रमादस्य विवर्जनम् ॥
लोकाचारानुवृत्तिश्च सर्वत्रौचित्यपालनम् ।
प्रवृत्तिर्गर्हिते नेति प्राणै कण्ठगतैरपि ॥

और लोग यह तो नहीं कहेगे—"कि बाप-दादो की इज्जत पर पानी फेर दिया।"

यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि लोगो का क्या? वे चढ़े को भी हँसते है और पैदल चलते को भी! उनकी निन्दा से कोई डरता रहे तो कुछ नया काम कर ही नही सकता! फिर ससार मे परिवर्तन और क्राति आ ही नही सकती।

भाई! बात यह ठीक है कि लोग दुतर्फा भी चलते हैं। लेकिन यह भी सच है कि—बुराई-भलाई का मापदण्ड और निर्णय जितना जल्दी जनता करती है, उतना जल्दी आप भी नही कर सकते। विनोबाजी ने अपनी पुस्तक लोक-नीति मे लिखा है—"यह मत भूलो कि जनता थर्मामीटर है। हमारे आचरणो की नाप-जोख जितनी जल्दी वह कर सकती है, हम स्वय भी नहीं कर सकते।" आप कोई काम करते हैं, उसका परिणाम क्या रहा, उसकी निन्दा या प्रशमा कैसी रही, यह निर्णय आप स्वय अपने मन से तो नही कर सकते! दस व्यक्तियो की बात सुनकर ही तो आप जान सकते हैं कि आपने जो किया—"वह ठीक किया या गलत किया।" इसलिए नीति का यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

"यद्यपि शुद्ध लोकविरुद्ध नाचरणीयं न करणीयम्"

यदि आप कोई भी अच्छा कार्य कर रहे हैं, उसमे कोई दोष नही है, यह शुद्ध है, किन्तु लोक-विरुद्ध है, व्यवहार से विपरीत है तो उसे भी मत करिए। शुद्ध और सही कार्य को भी कभी-कभी लोकाचार के लिए रोक देना पडता है। लोक-निन्दा के भय मे रामचन्द्रजी को भी सीता जैसी सती का त्याग करना पडा। रामायण मे स्पष्ट बताया गया है कि—जब रामचन्द्रजी ने सीता को जगल मे छोड आने का आदेश दिया तो लक्ष्मणजी ने कहा—"महाराज! लोकों की इधर-उधर की बातें सुनकर क्या आपके मन मे भी शंका हो गई कि सीता जैसी पवित्र सती के जीवन मे कही दोष लगा है, वह कलकित है?"

रामचन्द्रजी ने गभीर होकर उत्तर दिया—"लक्ष्मण! तुम्हारा कथन उचित है, और मैं स्वप्न मे भी यह कल्पना नही कर सकता कि सीता दोषी है। किन्तु लोकापवाद के लिए ही मुझे सीता का त्याग करना पड रहा है। राजा राष्ट्र का आदर्श होता है, जब छोटे-छोटे लोग, धोबी जैसे निम्न कोटि के व्यक्ति भी अपनी दुराचारिणी पत्नी से यह कहते हैं कि—'यह राम का घर नही है!'—तो मेरे कलेजे मे छुरी-सी चल जाती है। इसलिए लोकापवाद को मिटाने के लिए ही मुझे सीता को वनवास देना पड रहा है।"

बधुओ! मैं इसका फैसला करने नही बैठा हूं कि रामचन्द्रजी ने जो किया, वह ठीक किया या गलत! लोकापवाद के भय से गर्भवती सती को इस प्रकार जगल मे छोड देना—यही कोई एक मार्ग नही था और भी उसके उपाय हो सकते थे, लोकापवाद को अन्य तरीको से दूर किया जा सकता था, किन्तु उसकी लम्बी चर्चा मे अभी हम नही जायेंगे। देखना इतना ही है कि लोक-निन्दा के प्रति सद्गृहस्थ को सावधान रहना चाहिए। अपने काम का निर्णय करने से पहले, कोई अगला कदम उठाने से पहले यह सोच लेना चाहिए कि मेरे इस कार्य की समाज मे क्या प्रतिक्रिया होगी? लोग मुझे बुरा तो नही कहेंगे, निन्दा तो नही करेंगे? क्योकि लोक-निन्दा के भय से कभी-कभी बड़े-बडे अनर्थ होते भी टल जाते हैं। लोक-निन्दा का भय रखने वाले, बुराई से बच सकते है। प्रश्नव्याकरणसूत्र मे चोरी के दोष बताते हुए एक यह भी दोष बताया है कि वह—भले व्यक्तियो द्वारा निंदनीय है—"सया साहुगरहणिज्जं"[1] इसका अर्थ है यदि मन मे पाप का या परलोक का भय नहीं भी रहा, फिर भी लोक-निन्दा या लोकापवाद का भय यदि है, तो वह व्यक्ति गिरता-गिरता बच सकता है, डूबते को तिनके का सहारा, यह लोकापवाद का भय हो सकता है। इसलिए शिष्टाचार का सबसे पहला सूत्र है—गृहस्थ के मन मे लोकापवाद का भय होना चाहिए, लोक-निन्दा करे ऐसा कार्य नही करना चाहिए।

गरीबों का सहारा

शिष्टचार का दूसरा सूत्र है—दीन-गरीबों के उद्धार के लिए सतत प्रयत्नशील रहना, मन मे उनके प्रति आदर, सद्भाव एव सवेदना रखना। हमारे साहित्य मे भगवान को 'दीन-बन्धु' कहा गया है, क्यो भाई, धनवान-बधु क्यो नही कहा गया? क्या वह धनवानो से द्वेष रखता है? नही, न! वे तो जैसे दीन का उद्धार करते है वैसे ही श्रीमत का भी उद्धार करते हैं। किन्तु बात यह है कि इस ससार मे धनवान और श्रीमत हैं कितने? भारतवर्ष की जनसख्या आज पचास करोड से ऊपर है। उसमे धनवान कितने है और गरीब कितने हैं? 'धनवान' तो आटे मे नमक के बराबर है। आखिर मानव-समाज का बहुत बडा भाग तो 'गरीब' है, और वे बिचारे गरीब कुछ परिस्थितियों से, कुछ अभावो मे पीडित हैं, तो उनकी सहायता पहले करनी चाहिए या धनवान की? जो भूख से बिलख कर छटपटा रहा है, दम तोड रहा है पहले उसे रोटी देनी चाहिए या उसे जिसकी थाली मे पकवान भरे हैं, पर पेट मे भूख नहीं

---

१ प्रश्नव्याकरण, १।३

है। भगवान को इसीलिए 'दीनबंधु' कहा गया है कि वह उन पीड़ितो एवं दुखियो की सहायता करता है। तो जो दीनबंधु का उपासक है, अर्थात् भगवान का भक्त है उसे भी पहले दीन की सेवा करनी चाहिए। गांधीजी कहते थे—'दरिद्र की सेवा से ही दरिद्रनारायण प्रसन्न होता है।' बाइबिल मे एक जगह कहा है—एक बार ईसामसीह के पास एक धनाढ्य सरदार आया और बोला—'उत्तम गुरु! अनन्त जीवन (स्वर्गीय जीवन) पाने के लिए मुझे क्या करना चाहिए?'

ईसा ने कहा—तू व्यभिचार मत कर, झूठ मत बोल, किसी की हत्या मत कर, चोरी मत कर और माता-पिता का आदर कर।

सरदार बोला—इन सब बातो का पालन तो मैं बचपन से ही करता आ रहा हूँ।

ईसा ने गंभीर होकर कहा—तो फिर अपनी दौलत को गरीबो मे बाँट दे, और मेरे पीछे चला आ।

दौलत बाँटने की बात सुनते ही सरदार का मुँह रुँआसा हो गया। वह सोच मे पड गया। उसे दुःखी देखकर ईसा बोले—"ऐ सरदार! मेरी बात सुनले! सुई के छेद मे से ऊँट का निकल जाना सहज है, किन्तु जिसके मन मे पैसे का लालच है, उसका स्वर्ग मे जा पाना कठिन है।"[१]

तो बंधुओ! जब तक गरीब के प्रति मन मे दया एवं सहानुभूति की भावना नही जगती, तब तक गृहस्थ स्वर्ग या मोक्ष का अधिकारी कैसे बन सकता है? जिनके पास धन है, उन्हे गरीबो की ओर देखना चाहिए कि वे कैसा जीवन गुजार रहे है? कितने कष्ट झेलकर इस गाड़ी को चला रहे हैं। आपकी थाली मे मिष्ठान्न भरे पड़े हैं, और सामने एक गरीब बैठा है जिसकी थाली मे रूखी रोटी भी नही है, और पेट मे ज्वालामुखी धधक रहा है, उस समय वह अपनी थाली देखकर क्या सोचेगा? क्या उसके मन मे ईर्ष्या नही होगी—कि मैं तो भूख से दम तोड रहा हूँ और यह खा-खा कर तोंद बढ़ा रहा है। क्या मैं इन्सान नहीं हूँ, मै इन पकवानो का उपभोग नही कर सकता? और वह ईर्ष्या जब उछाल मारेगी तो वह भूखा आपकी थाली की ओर झपटेगा। छीनने की कोशिश करेगा। आप सुनते हैं, अखबारो मे पढते हैं—'भूखे व्यक्तियों की भीड ने अनाज की दुकानें लूट लीं, गोदामो मे अनाज निकाल

---

१ बाइबिल, लूका १८।१८-२५

लिया।' यह सब क्यो हो रहा है ? इसलिए कि इन परिस्थितियो मे आप अपना कर्त्तव्य नही सोच रहे हैं ? आप अपनी थाली की रक्षा तो करना चाहते हैं, पर उसका तरीका आपको मालूम नही है।

रक्षा का तरीका

सम्राट् श्रेणिक के जीवन की अनेक घटनाएँ आपने सुनी होगी ? उसके राजकुमार जीवन की एक घटना मैं आपको सुनाता हूँ जिसका वर्णन आवश्यक चूर्णि मे भी है और श्री तिलोकऋषिजी महाराज के श्रेणिक चरित्र मे भी आता है। श्रेणिक के पिता प्रसेनजित ने एक बार अपने सभी पुत्रो की परीक्षा ली कि उनमे से सिंहासन सभालने की योग्यता किसमे है ? इतना बडा मगध का शासन सभालने के लिए केवल राजा का पुत्र होना ही तो काफी नही है उसमे बुद्धि और शौर्य भी होना चाहिए, शत्रुओ से राज्य की रक्षा करने की कला भी होनी चाहिए। कई परीक्षाएँ ली, उनमे से एक परीक्षा यह थी—

एक बार सभी राजकुमारो को एक पक्ति मे भोजन करने को बैठाया गया। मिष्ठान्न और पकवानो से भरे थाल जब सबके सामने रख दिये गये तो अचानक शिकारी कुत्तो को महलो की ओर छोड़ दिया गया। भूखे कुत्ते परोसी हुई थालियो पर झपटे, राजकुमार घबराये और उठ-उठ कर भाग गये। श्रेणिक ने दस-बीस थालियाँ अपने पास इकट्ठी कर ली। कुत्ते जब तक दूसरी थालियो को साफ करते रहे श्रेणिक अपना भोजन करता गया। जब उसके निकट आये तो उसने एक थाली दूर सरका दी, कुत्ते उसे खाते रहे। इस प्रकार एक-एक थाली कुत्तो की ओर सरकाता गया और अपना भोजन करता गया।

पिता ने सब पुत्रो को अपने पास बुलाया और पूछा—भोजन कर लिया ? तो बोले—भोजन कैसे कर लेते ? कुत्ते झपट-झपट कर आए, हमे तो भूखे ही भागना पडा। बिम्बिसार (श्रेणिक) से पूछा—तो अन्य राजकुमारो ने बीच ही मे कहा—इसने कुत्तो के साथ भोजन किया है।

बिम्बिसार ने कहा—"नही पिताजी ! मैंने अपनी थाली का भोजन किया है, और उस पर किसी का भी मुँह नही लगने दिया। कुत्तो को तो सिर्फ इनकी थालियाँ फेंकता गया, वे भी खाते गये और मैंने भी अपना भोजन पूरा कर लिया।"

पिता प्रसन्न हुआ। देखा—वास्तव मे ही इसमे राज्य सचालन की योग्यता

है। यह दूसरो को खिलाकर अपनी थाली की रक्षा कर सकता है। आखिर मगध का सिंहासन श्रेणिक को ही मिला।

हाँ तो, मैं आपसे यही पूछ रहा था कि आप अपनी थाली की रक्षा तो करना चाहते हैं, पर उसके लिए आपके पास क्या तरीका है ? आप कहेंगे—धन हमारा है, हमने पूर्व जन्म मे पुण्य किया इसका फल मिला है, इस पर दूसरे का क्या हक है ? भाई, आपकी बात ठीक है, पर यह समाधान आज चल नही सकता। आप इन्हे खुशी से नही देंगे तो ये झपटेंगे, संघर्ष होगा, विप्लव होगा। मैं पूछता हूं कम्युनिज्म को जन्म देने वाले कौन हैं ? कार्ल-मार्क्स या लेनिन ? नही ! मैं मानता हूं कम्युनिज्म के जन्मदाता पूंजीपति हैं। पूंजी समाज मे जब एक स्थान पर एकत्रित हो गई, और पूंजीपति गरीबो का मनमाना शोषण करने लगा तो उसके विरोध मे आवाज उठी, और साम्य-वाद का जन्म हुआ। भारतवर्ष की संस्कृति मे यह कहा गया है कि जिसके पास धन है, वह उस धन का चतुर्थांश गरीबो और दीनो की सेवा मे व्यय करे। पुराने सेठ साहूकारो की घटनाएँ आप सुनते हैं, कि वे समय-समय पर जनता की सेवा मे अपना धन एवं जीवन भी समर्पित कर देते थे। आज भी कुछ लोगो मे इस प्रकार की वृत्ति है। यही कारण है कि भारत मे इतनी गरीबी होते हुए भी कम्युनिज्म नही आ पा रहा है। मैं तो कहता हूं यदि सद्गृहस्थ अपने सांस्कृतिक आदर्शो को अपनाए चले तो भारतवर्ष मे कम्युनिज्म की आवश्यकता ही नही है। यहां पर सांस्कृतिक साम्यवाद चल ही रहा है। उसका आदर्श हमारे सामने आचार्य रख रहे हैं। एक आचार्य ने तो यहाँ तक कहा है "आयादर्धं नियुञ्जीत धर्मे समधिकं ततः।" आय का आधा भाग, हो सके तो उससे कुछ अधिक ही, धर्म एवं पुण्य कार्यो मे लगाना चाहिए। पर आज आधा तो कहाँ, दसवां भाग भी यदि आप गरीबो और दीनो की सेवा मे खर्च करें तो भी बहुत बड़ी बात है।

आज आप लोगो को अपनी थाली की चिन्ता है इसका पहला कारण है—दीन-गरीबो की सेवा नही करना और दूसरा कारण है समाज मे धन का प्रदर्शन करना ! प्रदर्शन आज बहुत बढ गया है, दिखावे की भावना घर कर गई है। जिनके पास हजार की पूंजी है, वह लखपति की होड़ करना चाहता है, और जिनके पास लाख की पूंजी है वह करोड़पति का सा ठाठ-बाट दिखाता है। पुराने जमाने मे कोटिपति सेठ होते थे, पर उनका रहन-सहन, खान-पान, व्यवहार एक सामान्य गृहस्थ की भांति रहता था। उनमे कोई प्रदर्शन और दिखावे की भावना नही थी, इसलिए साधारण जनता मे वे घुल-मिल जाते, और लोकप्रिय भी थे।

आज प्रदर्शन की बीमारी चल रही है। आपने कभी नही सोचा—इस प्रदर्शन के परिणाम कितने अनिष्टकारी और दुखदायी होते हैं। आपका वैभव सरकार की नजरो मे आयेगा, जनता की नजरो मे आयेगा, और आप जानते हैं नजर मे रेत का एक कण भी आ गया तो अखरने लग जाता है, खटकता है। तो क्या आपका यह प्रदर्शन जनता की नजर मे नही अखरेगा ? देखने वाला चुपचाप नही बैठा रहता, उसके मन मे प्रतिक्रिया होती है, प्रतिक्रिया धीरे-धीरे विद्रोह का रूप ले लेती है, और फिर उस विद्रोह से चिंतित होकर आप अपनी सुरक्षा की गुहार लगाते है।

तीसरी आँख

गरीब का मन आपके प्रति विद्रोही बनकर आपकी थाली पर न झपटे, इसके लिए जरूरी है कि आप प्रारम्भ मे ही गरीब एव असहाय के प्रति दया-शीलता एव सहयोगी भावना से व्यवहार करें। और अपने विवेक की आँख को सदा खुली रखे।

गुजरात की एक बीती हुई घटना है। एक गाँव मे एक धनाढ्य परिवार रहता था। उसके पडोस मे ही एक दूसरा गरीब परिवार भी था। विषमता और भेदभाव बडो मे होता है, बच्चो मे नही। दोनो परिवारो के बच्चे साथ-साथ खेलते थे। बच्चो की प्रकृति होती है, उन्हें खाने-पीने की कोई वस्तु जब मिलती है तो वे घर मे बैठकर नही खाते, बाहर आकर साथियो के बीच बैठकर खाते हैं। धनी परिवार के बच्चे भी खाने-पीने की चीज लेकर बाहर आते। पडोसी गरीब परिवार का बच्चा उन्हे खाते देखता तो उसके मुंह मे भी पानी छूटता। गरीबी के मारे उसे ऐसी चीजें खाने को मिलती नही थी, इसलिए वह उनके सामने हाथ फैलाता। धनी परिवार के बच्चे उसे चिढाते, केला खाकर छिलका उसके सामने फेंक देते, संतरा स्वय खा जाते और छिलका उतार कर उसकी तरफ फेंक देते, ऐसा करने मे बच्चो को बडा आनन्द आता। गरीब बच्चा खिसियाकर, रोकर मन-मसोसता रह जाता। उसका भी मन ऐसी चीजें खाने को होता, पर बिचारा लाये कहाँ से ? आखिर वह अपनी माँ के पास आकर रोता। माँ से जिद करता—"वे बच्चे मिठाई खा रहे हैं मुझे भी वह मिठाई लाकर दे।" माँ बच्चे को समझाती पर, बच्चा आखिर क्या समझे ? वह जिद पकड लेता, रोता, हाथ-पैर पटकता। माँ का कलेजा भीतर से टूक-टूक हो जाता कि वह किस्मत के मारे अपने बच्चे की इच्छा पूरी नही कर सकती, पर बिचारी करती क्या ? उसके सामने तो आटे-नोन

की समस्या थी, मिठाई कहाँ से लाये ? मुश्किल से अपना और बच्चे का पेट पालती थी। बच्चा पडोसियो के बच्चो को खाते देखकर रोज-रोज माँ से मिठाई व फल माँगता, और आखिर घन्टो तक रोता। माँ से बच्चे का दर रोज का रोना देखा नही जाता। उसने सोचा—"ये पडोसी के बच्चे, अपने घर मे क्यो नही खाते, क्यो ये बाहर लाकर दूसरे बच्चो को चिढाकर खाते हैं ? उसने एक-दो बार बच्चो को टोका, पर बच्चे बड़े शैतान होते है, उन्हे जिस काम के लिए रोका जाय वह काम जरूर करेंगे। पडोसिन ने सोचा, जाकर सेठानी से कहूँ, और वह इन बच्चो को रोक दे तो मेरे बच्चे का रोज का यह रोना-पीटना कम हो जाय।"

कुछ दिन तक पडोसिन की हिम्मत नही हुई कि वह सेठानी को कहे। आखिर एक दिन उससे रहा नही गया, वह घर मे आई। सेठानी ने उसकी तरफ देखा तक नही, उसने हाथ जोडकर कहा—"बहन जी ! मैं एक बात कहने आई हूँ।"

सेठानी—(घूर कर)—क्या कहना है ?"

पडोसिन—"बहन जी ! और कुछ नही, आप अपने बच्चो को खूब खाने-पीने को दीजिए इसमे मुझे खुशी है, पर ये खाने की चीज लेकर बाहर आकर खाते हैं, उसे मेरा बच्चा देखकर ललचाता है, मैं गरीब हूं, इतनी चीजें दे नही सकती, इसलिए आप अपने बच्चो को ऐसी शिक्षा दें, ऐसी व्यवस्था करें, कि वे कोई भी चीज घर मे ही खा लें, बाहर किसी के सामने न ले जायें तो ठीक रहे।"

पडोसिन की बात सुनकर सेठानी के तेवर चढ गये। बोली—"हमारे बच्चे खाते हैं तो तुम्हारा पेट क्यो दुखता है ? यदि तुम इन बच्चो को खाते हुए नही देख सकती, तो अपनी आँखे फोडकर घर मे बैठ जाओ !"

बिचारी पड़ोसिन अब क्या बोलती ? उसके सामने आकाश-पाताल एक हो गये। विनय और गरीबी से कही हुई नम्र बात का इतना रूखा, कडा और कठोर उत्तर सुनकर उसके हृदय पर बडी चोट पहुँची, आँखें भर आई और मायूस सूरत लेकर अपने घर आकर बैठ गई। इतने मे बच्चा दौडता हुआ आया और बोला—"माँ ! आज यह चीज तो मगाकर देनी ही पडेगी !" उसने जिद्द पकडी, रोने लगा, माँ के कपडे खीचने लगा। माँ को गुस्सा आया हुआ था, वह उबर निकाल नही सकी, इधर अब बच्चा सामने आ गया, बच्चे की जिद्द पर उसका क्रोध बरस पडा, पास मे एक चिमटा पडा था, माँ ने गुस्से

मे आकर चिमटा बच्चे के सिर पर मारा, बच्चे के ललाट पर गड्ढा हो गया, खून बहने लग गया। खून देखकर माँ घबराई। उसके हाथ-पांव धूजने लगे—"हाय! क्रोध मे कितना अनर्थ कर दिया, दूसरा कोई बच्चे को चपत भी मार देता तो मैं उससे झगड पडती और आज अपने ही हाथ से बच्चे का सिर फोड दिया।" माँ ने तुरन्त बच्चे के सिर पर पट्टी बांधी, उपचार किया, धीरे-धीरे बच्चा ठीक भी हो गया, पर ललाट का गड्ढा ज्यो का त्यो रहा। उस दिन के बाद बच्चे ने भी माँ से जिद्द करना छोड दिया। बच्चा कुछ बडा हुआ और फिर सयोग ऐसा बना कि वह किसी के सहयोग से अफ्रीका चला गया। वह गरीब परिवार का बच्चा अब पढ-लिखकर व्यापार करने लगा और धीरे-धीरे लाखों की सम्पत्ति जमा करली।

एक गरीब परिवार का बच्चा, जिसने अपने श्रम एव बुद्धि-कौशल से अब अपार वैभव कमा लिया, उस पडोसी धनाढ्य परिवार से कई गुना अधिक श्रीमत बन गया। उसका नाम था रामजी भाई! रामजी भाई के ललाट मे अब भी वह गड्ढा है। रामजी भाई का व्यवहार इतना मधुर और मिलनसार है कि कोई भी व्यक्ति जो उनसे मिलता है उसके साथ बहुत ही मधुर और भ्रातृभाव से पेश आते है। उनके एक मित्र ने एक बार उनसे पूछा—"रामजी भाई! आप जर्मनो और अंग्रेजो के युद्ध मे तो नही गये?"

उन्होंने कहा—"नही! क्या बात है?"

मित्र—"फिर आपके सिर मे यह निशान किस चीज का है? कोई गहरी चोट लगी थी?"

रामजी भाई ने हँसकर कहा—"चोट? क्या मेरे ललाट के गड्ढे को देखकर पूछ रहे हो?"

"हाँ, यह गड्ढा कैसे पडा?"

रामजी भाई—"यह गड्ढा नही है, यह तो मेरी तीसरी आंख है। जिस प्रकार महादेवजी की तीसरी आंख ललाट पर होती है, उसी प्रकार मेरी यह तीसरी आंख—ज्ञान की आंख है, प्रकाश की आंख है। यह आंख मुझे हमेशा प्रकाश देती रहती है कि गरीबो के साथ तुम्हे कैसा व्यवहार करना चाहिए? मैं इन अहकार भरे प्रदर्शनो और धन के मद से लिप्त दुर्व्यवहारो से बहुत खतरा खा चुका हूँ। इनके दुष्परिणामो की सूचना ही यह मेरा गड्ढा दे रहा है। मैं सोचता हूँ, इन प्रदर्शनो और दुर्व्यवहारो ने मेरे ललाट पर गड्ढा किया

है, अब ऐसा न हो कि मेरे प्रदर्शन एव व्यवहार से किसी के दिल पर गड्ढा हो जाये ? इसीलिए मैं हमेशा सीधे-सादे वेश मे और सरल व्यवहार से रहता हूँ।" रामजी भाई के ललाट पर गड्ढा होने के कारण ही उनका नाम पड गया—"फूट कपाल।"

हाँ, तो मैं आपसे यही बात कह रहा था कि शिष्टाचार का दूसरा सूत्र है—गरीबो के प्रति सहयोग एव सहानुभूति की भावना रखना। अपने प्रदर्शन एव व्यवहार से किसी के दिल को ठेस न पहुँचे ऐसा विचार रखना।

☆☆

है, अब ऐसा न हो कि मेरे प्रदर्शन एव व्यवहार से किसी के दिल पर गड्ढा हो जाये ? इसीलिए मैं हमेशा सीधे-सादे वेश मे और सरल व्यवहार से रहता हूँ।" रामजी भाई के ललाट पर गड्ढा होने के कारण ही उनका नाम पड गया—"फूट कपाल।"

हाँ, तो मैं आपसे यही बात कह रहा था कि शिष्टाचार का दूसरा सूत्र है—गरीबो के प्रति सहयोग एव सहानुभूति की भावना रखना। अपने प्रदर्शन एव व्यवहार से किसी के दिल को ठेस न पहुँचे ऐसा विचार रखना।

☆☆

बुराइयो के गड्ढे मे धकेल रहे हैं—जिसके कटु परिणाम यहाँ पर भी दुःख-दायी होगे, और परलोक की यात्रा मे तो अवश्य ही कष्ट एव दुःख देने वाले होंगे—तब आपको कोई सत्पुरुष, साधु-महात्मा पुकार कर कहे—"भाई! जीवन की गाडी को यो गड्ढे मे मत गिराओ! भविष्य को अन्धकारमय मत बनाओ—कुछ सोचो! यह जीवन कुछ सुकृत करने के लिए है, सुकृत का, भलाई का मार्ग अपनाओ, इस दुष्कृत के भयानक मार्ग पर मत जाओ"—इस प्रकार की हित भरी बातें कहने वाले सद्गुरु के प्रति क्या आपका मन कृतज्ञता से नही भर जायेगा? क्या श्रद्धापूर्वक अभिवादन करने के स्थान पर आप उन्हे गाली देंगे? अशिष्ट व्यवहार करेंगे? कि "तुम्हे क्या पडी है—हम अपने मन के राजा हैं, चाहे जहां जायेंगे, चाहे जैसा करेंगे! तुम कौन हो हमे उपदेश देने वाले? हमारे मे बुद्धि नही है क्या?"—मैं समझता हूं यदि आपने आटे की जगह मिट्टी नही खाई है, तो ऐसा उत्तर आप नही देंगे—इस प्रकार की कृतघ्नता आपसे नही होगी!

तीन का उपकार

आपके मन मे अपने उपकारी के प्रति, अपने हितैषी के प्रति अवश्य ही आदर की भावना जगेगी, आप उन्हे धन्यवाद देंगे—"आपने हमे कष्टो से बचा लिया, भविष्य के दुःखो से सावधान कर दिया।"

कहा जाता है—संसार मे ऐसा कोई पदार्थ नही, जिसका हमारे ऊपर उपकार नही हो। पृथ्वी मनुष्य को धारण करती है, उसके लिए अन्न, वस्त्र, मकान आदि देती है, यदि पृथ्वी अन्न न दे, कपास पैदा न करे, तो क्या मनुष्य आज भी भूखा न मरेगा? जगली जानवरो की भांति नगा नही फिरेगा? जल का जीवन मे कितना महत्त्व है? इसे 'जीवन' कहा गया है, कभी-कभी एक घूँट पानी के अभाव मे प्राण सूख जाते हैं। वैसे ही अग्नि, वायु और आकाश आदि तत्त्वो का जीवन धारण मे अत्यन्त सहयोग है, अत वे भी जीवन के उपकारी है। इसीलिए प्राचीन युग मे पृथ्वी की पूजा की जाती थी, जल और अग्नि को देवता माना गया था, वायु और आकाश की महिमाएँ गाई जाती थी। मनुष्य इन सबके प्रति कृतज्ञता प्रगट करता था और उनका उपकार मानता था। यह हमारी कृतज्ञता की सूक्ष्म दृष्टि है।

यदि आप जीवन की इतनी सूक्ष्मता मे न जायें तब भी शास्त्रो मे बताया है कि हमारे जीवन के जो निकटतम उपकारी है, जिनका उपकार प्रत्यक्ष रूप से हमारे जीवन का सबल बना हुआ है, उनको तो हमें सतत स्मरण रखना ही चाहिए।

स्थानागसूत्र मे वताया है कि मनुष्य तीन व्यक्तियो के उपकार से कभी उऋण नहीं हो सकता—

१ माता-पिता
२ आजीविका देने वाला (मालिक)
३ धर्म गुरु

मैं सोचता हूं इनके उपकार की विस्तृत वातें वताने की आवश्यकता नही है। आप सुनते हैं, और समझते भी है कि जीवन मे इन तीनो का कितना उपकार हमारे सिर पर है। अव वात सिर्फ मानने की है, और उस उपकार के प्रति कृतज्ञ वनने की है। हम यदि अपने उपकारी के प्रति कृतज्ञ होते हैं तो इससे हमारे जीवन मे दो लाभ होगे—एक तो जो गुण, जो शिक्षाएँ हमे प्राप्त हुई हैं वे और अधिक विकसित होगी, उनका प्रभाव और व्यापक होगा, लोगो मे उनकी कदर वढेगी। दूसरे अन्य नये गुणो का प्रादुर्भाव भी हमारे हृदय मे हो सकेगा। स्थानाग (४।४) मे वताया है कि चार कारणो से मनुष्य अविद्यमान (अप्रकट) गुणो को भी प्रकट करके उन्हे अधिक प्रकाशित एव उद्दीपित कर देते हैं।

वे चार कारण है—

चउहि ठाणेहि असते गुणे दीवेज्जा—

१ अब्भास वत्तिय—अभ्यास वृत्ति के कारण
२ परच्छन्दाणुवत्तिय—गुरुजनो की दृष्टि के अनुसार चलने के कारण
३ कज्ज हेउं—कार्य के आ जाने से
४ कय पडिकइयेइ—कृत प्रतिकृतज्ञता।

इनमे कृतप्रतिकृतज्ञता—किये हुए उपकार के प्रति पुन उपकार करने की भावना से जीवन मे नये-नये सद्गुणो का आविर्भाव होता है। जो गुण विद्यमान हैं, वे अधिक दीप्त होते है, और जो प्राप्त नही हैं, वे प्राप्त होते हैं—यह कृतज्ञता का फल है। इसलिए जीवन मे गुणो के विकास एव उन्नयन के लिए कृतज्ञता परम आवश्यक तत्त्व है।

इस्लाम धर्म मे साधक को परमज्ञान प्राप्त करने के लिए सात मुकाम वताये हैं। जिनमे 'शुक्र' (कृतज्ञता) को भी एक मुकाम माना है,—

सात मुकाम ये हैं —

१ तोवा—पश्चात्ताप, अनुताप
२ जहूद—अपनी इच्छा से गरीवी को अपनाना

करना चाहिए, उसके ज्ञान की प्रशंसा करनी चाहिए और यह मानना चाहिए कि विद्वान व्यक्ति हमारे समाज एव राष्ट्र के गौरव हैं।

वर्तमान मे हम देखते हैं और सुनते भी हैं कि भारत से प्रतिभाशाली विद्वान वैज्ञानिक जिन्हें यहाँ पर नौकरी की तलाश करते-करते परेशान होना पडा, विदेशो मे जाकर बस गये और वहाँ पर वे अपनी विद्वत्ता का चमत्कार दिखाकर नॉवल पुरस्कार विजयी बने। भारत मे आज प्रतिभा के प्रवास की समस्या है, विद्वान बाहर जाकर बस रहे है। लोग कहते हैं कि उनके मन में देश-प्रेम एव राष्ट्र-प्रेम की भावना नही है, किन्तु आपने कभी यह सोचा कि राष्ट्र के मन मे भी अपने विद्वानो के प्रति कुछ प्रेम है या नही ? जो देश विद्वानो का आदर करता है, विद्वान अवश्य ही उस राष्ट्र से प्रेम करते है, भले ही वह अपना हो या पराया ? आप विदेशी सस्कृति का अनुकरण कर रहे हैं वहाँ उनकी यह विशिष्टता भी सीखनी चाहिए कि वे विद्वानो का आदर करते हैं, उनके ज्ञान की प्रशसा करते हैं। और अपने देश के ही नही, बाहर के विद्वानो की भी कदर करके उन्हे अपने देश मे महत्त्वपूर्ण स्थान एव विकास के समुचित अवसर देते हैं।

दुःख में अदीनता

शिष्टाचार का एक सूत्र है—दु ख मे अदीनता ! दु ख एव सुख की जोडी है, जैसे धूप और छाया की। कालिदास ने कहा है—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दु.खमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।[1]

ससार मे न किसी को एकान्तत. दु ख मिलता है, और न एकान्तत सुख। सुख-दु ख दोनो ही गाडी के चक्के की भाँति ऊपर-नीचे पलटते ही रहते हैं। राष्ट्र कवि मैथिलीशरण ने कहा है—

सुख दु ख तो जीवन मे प्रतिपल
आते जाते रहते हैं।
सुख तो सब ही सह लेते
पर दुःख धीर ही सहते हैं।

देखा जाय तो सुख मे तभी आनन्द मिलता है जब वह दु ख के बाद आता

---

१ उत्तरमेघ ३६

है। सुख तो आलस्य एवं सुस्ती पैदा करने वाला है, दु.ख मे चुस्ती रहती है, स्फूर्ति रहती है, लेकिन कब ? जब मनुष्य दु ख से घबराये नही ? सुख की भांति दु.ख का स्वागत करे, दु ख मे धीरज और साहस से काम ले तो वह दु ख ही सुख का द्वार बन जाता है। महाभारत मे भीष्म पितामह अपना अन्तिम सदेश देते हुए कहते हैं—

> सुख वा यदि वा दु.खं प्रियं वा यदिवाऽप्रियम् ।
> प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनाऽपराजितः ॥[1]

सुख हो या दु ख, प्रिय हो या अप्रिय, जो कुछ भी प्राप्त हो जाये उसे सहर्ष स्वीकार करके हृदय को सदा अपराजित रखना चाहिये। जिसके पास दु ख सहने की कला है, उसके लिए दु ख पीडाकारक नहीं, किन्तु अनुभवदायक गुण का काम करता है।

एक कवि ने कहा है—

> है दुःख ही सन्मित्र सब कुछ दु.ख ही सिखलाय है,
> बल बुद्धि देता दु ख पण्डित धीर वीर बनाय है।

इसलिए शास्त्रो मे कहा है—"दु ख आने पर ध्रुवता धारण करके उसको पार करना चाहिए—दुक्खेण पुट्ठे धुव माइएज्जा।[2]

जिस प्रकार दु ख मे धैर्य और अदीनता का भाव जगाना चाहिए उसी प्रकार सुख मे नम्रता धारण करनी चाहिए। दु ख को हजम करना उतना कठिन नही है, जितना सुख को। सुख को पचाने के लिये, उसका मधुर परिपाक अनुभव करने के लिये नम्रता भी उतनी ही आवश्यक है जितनी अदीनता।

प्रसंग पर उचित बात

शिष्टता का आठवा सूत्र—"समय पर उचित बात कहना—प्रस्तावे मितभाषित्व।"

पहली बात तो यह है कि मुख से वचन तभी निकालना चाहिये जब उसकी आवश्यकता हो, "वचन रतन है" रतन तिजोरी से तभी निकाला जाता है जब उसकी अत्यन्त आवश्यकता आ पडती है। तो जहाँ बोलना है, वहाँ पहले देखना चाहिये कि आपके वचन की कितनी और क्या आवश्यकता है ? और किस प्रसग

१ महाभारत शांतिपर्व २५।२६ २ आचारांग १

पर आपको बोलना है। यह भी सोचना चाहिये कि यदि बोलना जरूरी और उचित है तो फिर किसी कारण से डरना भी नही है, किन्तु निर्भय होकर मधुर और संक्षिप्त शब्दो मे युक्तिपूर्वक अपनी बात रखनी चाहिये। एक कवि ने कहा है, जो बात कहनी हो वह मिसरी की डेली जैसी होनी चाहिये। मिसरी की डली मीठी भी होती है और वजनदार भी, बात मीठी भी हो और सारपूर्ण भी हो, ताकि श्रोता पर उसका असर पडे। इसलिए कहा है—

जो बात कहो, साफ हो, सुथरी हो, भली हो,
कड़वी न हो, खट्टी न हो, मिसरी की डली हो।

इसलिए शिष्टता का यह सूत्र है—समय पर उचित वाणी बोलनी चाहिये।

मन-भेद न हो

शिष्टता का नौवा सूत्र है, किसी के साथ विरोध, द्वेष एव मनोमालिन्य न रखे। मनुष्य विचारो का पुतला है, समाज मे जहाँ रहता है, वहाँ किसी के साथ विचार-भेद, मत-भेद हो सकता है, पर मत-भेद को मन-भेद तक नही पहुँचने देना चाहिये। मत-भेद जल की रेखा के समान है, हवा के झोंके से मिट सकते है, पर मन-भेद मिटने कठिन होते हैं। मन-भेद होने पर परस्पर द्वेष एव वैमनस्य की आग बढती ही जाती है अत सभ्यजनो का यह कर्त्तव्य है कि उनके जीवन की दृष्टि शुद्ध हो, स्पष्ट हो, किसी के साथ वैर-विरोध एव मनोमालिन्य न रखे, यह 'अविसंवादित्व'—गुण है।

प्रारब्ध कार्य पूरा करें

शिष्टता के दसवें सूत्र—प्रतिपन्नक्रिया—के द्वारा आचार्य ने सूचित किया है कि शिष्टजन अपने प्रारब्ध किए हुए कार्य को बीच में अधूरा न छोड़े। सकल्प एव धैर्यपूर्वक उसे पूरा करें। भर्तृहरि ने बताया है—"निकृष्ट पुरुष किसी कार्य को विघ्न के भय से प्रारम्भ नहीं करते, वे प्रारम्भ मे ही विचलित हो जाते है, मध्यम पुरुष विघ्न आने पर कार्य को अधूरा छोड़कर मैदान से हट जाते हैं, किन्तु उत्तम पुरुष प्राण-प्रण से प्रारम्भ किये हुए कार्य को किनारे तक लगाते हैं, बीच मे छोड़ना उन्हें मृत्यु से भी अधिक असह्य होता है। उनकी निष्ठा हिमाचल सी अचल होती है।" सर्दी-गर्मी, भय-अनुराग, सपत्ति-विपत्ति के तूफान तो कार्य के बीच मे उठते ही है, किन्तु इन विघ्नो मे जिसका धैर्य चचल नहीं होता वही वास्तव मे पंडित सत्पुरुष एव शिष्ट पुरुष है—

यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः ।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पंडित उच्यते ।
—महाभारत उद्योग पर्व ३३।१६

आप जानते हैं, जीवन समुद्र की यात्रा है, इस यात्रा मे अनेक तूफान, भवर एव ज्वार आते हैं, लहरो की उथल-पुथल मे नौका डगमगाती रहती है, किन्तु सच्चा यात्री वह होता है जो तूफानो से जूझता हुआ अपनी यात्रा को मजिल तक पहुँचा दे। यात्रा को बीच मे छोड देने वाला यात्री नही कहला सकता। इसी प्रकार अपने प्रारब्ध कार्य को बीच मे छोड देने वाला 'कर्त्तव्यशील' नही कहला सकता। आचार्य ने कहा—सकटो का सामना करके भी जो अपने कर्त्तव्य को पूरा करता है—वह शिष्ट पुरुष है।

कुलाचार का पालन

अपने कर्त्तव्य मे निष्ठा के साथ-साथ कुलाचार के पालन मे भी जागरूक रहना शिष्ट-जन का कुलधर्म है। कुलधर्म का अर्थ है—कुल की परम्परा, मर्यादा। प्राचीन काल से बुजुर्गो ने कुल की सुव्यवस्था एव सामाजिक व्यवहारो की समुचितता रखने की दृष्टि से जिन आचार, परम्परा, रीति-रिवाजो एव मर्यादाओ का विधान किया है, उनका अनुशीलन करना, पालन करना यह शिष्ट-जन का कर्त्तव्य है।

कुलधर्म, जिसे कुलाचार भी कहा जाता है मनुष्य का पैतृक आदर्श होता है। कुल के वृद्ध पुरुषो ने जिन मर्यादाओ का विधान किया है उसके पीछे सामाजिक सदाचार एव नैतिक बल का ध्येय रहा है। कुल-परम्परा मनुष्य को चरित्र से गिरते हुए बचा सकती है, और आदर्श का मार्ग भी प्रशस्त कर सकती है। इसलिए कुलाचार की अवहेलना नही करनी चाहिए। भारतीय परम्परा मे राम को आदर्श माना गया है, और उन्हे मर्यादा पुरुषोत्तम कहा गया है, क्यो? इसीलिए कि उन्होने अपनी कुल मर्यादा के पालन मे लक्ष्मण से प्रिय भाई और सीता-सी प्राणाधिक सुन्दरी की भी परवाह नही की? इसीलिए आज ससार राम को आदर्श मानता है।

जैनसूत्रो मे श्रावक के आदर्श जीवन का वर्णन करते हुए बताया गया है—वह कुल मे मेढी-भूए (मेढिभूत) एक आदर्श होता है। उसका आचार दूसरो के लिए उदाहरण होता है, इसलिए वह श्रावक भी अपने आचार को वृद्धजनो की परम्परा के अनुकूल रखता है। उसका विशेषण आता है—वुड्ढाणुग वृद्धजनो का अर्थात् अपने आदर्श पूर्वजो का अनुगमन करने वाला।

जो अपने कुलधर्म एव कुलाचार का पालन करता है वह सभ्य समाज मे आदर्श पुरुष होता है।

अपव्यय का वर्जन

शिष्टाचार का पालन करने वाला सद्गृहस्थ जीवन मे पद-पद पर विवेक एव बुद्धि से काम लेता है। विवेकी पुरुष कभी भी अपने धन का अपव्यय नही करता। वह धन का महत्त्व जानता है, और यह भी जनता है कि धन कमाने के लिए कितने कष्ट एव कितनी हिंसा-असत्य आदि का आचरण करना पडता है। उस धन का यदि सदुपयोग नही किया जाय तो वह धन मनुष्य के पतन का कारण बनता है। उस पाप से सप्राप्त धन को मनुष्य अपने मौज, शौक, प्रदर्शन, भोग-विलास आदि मे पानी की तरह बहाकर यह सोचता होगा कि मैं पैसे का आनन्द ले रहा हूँ, किन्तु गहराई की बात यह है कि वह आनन्द नही, केवल आनन्द का स्वप्न देख रहा है, उस आनन्द के स्वप्न का परिणाम बहुत ही कटु एव दुखदायी होगा।

व्यय : सद्व्यय : अपव्यय

यह तो निश्चित ही है कि जो धन आता है, वह जाता भी है, जिसका उत्पाद हुआ है उसका व्यय भी होगा। धन का व्यय—तो निश्चित ही है, पर एक आदमी उसका अपव्यय—अर्थात् दुरुपयोग करता है, बिना सोचे-समझे अथवा निरर्थक कामो मे खर्च करता है, जबकि एक दूसरा उसका सद्व्यय—सोच-विचार पूर्वक उपयोग करता है, वह ऐसे कार्य मे उसका नियोजन करता है जिससे किसी का भला भी होता है, अपनी कीर्ति भी होती है और परलोक मे पुण्यलाभ भी होता है।

नीतिकार का कथन है कि जिस प्रकार मनुष्य धन की आय (उपार्जन) के अच्छे तरीके सोचता रहता है उसी प्रकार व्यय—खर्च के भी सुन्दर तरीके सोचते रहना चाहिए। आय को देखकर ही उसके अनुपात मे व्यय का विचार करना चाहिए। सौ की आय पर नब्बे का व्यय करना बुद्धिमानी है, और सौ पर सवासौ का व्यय करना मूर्खता है। नीतिशास्त्र मे कहा है—

आयव्ययमनालोच्य यस्तु वैश्रवणायते।
अचिरेणैव कालेन सोऽत्र वै श्रवणायते॥

अपनी आय एव व्यय का विचार किये बिना जो व्यक्ति कुबेर के खजाने की तरह (आज की भाषा मे कारू का खजाना) अपना धन उड़ाता जाता है,

उसकी धनाढ्यता कुछ ही दिनो मे सुनने भर की एक कहानी बन जाती है, अर्थात् उसे दरिद्र होते देर नही लगती। यही बात प्रसिद्ध जैनाचार्य सोमदेव सूरि ने कही है—

आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रमणोऽपि श्रमणायते।

—नीतिवाक्यामृत

आय का विचार किये बिना खर्च करने पर कुबेर का भडारी वैश्रमण भी कुछ दिनो मे 'श्रमण'—भिक्षुक बन जाता है।

देखा-देखी, प्रदर्शन, फैशन आदि धन के अपव्यय के रास्ते हैं, अपव्यय करने वाला बहुत जल्दी कर्जदार हो जाता है, और कर्जदार कभी सुख की नीद नही सो सकता। इसलिए शिष्ट व्यक्ति को 'अपव्यय' से बचकर उचित कार्यों मे धन का 'सद्व्यय' करना चाहिए।

योग्य स्थान : योग्य कार्य

सद्गृहस्थ को देश काल का भी उचित ज्ञान होना चाहिए। जिस स्थान पर जो कार्य उचित हो, करने योग्य हो, उसका अवश्य पालन करना चाहिए। यह न हो कि समय पर करने योग्य कार्य न किया जाय और बाद मे पछताना पडे, हाथ मसलते बैठना पडे और लोक भी यह कहकर हँसे कि—"दूध बिलैया पी गई अब बैठी ढोल बजा"। अत जिस स्थान एव समय पर जिस प्रकार का कार्य आवश्यक एव उचित हो, उसका ध्यान रखना शिष्टाचार का मुख्य सूत्र है।

मुख्य कार्य में दिलचस्पी

शिष्टाचार के सिद्धान्तो मे यह भी एक सिद्धान्त है—'प्रधान कार्ये निर्बन्ध.' मुख्य कार्य मे दिल लगाकर उसे पूरा करना। वैसे तो प्रतिदिन के जीवन मे सैकडो कार्य सामने आते हैं, जिन्हे करना आवश्यक होता है, किन्तु सभी आवश्यक कार्य कौन पूरे कर सकता है। काम बहुत हैं, समय कम है—"स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः"—उनमे भी अनेक विघ्न-बाधाएँ मुँह बाए खडी रहती हैं, अत बुद्धिमान पुरुष उन सैकडो-हजारो कार्यों मे से चुनाव करता है, कि किन कार्यों को मुख्यता एवं किनको गौणता देनी है। जैसे एक पद के लिए सैकडो उम्मीदवार खडे होते हैं, उनमे से एक को चुनकर लिया जाता है और उसे फिर राष्ट्र की जिम्मेदारी सौंपी जाती है, वैसे ही अपने सैकडो, हजारो कार्य-कलापो मे जो अत्यत महत्त्व का कार्य हो, उनका चुनाव करना चाहिए और उन

पर पूरी निष्ठा टिका कर उसे सफल बनाना चाहिए। चूँकि जब तक हमारी निष्ठा, संकल्पशक्ति, बिखरी हुई रहती है, तब तक कार्य मे बल एव प्राण नही आ सकता। निष्ठा को केन्द्रित करके पूरी शक्ति से जुट जाना सफलता का मूल मत्र है। जीवन मे सफलता सपादन करने के लिए आचार्य का यह सूत्र बहुत उपयोगी है—कि अपनी निष्ठा को, शक्ति को इधर-उधर बिखरने मत दो, अपने लक्ष्य एव प्रधान उद्देश्य को सामने रखकर दृढतापूर्वक उसमे जुट जाओ।

आलस्य-परिहार

सफलता प्राप्त करने का अगला सूत्र है—"प्रमादस्य विवर्जनम्।" प्रमाद—अर्थात् आलस्य का त्याग। आलस्य शरीर के भीतर छुपा हुआ शत्रु है—"आलस्यो हि मनुष्याणा शरीरस्थो महान्रिपुः" घर का शत्रु कितना भयकर होता है? घर का भेदी लका ढाहे—कहावत प्रसिद्ध है। आलस्य मनुष्य के घर का भेदी—घर मे बैठा शत्रु या आस्तीन का सांप—कुछ भी कहिए—यह मानव-जीवन के रस, उत्साह एव साहस को चूसकर उसे नीरस, उत्साहहीन एव भयग्रस्त बना देता है। आलसी व्यक्ति न धर्म मे अपना तेज दिखा सकता है और न कर्म मे।

भगवतीसूत्र मे एक प्रसग आया है। गौतम स्वामी ने भगवान से पूछा—"भगवन्! दो व्यक्ति समान आकृति, समान वर्ण वाले एक कार्य मे जुटते हैं, उनमे से एक उस कार्य मे सफल होता है, विजयश्री का वरण करता है तथा दूसरा पराजित होकर सिर पर हाथ धर के बैठता है, इसका क्या कारण है?"

भगवान ने कहा—"गौतम! जो व्यक्ति उत्साही है, वीर्यवान, स्फूर्तिवान है वह अपनी सब बाधाओ पर, कार्य-अवरोधक शत्रुओ पर विजय प्राप्त करता है—"सवीरिए परायिणति, अवीरिए परायिज्जति"[१]—वीर्यवान जीतता है और निर्वीर्य (आलसी-शक्तिहीन) पराजित होता है।"

तो जिसमे आलस्य है, उसमे पराजय एव दरिद्रता का वास है। अंग्रेजी की एक कहावत है, जिसका भाव है—दरिद्रता आलस्य का पुरस्कार है। तथागत बुद्ध ने तो आलस्य एव प्रमाद को 'मृत्यु पद' भी कहा है—"पमादो मच्चुनो पदं"–(धम्मपद)। 'आलस्य' शब्द से 'प्रमाद' शब्द व्यापक है। 'प्रमाद' मे अन्य दुर्गुण भी आ जाते हैं। जैन परिभाषा मे प्रमाद की व्यापक व्याख्या की गई है—

---

१ भगवतीसूत्र १।८

मज्जं विसय कसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया
इअ पचविहो एसो होई पमाओ य अप्पमाओ ।

—उत्त० नियुंक्ति १८०

मद्य, विषय, कषाय, निद्रा एव विकथा (अर्थहीन राग-द्वेष को बढाने वाली कथा) इन पाँचो को प्रमाद की गणना मे लिया गया है और इनके त्याग पर बल दिया है । आचार्य ने प्रमाद का त्याग करने की बात इसीलिए कही है कि प्रमाद से सद्गृहस्थ का जीवन असतुलित एव अव्यवस्थित हो जाता है, वह अपने शिष्टाचार एव कुलधर्म का पालन नहीं कर सकता ।

लोकाचार

प्रमाद का त्याग करने वाला शिष्ट पुरुष अपने लोकाचार—लौकिक कार्यों मे भी सदा सावधान रहता है । वैसे लोकाचार शब्द का अर्थ है, लोको का आचार । पर यहाँ लोकाचार का एक विशेष अर्थ है—और वह प्रचलित प्रयोग से है । जन्म-मृत्यु-सबधी कार्यो के लिए हमारे यहाँ लोकाचार शब्द चलता है । जब किसी की मृत्यु हो जाती है और उसकी सस्कार आदि क्रियाएँ की जाती है तो उसे लोकाचार कहते है । 'लोकाचार' का यह कृत्य सामाजिक व्यक्ति के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है जितना जन्म-महोत्सव एव विवाह आदि उत्सव ! जन्म और विवाह मे सम्मिलित न हुआ जाये तो चलता है, पर यदि मृत्यु-कार्य मे सम्मिलित नही हुए तो उसे लोक अशिष्टता एव असामाजिकता समझते हैं । सुख मे साथ नही दिया तो कोई बात नही, किन्तु दु ख मे साथ अवश्य देना चाहिए—यह सामाजिक नियम है । यदि किसी के दु:ख मे साथी नहीं बनेंगे, लोकाचार मे साथ नही देंगे तो जब आपको काम पडेगा तो कौन आपका साथ देगा ? जैसा व्यवहार आपका होगा, वैसा ही लोग आपके साथ करेंगे ।

कहा जाता है—एक गाँव मे एक बडे मुसद्दी रहते थे । उन्हे अपने पद का बडा अभिमान था । जब कभी किसी के यहाँ गमी हो जाती तो बुलावा दिया जाता । मुसद्दी साहब के यहाँ जब बुलावा आता तो कहते—"घोडा भेज दीजिए !" घोडा आ जाता और मुसद्दी साहब लोकाचार के लिए घोड़े पर बैठकर जाते । उन्होंने तो अपना सिद्धान्त ही बना लिया कि जब कभी जाना हो तो घोडा आये तभी जाये । लोगो को उनकी यह बात अखरती थी, यह क्या ? जब कभी काम पडे तो घोडे के बिना तो आते ही नही ! एक बार मुसद्दी साहब की माता जी का स्वर्गवास हो गया । सब घरो मे बुलावा भेजा—कि इस काम को

पर पूरी निष्ठा टिका कर उसे सफल बनाना चाहिए। चूंकि जब तक हमारी निष्ठा, सकल्पशक्ति, बिखरी हुई रहती है, तब तक कार्य मे बल एव प्राण नहीं आ सकता। निष्ठा को केन्द्रित करके पूरी शक्ति से जुट जाना सफलता का मूल मत्र है। जीवन मे सफलता सपादन करने के लिए आचार्य का यह सूत्र बहुत उपयोगी है—कि अपनी निष्ठा को, शक्ति को इधर-उधर बिखरने मत दो, अपने लक्ष्य एव प्रधान उद्देश्य को सामने रखकर दृढतापूर्वक उसमे जुट जाओ।

आलस्य-परिहार

सफलता प्राप्त करने का अगला सूत्र है—"प्रमादस्य विवर्जनम्।" प्रमाद—अर्थात् आलस्य का त्याग। आलस्य शरीर के भीतर छुपा हुआ शत्रु है—"आलस्यो हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान्रिपुः" घर का शत्रु कितना भयकर होता है? घर का भेदी लका ढाहे—कहावत प्रसिद्ध है। आलस्य मनुष्य के घर का भेदी—घर मे बैठा शत्रु या आस्तीन का सांप—कुछ भी कहिए—यह मानव-जीवन के रस, उत्साह एव साहस को चूसकर उसे नीरस, उत्साहहीन एव भयग्रस्त बना देता है। आलसी व्यक्ति न धर्म मे अपना तेज दिखा सकता है और न कर्म मे।

भगवतीसूत्र मे एक प्रसग आया है। गौतम स्वामी ने भगवान से पूछा—"भगवन्! दो व्यक्ति समान आकृति, समान वर्ण वाले एक कार्य मे जुटते हैं, उनमे से एक उस कार्य मे सफल होता है, विजयश्री का वरण करता है तथा दूसरा पराजित होकर सिर पर हाथ धर के बैठता है, इसका क्या कारण है?'

भगवान ने कहा—"गौतम! जो व्यक्ति उत्साही है, वीर्यवान, स्फूर्तिवान है वह अपनी सब बाधाओ पर, कार्य-अवरोधक शत्रुओ पर विजय प्राप्त करता है—"सवीरिए परायिणति, अवीरिए परायिज्जति"[१]—वीर्यवान जीतता है और निर्वीर्य (आलसी-शक्तिहीन) पराजित होता है।"

तो जिसमे आलस्य है, उसमे पराजय एव दरिद्रता का वास है। अग्रेजी की एक कहावत है, जिसका भाव है—दरिद्रता आलस्य का पुरस्कार है। तथागत बुद्ध ने तो आलस्य एव प्रमाद को 'मृत्यु पद' भी कहा है—"पमादो मच्चुनो पद"—(धम्मपद)। 'आलस्य' शब्द से 'प्रमाद' शब्द व्यापक है। 'प्रमाद' मे अन्य दुर्गुण भी आ जाते है। जैन परिभाषा मे प्रमाद की व्यापक व्याख्या की गई है—

---

१ भगवतीसूत्र १।८

मज्जं विसय कसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया
इअ पचविहो एसो होई पमाओ य अप्पमाओ।
—उत्त० निर्युक्ति १८०

मद्य, विषय, कषाय, निद्रा एव विकथा (अर्थहीन राग-द्वेष को बढाने वाली कथा) इन पाँचो को प्रमाद की गणना मे लिया गया है और इनके त्याग पर बल दिया है। आचार्य ने प्रमाद का त्याग करने की बात इसीलिए कही है कि प्रमाद से सद्गृहस्थ का जीवन असतुलित एव अव्यवस्थित हो जाता है, वह अपने शिष्टाचार एव कुलधर्म का पालन नही कर सकता।

लोकाचार

प्रमाद का त्याग करने वाला शिष्ट पुरुष अपने लोकाचार—लौकिक कार्यों मे भी सदा सावधान रहता है। वैसे लोकाचार शब्द का अर्थ है, लोको का आचार। पर यहाँ लोकाचार का एक विशेष अर्थ है—और वह प्रचलित प्रयोग से है। जन्म-मृत्यु-सबधी कार्यों के लिए हमारे यहाँ लोकाचार शब्द चलता है। जब किसी की मृत्यु हो जाती है और उसकी सस्कार आदि क्रियाएँ की जाती हैं तो उसे लोकाचार कहते हैं। 'लोकाचार' का यह कृत्य सामाजिक व्यक्ति के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है जितना जन्म-महोत्सव एव विवाह आदि उत्सव। जन्म और विवाह मे सम्मिलित न हुआ जाये तो चलता है, पर यदि मृत्यु-कार्य मे सम्मिलित नही हुए तो उसे लोक अशिष्टता एवं असामाजिकता समझते हैं। सुख मे साथ नहीं दिया तो कोई बात नही, किन्तु दु.ख मे साथ अवश्य देना चाहिए—यह सामाजिक नियम है। यदि किसी के दु.ख मे साथी नही बनेंगे, लोकाचार मे साथ नहीं देंगे तो जब आपको काम पड़ेगा तो कौन आपका साथ देगा ? जैसा व्यवहार आपका होगा, वैसा ही लोग आपके साथ करेंगे।

कहा जाता है—एक गाँव मे एक बडे मुसद्दी रहते थे। उन्हें अपने पद का बड़ा अभिमान था। जब कभी किसी के यहाँ गमी हो जाती तो बुलावा दिया जाता। मुसद्दी साहब के यहाँ जब बुलावा आता तो कहते—"घोडा भेज दीजिए!" घोडा आ जाता और मुसद्दी साहब लोकाचार के लिए घोडे पर बैठकर जाते। उन्होंने तो अपना सिद्धान्त ही बना लिया कि जब कभी जाना हो तो घोडा आये तभी जायें। लोगों को उनकी यह बात अखरती थी, यह क्या ? जब कभी काम पडे तो घोडे के बिना तो आते ही नही! एक बार मुसद्दी साहब की माता जी का स्वर्गवास हो गया। सब घरो मे बुलावा भेजा—कि इस काम को

निपटाने के लिए पधारें। लोगो ने यह मौका देखा और कहलाया—"हमारे लिए घोडा भेजो तभी आयेंगे।"

मुसद्दी विचार करने लगे—"सब लोग घोडो पर बैठेंगे तो 'माँ' को उठायेगा कौन ? और बिना घोडे के कोई आने को तैयार नही ! और इतने घोड़े भी तो कहाँ से लाऊँ ?" आखिर लोगो से मिन्नते की, पचो के सामने गये, तो पचो ने कहा—"आपने जब लोकाचार का ठीक ढग से पालन नही किया तो अब दूसरो की शिकायत क्यो करते हैं ?" मुसद्दी ने माफी मांगी, "मेरी भूल हुई।" यह है लोकाचार की शिष्टता। सामाजिक व्यक्ति को सामाजिक नियम से ही रहना पडता है, यहाँ समाज मे रहकर जगल का कानून नही चल सकता। इसलिए लोकाचार का उचित पालन शिष्टता का सोलहवाँ सूत्र है।

औचित्य

शिष्टाचार का सत्रहवाँ सूत्र है—सर्वत्र औचित्य का निर्वाह ! जहाँ जो कार्य, जो विधि उचित हो, उसका योग्य पालन करना—इस सूत्र मे बताया है। इसके लिए पहले तो सद्गृहस्थ को उचितता का ज्ञान होना चाहिये। किस स्थान पर किस प्रकार का व्यवहार उचित है—यह बहुत बडी व्यावहारिकता है। गुरु के सामने जाने पर हाथ जोडकर नमस्कार किया जाता है, और मित्र के सामने जाने पर अभिवादन किया जाता है, अपने से छोटा कोई आता है तो उसके साथ दूसरा व्यवहार होता है और अपने नौकर के साथ दूसरा व्यवहार ! 'सब धान बाइस पसेरी' की कहावत जीवन मे नही चल सकती ! क्या आप जिस तरीके से गुरु को वन्दना करते हैं, उसी ढग से मित्रो एव रिश्तेदारो को नमस्कार करते हैं ? नही, न ? अलग-अलग स्थान का अलग-अलग व्यवहार होता है।

आपने सुना होगा, प्रदेशी राजा जब केशी स्वामी के पास उपवन मे आकर बिना नमस्कार किये ही खडा हो जाता है तो केशी स्वामी उसे क्या कहते हैं ? "राजन् ! तुम हमारी जकात के चोर हो ?"

राजा आश्चर्य से पूछता है—"आपकी क्या जकात है ? मैंने कौन-सी जकात की चोरी की ?"

केशी स्वामी ने कहा—"राजन् ! तुम स्वय नीतिज्ञ हो, गुरु के समक्ष जाने पर किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये ?"

राजा ने कहा—"गुरु को नमस्कार करना चाहिये।"

केशी स्वामी—"राजन् ! तुमने नमस्कार नही किया, कर्त्तव्य के औचित्य को जानते हुए भी तुमने उसका पालन नही किया, यही हमारी जकात की चोरी है।"

मैं बता रहा था—यह औचित्य का परिज्ञान सद्गृहस्थ को होना चाहिये। जहाँ पर जैसा व्यवहार उचित होता है—वैसा व्यवहार करना और अनुचित कार्य को स्वय न करना, कोई करता हो तो उसे भी कार्य की उचित विधि सिखाना यह सत्रहवाँ शिष्टाचार है।

नीच कार्य परित्याग

शिष्टाचार की अतिम बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और वह है—"नीच कार्य कभी न करना" यहाँ तक कि प्राण देने पडें तो वह मजूर है, पर नीचवृत्ति न अपनायें। सद्गृहस्थ मे अपने आदर्शों एव सत्कर्त्तव्यो के प्रति इतनी अडिग आस्था होनी चाहिये कि कैसी भी परिस्थिति आ जाये, कैसा भी संकट आ जाये, पर अपने चरित्र से, अपने सदाचार से तथा अपने आदर्श से नही गिरे। वास्तव मे तो वही सत्पुरुष कहलाने का अधिकारी है जो—"प्राण जाय पर प्रण नहि जाई" के सिद्धान्त पर अटल रहता हो। इसलिए भर्तृहरि ने कहा है—"प्राणान्तेऽपि प्रकृति विकृतिर्जायते नोत्तमानाम्" सिंह भूखा मर सकता है, पर घास नही खा सकता, हस प्यासा रह सकता है, पर तलैया का गन्दा जल नहीं पी सकता, उसी प्रकार उत्तम पुरुष प्राण दे सकते हैं, किन्तु उनकी प्रकृति मे विकार नही आ सकते। सद्गृहस्थ की इसी दृढ आस्था पर यह सदाचार एव शिष्टाचार की नीव टिकी हुई है।

सूत्र केवल सूचक है

शिष्टाचार के ये अठारह सूत्र केवल सूत्र रूप मे अर्थात् 'सूचक' रूप मे बताये हैं, ये तो केवल सकेत हैं। इनके सहारे जीवन के सैकडों-हजारों व्यवहार ऐसे हैं जिनका समावेश शिष्टाचार मे होता है, उन्हे भी समझना और उनका पालन करना सद्गृहस्थ के लिए आवश्यक है। आप यह न समझ लें कि जो बात महाराज साहब ने बताई, या पुस्तक मे लिख दी बस उतना ही शिष्टाचार है, हमे उसी का पालन करना है, इनके अलावा शिष्टाचार की कोई बात आती है तो उससे हमे कोई लेना-देना नही। "भाई ! इससे तो बडा अनर्थ हो जायेगा।'

लोकमान्य तिलक का गीता रहस्य पढते हुए एक कहानी आई थी। एक सेठ को एक ईमानदार नौकर की जरूरत थी। सेठ ने अनेक नौकरों को रखा और

छोड दिया कि ये मेरा कहा हुआ काम बराबर नही करते। एक दिन एक पढ़ा-लिखा आदमी आया। सेठ ने कहा—"तुम्हे ईमानदारी से मेरा सब काम करना पड़ेगा।" नौकर ने कहा—"जरूर! आप अपने समस्त कार्यो की सूची बना दीजिये और फिर देखिये कि कौन-सा कार्य बाकी रह जाता है। मैं सब कार्य पूरे कर दूंगा।"

सेठ नौकर के उत्तर से प्रसन्न हुआ। उसने अपने दैनिक कार्यो की पूरी सूची नौकर को दे दी। एक दिन सेठ घूमने को गया। नौकर भी पीछे-पीछे चल रहा था। नदी के किनारे-किनारे टहलते हुए सेठ का पैर फिसल गया और नदी मे जा गिरा। सेठ चिल्लाया—"बचाओ! बाहर निकालो!"

नौकर ने कहा—"ठहर जाइये! मैं सूची निकाल कर देखता हूं कि उसमे नदी मे गिरने पर निकालना लिखा है या नही!"

बन्धुओ! मुझे विश्वास है कि शिष्टता एव सभ्यता की कोई नई बात सामने आने पर आप ऐसा नही करेंगे कि—"देखें, इन अठारह बातो मे है या नही!" ये केवल सकेत हैं, इनके आधार पर आप अपने विवेक से काम लेंगे एव जीवन को 'आदर्श सद्गृहस्थ' का रूप देंगे!

☆☆

७

विवाह : एक नैतिक आदर्श

गृहस्थ-जीवन को सुखी एव सफल बनाने के लिए चार पुरुषार्थ बताये गये हैं। उनमे प्रथम पुरुषार्थ है धर्म—जिस पर जीवन-मन्दिर की नींव टिकी है। और अन्तिम पुरुषार्थ है मोक्ष। जिसे जीवन-मन्दिर का शिखर कहा जा सकता है। नींव और शिखर के बीच मन्दिर का जो भाग है, वही गृहस्थ-जीवन का मध्य रूप है और वह अर्थ एव काममय है। गृहस्थ-जीवन अर्थ एव काम से मुक्त हो, तो वह गृहस्थ-जीवन नहीं, साधु-जीवन हो जाता है। अत अर्थ-काम-युक्त जीवन को गृहस्थ-जीवन माना गया है। किन्तु उस जीवन मे अर्थ एव काम का अनियन्त्रित प्रसार न हो, इसलिए उसे धर्म के बंधन से बांधा गया है और मोक्ष का लक्ष्य समक्ष रखा गया है।

मार्गानुसारी के बोलो मे गृहस्थ-जीवन मे अर्थ शौच—(न्याय से धन कमाना) विषय पर विस्तार से कहा गया है। उस बोल मे उसके 'काम सयम' विषय पर विचार किया गया है। इसलिए आचार्य ने कहा है—कुलशीलसमैः सार्धं कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः—समान कुलशील वाले, तथा अन्य गोत्र मे उत्पन्न हुए परिवार के साथ वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।

विवाह की परिभाषा

उक्त सूत्र मे आचार्य ने दो बातो की ओर विशेष लक्ष्य दिया है—

१ समान कुलशील
२ अन्य गोत्र

इन दोनो बातो पर विचार करने के पूर्व विवाह का आदर्श क्या है, और उसकी परम्परा क्या है इस पर भी विचार कर लेना चाहिए।

विवाह संस्कार गृहस्थ-जीवन का महत्त्वपूर्ण संस्कार है। जीवन के धार्मिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों के पालन का यह बहुत बड़ा आधार है। इसलिए सभी विचारकों ने इसे एक पवित्र संस्कार माना है। विवाह शब्द के पर्यायवाची शब्दों पर विचार करने से उसके अनेक तत्त्व स्पष्ट हो जाते हैं। विवाह शब्द का अर्थ है—विशिष्टता के साथ वहन करना। पुरुष किसी विशिष्ट भावना और विशिष्ट रीति से कन्या को अपने घर ले जाकर पत्नी बनाता है, उसे विवाह कहते हैं।

उद्वाह—उच्चता के साथ और उच्चभावना से कन्या को ले जाना उद्वाह है।

परिणय—सब प्रकार से अर्थात् कन्या के जीवन की सब जिम्मेदारियाँ उठाकर उसे ले जाना परिणय है।

पाणिग्रहण—कन्या का हाथ पकड़कर उसे सम्पूर्ण रूप से सहयोग का वचन देना पाणिग्रहण है। 'हाथ पकड़ना' हमारे यहाँ बहुत बड़ा आश्वासन का वाचक है। हाथ पकड़ के लाने का अर्थ है उसे जिन्दगी भर निभाना। इसलिए 'विवाह' का सम्पूर्ण अर्थ है—स्त्री-पुरुष का जीवन भर के लिए स्नेह एवं सहयोग के सूत्र में बंध जाना। उस बंधन में केवल काम-भावना नहीं होती, वह किसी उच्च संकल्प एवं उच्च ध्येय से युक्त होता है, उसमें जीवन रथ को उदात्त आदर्शों की ओर गतिशील करने के लिए स्त्री और पुरुष दो अश्व की भाँति जुड़ते हैं और निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाते हैं। इसलिए विवाह एक सहयोग का रूप है। ऋग्वेद[१] में कहा है—"जाया विशते पतिम्" योग्य पत्नी पति में मिल जाती है, अर्थात् पति के मन, वचन एवं कर्म के साथ एकाकार हो जाती है। इसीलिए स्त्री को अर्धांगिनी कहा गया है।[२] जब तक पुरुष विवाह नहीं करता तब तक उसका गृहस्थ-जीवन अपूर्ण रहता है—ऐसी भी भारतीय विचारकों की मान्यता है।[३]

तीन उद्देश्य

भारतीय नीति एवं धर्म ग्रन्थों में[४] विवाह के मुख्य तीन उद्देश्य बताये गये हैं—

१ ऋग्वेद १०।८५।२६
२ अर्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नी—तैत्तिरीय संहिता ६।१।८।५
३ शतपथ ब्राह्मण—५।२।१।१०
४ धर्मशास्त्र का इतिहास भा० १।२-२७०

१ धर्म सम्पत्ति
२ प्रजा-उत्पत्ति
३ रति

इनमे प्रथम उद्देश्य सर्वोत्कृष्ट है, और सम्पूर्ण गृहस्थ जीवन का मूल है। स्त्री धर्म संपादन मे पुरुष की सहयोगिनी होती है, उसे धर्म की ओर प्रेरित करती है, अधर्म मे जाते हुए को प्रेमपूर्वक रोकती है, इसलिए जैनसूत्रों मे भी उसे 'धर्म सहायिका' कहा गया है। उपासकदशासूत्र मे जहाँ शकडालपुत्र की पत्नी अग्निमित्रा का वर्णन आया है वहाँ बताया गया है, वह : "**धम्मसाहइया, धम्मविइज्जिया, धम्माणुरागरत्ता, समसुहदुक्खसहाइया**[1]"—वह भार्या पति के धर्म मे सहायता करने वाली, धर्म की साथी, धर्म मे अनुरक्त तथा सुख-दुःख मे समान साथ देने वाली थी। उत्तराध्ययनसूत्र मे रानी कमलावती का प्रकरण भी आप बहुत बार सुन चुके होंगे। जिसने इषुकार राजा को भृगुपुरोहित का धन ग्रहण करते हुए रोका और प्रतिबोध देकर संयम मार्ग की ओर अग्रसर किया। ऐसी पत्नी वास्तव मे मनुष्य की पत्नी ही नही, सखा भी होती है, मित्र होती है।[2] महाभारत के आदि पर्व मे तो पत्नी को श्रेष्ठतम मित्र व त्रिवर्ग-साधना का मूल कह दिया गया है—

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतम सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यत ॥[3]

इसलिए नीति शास्त्र का कथन है कि विवाह का प्रथम उद्देश्य ऐसी स्त्री को जीवनसंगिनी बनाना है जो धर्म कार्यों मे पुरुष का साथ दे, पुरुष के जीवन को व्यवस्थिति एव प्रेरणा दे। इसी उद्देश्य को सामने रखकर विवाह परम्परा का प्रारम्भ हुआ है।

विवाह का प्रारम्भ

जैन मान्यता के अनुसार इस युग के अन्तिम कुलकर नाभिराजा हुए। उनके पूर्व यौगलिक परम्परा चली आ रही थी जिसमें न घर होता, न घर वाली होती न परिवार एव समाज होता। युगल रूप में उत्पन्न सन्तान ही क्रमशः पति-पत्नी बन जाते थे। वास्तव मे उनमें पति-पत्नी भाव था, स्त्री-

---

१ उपासकदशा ७।२२७
२ सखा ह जाया—ऐतरेय ब्राह्मण ३३।१
३ महा० आ० ७४।४०

विवाह संस्कार गृहस्थ-जीवन का महत्त्वपूर्ण संस्कार है। जीवन के धार्मिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों के पालन का यह बहुत बड़ा आधार है। इसलिए सभी विचारकों ने इसे एक पवित्र संस्कार माना है। विवाह शब्द के पर्यायवाची शब्दों पर विचार करने से उसके अनेक तत्त्व स्पष्ट हो जाते हैं। विवाह शब्द का अर्थ है—विशिष्टता के साथ वहन करना। पुरुष किसी विशिष्ट भावना और विशिष्ट रीति से कन्या को अपने घर ले जाकर पत्नी बनाता है, उसे विवाह कहते हैं।

उद्वाह—उच्चता के साथ और उच्चभावना से कन्या को ले जाना उद्वाह है।

परिणय—सब प्रकार से अर्थात् कन्या के जीवन की सब जिम्मेदारियाँ उठाकर उसे ले जाना परिणय है।

पाणिग्रहण—कन्या का हाथ पकड़कर उसे सम्पूर्ण रूप से सहयोग का वचन देना पाणिग्रहण है। 'हाथ पकड़ना' हमारे यहाँ बहुत बड़ा आश्वासन का वाचक है। हाथ पकड़ के लाने का अर्थ है उसे जिन्दगी भर निभाना। इसलिए 'विवाह' का सम्पूर्ण अर्थ है—स्त्री-पुरुष का जीवन भर के लिए स्नेह एवं सहयोग के सूत्र में बंध जाना। उस बंधन में केवल काम-भावना नहीं होती, वह किसी उच्च संकल्प एवं उच्च ध्येय से युक्त होता है, उसमें जीवन रथ को उदात्त आदर्शों की ओर गतिशील करने के लिए स्त्री और पुरुष दो अश्व की भांति जुटते हैं और निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाते हैं। इसलिए विवाह एक सहयोग का रूप है। ऋग्वेद[1] में कहा है—"जाया विशते पतिम्" योग्य पत्नी पति में मिल जाती है, अर्थात् पति के मन, वचन एवं कर्म के साथ एकाकार हो जाती है। इसीलिए स्त्री को अर्धांगिनी कहा गया है।[2] जब तक पुरुष विवाह नहीं करता तब तक उसका गृहस्थ-जीवन अपूर्ण रहता है—ऐसी भी भारतीय विचारकों की मान्यता है।[3]

तीन उद्देश्य

भारतीय नीति एवं धर्म ग्रन्थों में[4] विवाह के मुख्य तीन उद्देश्य बताये गये हैं—

१ ऋग्वेद १०।८५।२६
२ अर्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नी—तैत्तिरीय संहिता ६।१।८।५
३ शतपथ ब्राह्मण—५।२।१।१०
४ धर्मशास्त्र का इतिहास भा० १।२-२७०

१ धर्म मम्पत्ति
२ प्रजा-उत्पत्ति
३ रति

इनमे प्रथम उद्देश्य सर्वोत्कृष्ट है , और सम्पूर्ण गृहस्थ जीवन का मूल है । स्त्री धर्म सपादन मे पुरुष की महयोगिनी होती है, उसे धर्म की ओर प्रेरित करती है, अधर्म मे जाते हुए को प्रेमपूर्वक रोकती है, इमलिए जैनसूत्रो मे भी उमे 'धर्म महायिका' कहा गया है । उपासकदशासूत्र मे जहाँ शकडालपुत्र की पत्नी अग्निमित्रा का वर्णन आया है वहाँ वताया गया है, वह· "धम्मसाहइया, धम्मविइज्जिया, धम्माणुरागरत्ता, समसुहदुक्ख सहाइया[१]"—वह भार्या पति के धर्म मे सहायता करने वाली, धर्म की साथी, धर्म मे अनुरक्त तथा सुख-दुःख मे समान साथ देने वाली थी । उत्तराध्ययनसूत्र मे रानी कमलावती का प्रकरण भी आप वहुत वार सुन चुके होंगे । जिमने इषुकार राजा को भृगुपुरोहित का धन ग्रहण करते हुए रोका और प्रतिवोध देकर सयम मार्ग की ओर अग्रसर किया । ऐसी पत्नी वास्तव मे मनुष्य की पत्नी ही नही, सखा भी होती है, मित्र होती है ।[२] महाभारत के आदि पर्व मे तो पत्नी को श्रेष्ठतम मित्र व त्रिवर्ग-साधना का मूल कह दिया गया है—

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतम सखा ।
भार्या मूल त्रिवर्गस्य भार्या मूल तरिष्यत ॥[3]

इसलिए नीति शास्त्र का कथन है कि विवाह का प्रथम उद्देश्य ऐसी स्त्री को जीवनसगिनी वनाना है जो धर्म कार्यों मे पुरुष का साथ दे, पुरुष के जीवन को व्यवस्थित एव प्रेरणा दे । इसी उद्देश्य को सामने रखकर विवाह परम्परा का प्रारम्भ हुआ है ।

विवाह का प्रारम्भ

जैन मान्यता के अनुसार इस युग के अन्तिम कुलकर नाभिराजा हुए । उनसे पूर्व यौगलिक परम्परा चली आ रही थी जिसमे न घर होता, न घर वाली होती, न परिवार एव समाज होता । युगल रूप मे उत्पन्न सन्तान ही क्रमश: पति-पत्नी वन जाते थे । वास्तव मे उनमे पति-पत्नी भाव कम, स्त्री-

---

१ उपासकदशा ७।२२७
२ सखाह जाया—ऐतरेय ब्राह्मण ३३।१
३ महा० आ० ७४।४०

पुरुष भाव ही अधिक रहता, वैवाहिक बन्धन या उत्तरदायित्व जैसा कुछ नही होता था। केवल एक युगल—जोडी होती थी, उनके संयोग से दो सतान (पुत्र-पुत्री) उत्पन्न होती, जो क्रमश पति-पत्नी का रूप ले लेतीं। नाभिराजा ने इस प्रथा को बन्द किया और पाणिग्रहण की वर्तमान प्रथा प्रारम्भ की। नाभिराजा स्वय कुलकर थे, और अपना विवाह उन्होंने युगलियो की नीति-रीति से ही किया। किन्तु अपने पुत्र ऋषभदेव का विवाह उन्होंने विधिपूर्वक किया। ऋषभदेव का एक विवाह तो युगलिक प्रथा से हो गया था। उन्ही दिनो एक घटना घटी कि एक परिवार मे उत्पन्न पुत्र-पुत्रियो मे से एक पुत्र की अकाल मृत्यु हो गई। सभी युगलिये थे, इसलिए समस्या आई कि अब उस कन्या का विवाह किसके साथ किया जाय। सभी के पास एक-एक स्त्री थी, और दो स्त्री करने की प्रथा नही थी। तब नाभिराजा ने उस कन्या का विवाह ऋषभदेवजी के साथ किया और इस अवसर्पिणी मे विवाह प्रथा का सूत्रपात हुआ। ऋषभदेव जी की इस द्वितीय पत्नी 'सुमगला' से बाहुबली जी का जन्म हुआ।

विवाह प्रथा का विकास

इतिहास पढने से, या ऐतिहासिक अवलोकन मे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विवाह प्रथा का प्रारम्भिक रूप आज से बहुत भिन्न था। प्रारम्भ मे विवाह प्रथा एक सामान्य और सरल प्रथा थी जिसमे जाति, कुल, गोत्र आदि के विशेष बन्धन नही थे। पुरुष किसी भी योग्य गुणवती कन्या को पसन्द कर सकता था और माता-पिता आदि की अनुमति से उसका वरण भी किया जा सकता था। आगमो मे कुछ इस प्रकार की घटनाएँ पढने मे आती हैं जिससे तद्युगीन परिस्थितियो एव परम्पराओ की एक झलक मिलती है कि उस युग मे भाई-बहन एव पिता-पुत्री आदि कुछ निकटतम सम्बन्धो के अतिरिक्त अन्य प्रकार के सम्बन्ध विवाह मे बाधक नही बनते थे। उदाहरण के लिए—

१ उग्रसेन की कन्या सत्यभामा का विवाह श्री कृष्ण के साथ सम्पन्न हुआ। उग्रसेन एव श्रीकृष्ण दोनो सगोत्री थे। यह हरिवंश पुराण से स्पष्ट हो जाता है।

२ उत्तराध्ययन सूत्र (२२) मे भगवान नेमिनाथ एव राजीमति का वर्णन आता है। राजीमति भोजराज की पौत्री थी और नेमिनाथ अन्धकवृष्णि के पौत्र। भोजराज और अन्धकवृष्णि सहोदर भाई थे जिनके पौत्र-पौत्री मे विवाह सम्बन्ध रचाया गया।

३ रुक्मी राजा ने अपनी बहन रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्नकुमार (भानजे)

के साथ अपनी पुत्री वैदर्भी का विवाह किया था—यह अतकृत्सूत्र के अनुशीलन से पता चलता है।

४ कल्पसूत्र में भगवान महावीर की पुत्री प्रियदर्शना के विवाह की चर्चा है जो भगवान के भानजे जमालि को ब्याही गई थी।[1]

इस प्रकार के सैकडो उदाहरण देखे जा सकते हैं, जिनसे आप यह बात जान सकते हैं कि प्राचीन काल में वैवाहिक बन्धन उतने कडे नहीं थे, जितने आज हैं। अधिकतर विवाहो मे वर एव कन्या के रूप-लावण्य-यौवन-कुल आदि की समानता को ही मुख्य आधार माना जाता था। पर कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनसे यह भी पता चलता है कि आज जिसे अन्तर्जातीय विवाह कहा जाता है, वह भी उस काल मे सभवत उतना निषिद्ध नही था। वासुदेव श्री कृष्ण उच्च क्षत्रिय थे। उन्होंने अपने लघुभ्राता गजसुकुमार के लिए सोमिल ब्राह्मण की रूपवती कन्या सोमा को अन्त पुर मे रखा। बाद मे गजसुकुमार ने ससार त्याग कर दीक्षा ली और पुत्री के निमित्त से सोमिल ने क्रोधान्ध होकर महामुनि गजसुकुमार के सिर पर मिट्टी की पाल बाँधी, धधकते अगारे डाले और अपने वैर का बदला लिया।[2]

तेतली प्रधान ने पोट्टिला की सुन्दरता पर मुग्ध होकर उससे पाणिग्रहण किया। वह भी एक स्वर्णकार की कन्या थी।[3] क्षत्रियो और वैश्यो मे तो इस प्रकार के अनेक सम्बन्ध होते थे। श्रेणिक राजा ने बाणिया ग्राम मे वणिक् कन्या नन्दा से विवाह किया था जिससे महान् बुद्धिमान अभयकुमार जैसे पुत्र का जन्म हुआ।[4] इन प्रकार प्राचीन इतिहास से पता चलता है कि विवाह के सम्बन्ध मे उस समय बहुत कुछ छूट थी। समाज मे पुरुषो के विद्या, बल एव वैभव को देखकर किसी भी वर्ण एव गोत्र वाला अपनी कन्या उन्हें देने को प्रस्तुत हो जाता। इस प्रथा से मानव-समाज मे अन्याय एव असमानता भी बढती थी। जिसके पास बल एव वैभव होता वह सैकडो सुन्दर कन्याओ से विवाह कर लेता, अपने प्रभाव और दबाव से दूसरो की मांग भी छीन लेता और साधारण स्थिति वाले पुरुष देखते रह जाते। 'जिसकी लाठी उसकी

१ आवश्यक चूर्णि २. पृ० ८१ से ज्ञात होता है कि इन प्रकार के विवाह लाट एव दक्षिणापथ मे मान्य थे तथा उत्तरापथ मे निषिद्ध माने जाते थे।

भैंस'—का न्याय चलता था। इस अव्यवस्था को रोकने के लिए समाजशास्त्रियो ने नियम बनाये। विवाह सस्था को नियमबद्ध किया, सवर्ण-असवर्ण, सगोत्र-पर-गोत्र आदि की व्यवस्थाएँ देकर समाज की अव्यवस्था को रोका, बढती हुई उच्छृखलता पर अकुश लगाया। मध्यकाल के बने हुए स्मृति, धर्मशास्त्र, पुराण आदि ग्रन्थो के अध्ययन से पता चलता है कि समाज के हितचिन्तक विद्वानो ने सामाजिक व्यवस्था को सुन्दर रूप से चलाने के लिए यह नियम बनाया कि विवाह अपने-अपने वर्ण मे होना चाहिए। क्षत्रिय क्षत्रियो मे करें, वैश्य वैश्यो मे तथा ब्राह्मण ब्राह्मणो मे। इस नियम के पीछे एक जनश्रुति भी प्रचलित है, और वह काफी लोक-मान्य है।

विक्रम सवत् के प्रवर्तक राजा विक्रमादित्य के समय की यह घटना है। राजा विक्रम उज्जैनी मे राज्य कर रहे थे। उज्जैनी—जिसे उज्जयिनी और उज्जैन भी कहा जाता है। कहते हैं किसी समय इस नगर मे जैनों की बहुत अधिक जनसख्या थी। उत्कृष्ट जैन जनसख्या होने से उसका नाम उत्+जैन =उज्जैन पड गया—यह भी अनुश्रुति है। उस नगर मे दो धनवान साहूकार रहते थे। दोनो पडोसी थे और पडोसी होने के नाते उनमे प्रेम भी अच्छा था। पडोसी का प्रेम जितना स्वाभाविक है, आजकल पडोसी का झगडा भी उतना ही स्वाभाविक-सा हो गया है। पडोसी-पडोसी झगड़ते भी बहुत हैं, और वह भी छोटी-छोटी नाजुक बातो को लेकर! किन्तु उन दोनो पडोसियों मे बहुत अच्छा प्रेम था। एक साहूकार के लडका था और दूसरे के लडकी। एक दिन दोनो पडोसियो ने विचार किया—हम दोनो मे प्रेम भी बहुत है, दोनो की धन व प्रतिष्ठा मे भी समानता है, अत. दोनों मे रिश्तेदारी हो जानी चाहिए, ताकि अपना प्रेम ऐसा ही बना रहे। यह सोचकर दोनो ने अपने पुत्र-पुत्री का रिश्ता तय कर लिया, अच्छा मुहूर्त्त देखकर सगाई भी करदी।

सयोग ऐसा बना कि सगाई के कुछ ही दिन बाद लडके वाले पडोसी की मृत्यु हो गई। साहूकार की मृत्यु हुई तो बस आस-पास के रिश्तेदार उसके धन पर आँखें गडा बैठे। बच्चा नादान था, सेठानी दुख मे थी, और पीछे से रिश्तेदारो और मुनीम गुमाश्तो ने मिलकर कबीरदास जी की इस कहावत को चरितार्थ कर दिया—'आप मरे पीछे डूब गई दुनिया'। वास्तव मे ही बिचारे साहूकार की दुनिया डूब गई और दूसरो ने नही, अपने ही आदमियो ने डुबो दी।

बिचारी सेठानी ने फिर भी धैर्य रखा, सोचा—"जब धन कमाने वाले ही चले गये तो धन की क्या फिकर है ? लडका बडा होगा, सम्बंध घर से (पडोसी

के) विवाह हो जायगा, समधी बहुत धनवान है, लडका उनके सहयोग मे फिर अपने पैरो पर खडा हो जायगा।" इधर लडके की माँ मनसूबे बाँध रही है, उधर लडकी का पिता और ही कुछ औघट घाट घड रहा है। उसने सोचा—"सेठ मर गया, धन चला गया, पूर्व की छाया पश्चिम मे ढल गई, अब इस घर मे लडकी देने से क्या लाभ ? सगाई हो गई तो क्या हुआ, विवाह तो नही हुआ ? अब तो कुछ और सोचना चाहिए। कन्या मेरी बहुत सुन्दर व सुशील है, लक्ष्मी की भी अपार कृपा है, किसी बड़े घर मे कन्या देनी चाहिए।" इन्ही विचारो मे खोये-खोये सेठ ने सोचा—"यदि किसी अन्य साहूकार के पुत्र के साथ कन्या का सम्बन्ध करूँ तो यह बात बिरादरी मे फैल जायगी कि 'पहले अमुक सेठ के लडके के साथ सगाई हो चुकी है अब रिश्ता छोडा है।' बिरादरी को धन से चुप भी कर सकता हूँ, पर राजा विक्रम के पास यह शिकायत पहुँच गई तो ? राजा बडा न्यायी है, उन्हे मालूम होते ही वे उसी लडके के साथ विवाह करने की आज्ञा करेंगे—चूँकि माँग उसी की है। अब कुछ ऐसा करना चाहिए कि न रहे बाँस न बजे बाँसुरी। न नौ मन तेल हो और न राधा नाचे। तो इसका उपाय यह है कि कन्या का विवाह महाराजा विक्रम के साथ ही क्यो न हो जाय ? फिर किसकी हिम्मत है जो वहाँ तक पहुँचेगा ?"

सेठ ने ऐसा सोचा और राजा विक्रम के दरबार मे जाकर प्रार्थना की। कन्या रत्न को स्वीकार करने के लिए अत्यन्त आग्रह किया। सेठ के आग्रह पर राजा ने स्वीकृति दे दी और बडी धूमधाम से विवाह की तैयारियाँ होने लगी।

इधर लडके की माँ ने यह सब कुछ देखा-सुना तो उसका कलेजा टूक-टूक हो गया। सोचा—"मैं इसी आधार पर पुत्र के भविष्य के स्वप्न देख रही थी, पर वह आधार भी टूट गया। अन्य किसी साहूकार के घर यह सम्बन्ध होता तो मैं स्वयं फरियाद लेकर महाराजा विक्रम के दरबार मे जाती और न्यायमूर्ति महाराज से न्याय माँगती। पर अब तो बाड ही ककडी को खा रही है, तो किसके पास जाकर पुकार करूँ ? मैं आज असहाय हूँ, निर्धन हूँ, पडोसी सम्पन्न है सबल है, उनका मेरा मुकाबला करूँ तो मरना है, यह दीये और तूफान का मुकाबला असम्भव है, अतः अब तो मन मार कर चुप ही रहना चाहिए—सबसे भली चुप।"

इधर महाराजा विक्रम के विवाह की तिथि आई, पूरा नगर सजाया गया, द्वार-द्वार पर बन्दनवारें टाँगी गईं, बाजार तथा राजमार्ग पर सुगन्धित

जल छिड़का गया। नगर भर मे जैसे खुशियां छा रही थी। महाराजा हाथी पर चढे, बारात मे नगर के हजारो यात्री थे। मंगल गीतो से नगर गूंज रहा था। नगर के नर-नारी अपने-अपने घरो के छज्जो पर चढ़े बारात देख रहे थे और महाराज पर पुष्प वर्षा रहे थे। राजा की सवारी चलती-चलती उसी सेठ के घर के सामने आई। सेठानी ने सवारी देखी तो अपनी फूटी तकदीर पर उसे रोना आ गया, हृदय मे दुःख का ज्वार उमड पड़ा, वह फूट-फूट कर रोने लग गई।

राजा विक्रम ने खुशियो और मगल-गीतो के बीच इस घर से रोने की आवाज सुनी। वे स्तब्ध रह गये। इस खुशी के प्रसग पर आज कोई रो रहा है, और उसके रोने मे बड़ा दर्द है, बडी छटपटाहट है। राजा ने संकेत किया, सवारी रुक गयी। राजा ने ध्यान देकर सुना तो एक नारी एव एक बच्चे के रुदन की आवाज आ रही है। राजा ने सोचा—"मैं प्रजा का पिता हूं, उसके सुख-दुःख का जिम्मेदार हूं, नीति भी कहती है 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सोइ नृप होइ नरक अधिकारी'—जिस राजा के राज्य मे प्रजा दुःखी है, वह राजेश्वरी नरकेश्वरी—नरक का अधिकारी होता है, तो मेरा कर्त्तव्य है उसके दुःख-दर्द व रोने का कारण जानूं, उसके आंसू पोछूं। और आज के दिन कोई रो रहा है तो वह अवश्य ही बहुत अधिक दुःखी होगा, मेरी खुशी तभी है जब मेरी प्रजा मे खुशी हो, यदि प्रजा के आंसुओं के बीच मे मुझ पर पुष्प बरस रहे हैं तो ये पुष्प नही, कांटे हैं।" हाथी रुका खड़ा था, राजा वर-राजा की वेशभूषा मे बैठे थे, इधर-उधर देखने पर झरोखे मे से उन्हे कोई भीतर रोता दिखाई दिया। वे हाथी के हौदे की सीध मे से सीधे ही झरोखे मे चले गये। मां रो रही है, बेटा उसके आंचल मे मुंह छिपाये सिसकियां भर रहा है। मां अपने आंसुओ से उसे नहला रही है। राजा को घर मे देखते ही दोनो चकित होकर खड़े हो गये। राजा ने कहा—"माताजी! आज खुशी के समय आप रो रही हैं? क्या बात है?" लड़के के सिर पर हाथ फिरा कर राजा ने कहा—"बेटा! देखो न! मेरी शादी हो रही है और तुम रो रहे हो?"

सेठानी ने साहस किया, महाराज को नमस्कार करके कहा—"महाराज! मेरा दुःख आप सुनने को पधारे हैं, पर आप उसे दूर नहीं कर सकते।"

राजा ने आश्वासन दिया—"माताजी! आपका जो भी दुःख है कहिए, मैं वचन देता हूं—उसे अवश्य दूर किया जायेगा।"

सेठानी ने कहा—"महाराज! आप जैसे न्यायप्रिय राजा आज जिस राजा

ा साथ विवाह करने जा रहे हैं, वह कन्या किसकी मांग है आपको मालूम है? उस कन्या की सगाई किसी के साथ हो चुकी है, उसका पिता वाग्दान कर चुका है, यह आपकी जानकारी में है?"

सेठानी की बात सुनकर राजा के कान खिंच गये। उसने कहा—"सच! मुझे कुछ मालूम नहीं है, मैंने इस विषय में पूछा भी नहीं। आप बतलाइए? वह किसकी मांग है?"

सेठानी ने कहा—"महाराज! वह इस लड़के की मांग है। इसके पिता के साथ उनका बहुत घनिष्ट सम्बन्ध था, और हम दोनों ही समान समृद्धिशाली थे। भगवान ने उन्हें उठा लिया, धन भी छाया की तरह लुप्त हो गया। हम गरीब हो गए, अनाथ हो गए। अनाथ और गरीब को कौन अपनी कन्या दे, इसलिए यह गरीब की मांग आज आपको ब्याही जा रही है। आपके लिए खुशी का दिन है, हमारे लिए रोने का।"

राजा ने सेठानी से क्षमा मांगी और कहा—"माताजी! आप निश्चित रहिए, यह मांग जिसकी है उसे ही मिलेगी। बेटा! चलो! तैयार हो जाओ।" राजा ने अपने वर-राजा के सब परिधान और गहने बालक को पहनाये, हाथी पर बैठाया, सब लोग देखते ही रह गये। राजा ने सेठ को बुलाकर पूछा—तो हकलाते हुए उसने सब बातें स्वीकार की, लोगों ने भी कहा—"हां महाराज, सगाई तो इसी के साथ हुई थी, मगर धन चले जाने से इसका रिश्ता छूट गया।" राजा ने सेठ को कड़ी डांट दी और कहा—"इसका पिता नहीं रहने से तुम इसकी मांग मुझे देने को तैयार हो गए? लो, इसका पिता मैं हूं, और इस कन्या के साथ इसी का विवाह होगा।" और खूब धूम-धाम से उस साहूकार के लड़के का विवाह हुआ। जो दहेज राजा को दिया जाने वाला था वह सब उसे मिला। लोग कहने लगे—"महाराज विक्रम ने बड़ा न्याय किया।" पर यह पहुंचा कि यह किसी ने नहीं पहले तो कोई उस न्याय की पुकार को लेकर पहुंचा। अन्याय हो रहा है? म्याऊं के मुंह कौन चढ़े?

राजा विक्रम ने सोचा—"अब लोगों में नीति और न्याय की भावना कम हो रही है, विवाह जैसे पवित्र सम्बन्ध में भी वे इस प्रकार गड़बड़ करते हैं और एक की मांग दूसरे को दे दी जाती है, इस समाज में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि प्रत्येक वर्ण अपने ही वर्ण में विवाह आदि सम्बन्ध करे, अपनी जाति के सिवाय दूसरी जाति से विवाह आदि होने से मर्यादा भंग हो जायेगी, और अनेक प्रकार के अन्याय होने लगेंगे।" तो यह अनुश्रुति है कि राजा विक्रम ने ऐसा नियम बनाया कि चारों वर्ण अपने-अपने वर्ण में ही सम्बन्ध करें,

क्षत्रिय क्षत्रिय जाति मे विवाह करें, वैश्य वैश्य मे, ब्राह्मण ब्राह्मण मे तथा शूद्र शूद्र मे।

कुल एवं शील

तो समाज मे जब इस प्रकार की घटनाएँ होने लगी तो उन्हे रोकने के लिए और सुन्दर व्यवस्था तथा प्रेम-भाव बनाए रखने के लिए आचार्यो ने यह नियम बनाया कि सद्गृहस्थ को विवाह मे सर्वप्रथम कुल की समानता देखनी चाहिए और फिर वर एव कन्या के शील और स्वभाव की समानता।

यह बात तो आज सभी मानते है कि अन्य कुल की कन्या अपने कुल मे आती है तो उसका आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान आदि सब भिन्न होते हैं। इससे कन्या के लिए भी कठिनाई होती है, उसे अपना व्यवहार व खान-पान आदि बदलने मे बड़ा दु:ख होता है और परिवार वाले भी उससे अप्रसन्न रहते है। घर मे वह 'अजनबी' सी बन जाती है। दोनो ओर अटपटापन रहता है। न बहू प्रसन्न रह सकती है, न पति, न सास-ससुर। और इस कारण घर मे जहाँ प्रसन्नता एव एकीभाव का वातावरण रहना चाहिए, वहाँ खेद, उदासी, तानाकशी का वातावरण बन जाता है, और उस स्थिति मे एक घर के दो घर हो जाते है। पिता-पुत्र मे, माता-पुत्र मे एव सास-बहू मे वैर, द्वेष, झगड़ा होता है, और स्वर्ग की होड करने वाला घर नरककुण्ड-सा बन जाता है। ऐसे सास-ससुर तथा पति-पत्नी बहुत कम मिलेंगे जिनमे इतनी समझदारी एव विवेक हो, इतनी उदारता एव सहिष्णुता हो कि वे एक-दूसरे के आचार-व्यवहार की भिन्नता को भी सहन करलें और उस द्वैध मे भी एकीभाव बनाये रख सके। जब सामान्य घर मे यह बात नही मिलती तो इसके लिए दूरदर्शी आचार्यो ने पहले ही सूचित कर दिया कि "क्यो तो आधा नूते और क्यो दो जिमाये" पहले ही अपने कुल की समानता देखनी चाहिए।

कुछ लोग दहेज के लिए, धन के लालच मे बड़े घर की लड़की देखते है, जिसके पिता के पास बहुत धन हो, जो दहेज मे खूब माल देने वाला हो, कुछ इससे भी आगे बढ़ते है, इकलौती बेटी देखते है, जिसके न कोई बहन हो और न कोई भाई। आपको आश्चर्य होगा कि प्राचीन समय मे भ्रातृहीन कन्या निकृष्ट एव विवाह के अयोग्य मानी जाती थी[1] और आज यह वरदान मानी जाती है। यहाँ तो भी यह रहा था कि सिर्फ धन के लोभ मे अपने से बड़े घर की

१ देखिए मनुस्मृति (३।११), याज्ञवल्क्यस्मृति (१।५३) एव ऋग्वेद (१।१२४।७) तथा सत्यार्थ प्रकाश पृ० (७४७)।

इकलौती दुलारी पर नजर टिकाने वाले माता-पिता क्या यह नही सोचते कि वह कन्या उनकी सेवा करेगी या करवाएगी ? उनके अनुशासन मे चलेगी या उन्हे अपने हुक्म मे चलायेगी ? आज अनेक घटनाए आप सुनते हैं कि इस प्रकार के लालच का क्या परिणाम भुगतना पडता है ? अपने से निम्न खानदान की कन्या लाने मे भी वही बात है, उसमे अपने कुल के अनुरूप शालीनता, सभ्यता आदि उच्च गुण की आकाक्षा भी कभी-कभी झूठी सिद्ध होती है। प्राचीन आचार्यों ने जो यह नियम बनाया है वह काफी अनुभव एव विवेकपूर्वक बनाया है। इसमे जातिवाद का आग्रह नही, किन्तु सामाजिक जीवन को सुखी एव सुव्यवस्थित रखने की दृष्टि है। और इसलिए—"समान कुल" के साथ उन्होंने 'समान-शील' शब्द भी जोडा है। यह नही कि समान कुल देखकर ऊट-बैल की जोडी बना दी जाय। उनका शील—अर्थात् व्यवहार, आचार, स्वभाव आदि भी सब समान होना चाहिए।

यद्यपि थोडी-बहुत असमानता तो प्रत्येक मनुष्य मे होती ही है, किन्तु ऐसी असमानता नही होनी चाहिए कि लोग कहे—"कही की ईट कही का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोडा।" जिन स्त्री-पुरुषो को जीवन-भर साथ रहना है, अर्धांग बन कर जीवन जीना है, उनमे इतनी विषमता होगी कि 'पति पूरब मे जाये तो पत्नी पश्चिम मे' तो उनका जीवन कैसे सुखमय एव आनन्दमय रह सकेगा ?

वैवाहिक समानता

प्राचीन ग्रन्थो एव आगमो मे आप सुनते है कि जब किसी का विवाह होता तो माता-पिता वर-कन्या की समानता देखते। उनके वय, शील, गुण, यौवन आदि का विचार करते और फिर सम्बन्ध तय करते। ज्ञातासूत्र मे मेघकुमार के विवाह का प्रसग आता है,[1] और भगवती[2] मे महाबल के विवाह का। ये दोनो विवाह उस युग के आदर्श एव उच्चस्तरीय विवाह माने जाते हैं। उनके लिए भगवतीसूत्र मे आया है—"सरित्तयाण सरिसव्वयाणं सरिसत्तयाणं सरिस लावण्ण-रूव-जोव्वण-गुणोववेयाणं सरिसएहिंतो"—कन्या एव वर परस्पर वय मे, रूप मे, सुन्दरता मे, यौवन आदि गुणो मे समान थे। उनकी समानता देखकर माता-पिता ने उनके विवाह का समायोजन किया। तो इसलिए मैंने कहा कि जो युगल जीवन-भर के लिए एक प्रणयसूत्र मे बंधता है, और एक दूसरे के सुख-दुःख मे सहयोगी बनने की प्रतिज्ञा करता है, उसके मूल मे यही 'समान शील' का आधार होता है।

---

१. ज्ञाता सूत्र १।१ २. भगवती ११।११

गृहस्थ के सुखी जीवन की आधारभूत दो बातें मानी गई हैं। एक परस्पर का विश्वास और दूसरी उनमे समानता की भावना। परस्पर का विश्वास भी तभी रहता है जब उनमे किसी प्रकार की समानता रहती है। कुल की, शील की, रूप की, ज्ञान की, वय की—ये समानताएँ हैं जो दो हृदयो को परस्पर मैत्री सम्बन्ध मे बाँधती हैं। मैत्री का आधार बताते हुए कहा गया है—"समान शीलव्यसनेषु सख्य"—मित्रता किन-किन मे हो सकती है ? तो कहा है जिनका स्वभाव, आदत और विचार, ज्ञान तथा रुचि आदि समान होते हैं उनमे मैत्री होती है और वह मैत्री दूध-शक्कर की मैत्री की भाँति चिरस्थाई एव गुणवर्धनी होती है।

आप जानते हैं एक कन्या, जो अपने माता-पिता के प्यार मे पली-पुसी और बडी हुई, वह वधू बनकर जब किसी अन्य परिवार मे जाती है, पराये घर जाती है, और वहाँ उसे समानता, विश्वास और प्रेम नही मिले तो वह गृहस्थ जीवन की गाड़ी को कैसे वहन कर सकेगी और कैसे उस पराये घर मे आनन्द का अनुभव कर सकेगी ? और उस पतिगृह को कैसे वह स्वर्ग का टुकडा बना सकेगी ? एक लेखक ने लिखा है, नारी के पाँच रूप हैं—प्रारम्भ में वह कन्या होती है, विवाह के पश्चात् वधू बनती है, उसके बाद भार्या फिर जननी और फिर माता का रूप प्राप्त करती है। इन पाँचो रूपो की परिपूर्णता ही नारी-जीवन की परिपूर्णता मानी गई है। तो नारी-जीवन के आखिर के चार रूप तो पतिगृह से ही सम्बन्धित हैं, और वे तभी सफल हो सकते हैं, जब उनके जीवन का आधार आचार-विचार की समानता हो।

कल्पना करिए—आप किसी ऐसी गाडी मे बैठे हैं, जिसका एक पहिया ऊँचा है, एक नीचा, एक अशक्त है, कमजोर और टूटा हुआ है, तो क्या उस गाडी मे यात्रा करने मे सुख का अनुभव हो सकता है ? आप कहेगे "वह कैसी गाडी ? जिसके दोनो पहिए समान नही ! वह रथ नही, गाडी नही, कोई खटोला होगा। बन्धुओ ! गृहस्थ-जीवन की गाडी के भी दो पहिए हैं—एक स्त्री एक पुरुष ! यदि दोनो पहिए समान हैं तब तो यात्रा सुखपूर्वक चल सकती है, यदि ये पहिए ऊँचे-नीचे होंगे तो गाडी कैसे सुखपूर्वक चल सकेगी ? और यात्रा का कैसा आनन्द आयेगा ?

पारिवारिक जीवन मे ऐसे अनेक किस्से होते हैं और आये दिन आप लोग देखते हैं कि वहाँ अशांति, झगडे और कलह की आग सुलगती रहती है। बहुत ऊँचे धनाढ्य घर की कन्या घर मे आ गई, ज्यादा पढी-लिखी या अधिक सी सुन्दर कन्या आ गई तो वह रात-दिन पति एव सास-ससुर पर हुकम चलाती

है । पति यदि पढाई-लिखाई तथा रूप आदि मे उससे कम है, तो उस विचारे को नौकर की तरह समझती हैं श्रीमती जी ! और कन्या किसी बहुत गरीब घर की, अनपढ तथा कम सुन्दर आ जाती है तो घर मे ननदो की, सास की, पति की रोज की तकरारें चलती हैं, उस पर ताने कसे जाते है और नौबत यहाँ तक आ जाती है कि विचारी तेल छिडककर जल जाती है, आत्महत्या करके पिंड छुडाना चाहती है ।

धार्मिक समानता

आज के युग मे अन्य समानताओ के साथ धर्म की समानता भी बहुत जरूरी है । परिवारो मे ऐसे अनेक किस्से देखे जाते हैं जिनमे धर्म के कारण पति-पत्नी का जीवन चौपट हो जाता है । पति स्थानकवासी है और पत्नी तेरा-पंथी या मन्दिरमार्गी है, अर्थात् एक भिन्न सम्प्रदाय की कन्या भिन्न सम्प्रदाय वाले पति के घर मे जाती है तो वह एक सरदर्द बन जाती है । पति तथा सास ससुर पत्नी को अपने सम्प्रदाय मे लेने की कोशिश करते हैं, और पत्नी अपने सम्प्रदाय मे पक्की रहने की कोशिश करती है, तो उस स्थिति मे धर्म और सम्प्रदाय को लेकर घरो मे महाभारत बन जाता है, पत्नी पति से बिछुड जाती है, बेटे माँ से अलग हो जाते हैं । यहाँ तक किस्से सुने हैं कि सम्प्रदाय को लेकर जीवन-मरण के सवाल खडे हो जाते हैं ।

सम्प्रदाय को लेकर एक किस्सा सुना कि एक घर मे पति ने रात्रि मे पत्नी की छाती पर खाट का पाया रख दिया और कहा—"बोल ! सम्प्रदाय बदलेगी या नही ? यदि मेरी गुरु आम्ना लेगी तो पाया उठाऊँगा, वर्ना नही !" कहते हैं पति-पत्नी की इस रस्साकशी मे ही विचारी पत्नी के प्राण निकल गये ।

ये इस प्रकार के दर्दनाक एव जघन्य किस्से होते हैं धार्मिक असमानता को लेकर । प्राचीन समय मे भी धर्म एव सम्प्रदाय को लेकर गृहस्थ-जीवन मे अनेक सघर्ष उत्पन्न होने के उदाहरण मिलते हैं । राजा श्रेणिक प्रारम्भ मे बौद्ध धर्मानुयायी था और उसने गणराजा चेटक की पुत्री चेलणा का अपहरण करके उसे अपनी पत्नी बनाया । चूंकि राजा चेटक किसी जैन राजा को ही अपनी कन्या देना चाहता था, श्रेणिक जैनधर्म का द्वेषी था । वह चेलणा पर मुग्ध हो गया था । राजा की इच्छा पूरी करने के लिए महामन्त्री अभयकुमार वैशाली गया, चेटक के कन्याअन्त पुर के पास एक दुकान लेकर रहने लगा । उसने मौका देखकर सामान के साथ श्रेणिक का चित्र भी दासियो के द्वारा अन्त पुर मे भेज दिया । सुज्येष्ठा और चेलणा दोनो ही श्रेणिक का चित्र देखकर मुग्ध हो गई । अभयकुमार ने अन्त पुर मे लेकर अपनी दुकान तक गुप्त सुरग

खुदवाई और श्रेणिक को बुलाकर चेलणा का अपहरण करवाया। राजमहल मे आने के बाद जब चेलणा को ज्ञात हुआ कि राजा श्रेणिक बौद्ध धर्मानुयायी है तो उसे बहुत दुःख और पश्चात्ताप हुआ। उनके जीवन मे धर्म को लेकर अनेक सघर्ष हुए।[1]

एक बार रानी चेलना ने किसी तपस्वी मुनि को राजमहलो मे आने पर भिक्षा दी, उनकी तपस्या की प्रशंसा की तो राजा ने कहा—"ये तुम्हारे गुरु तो कितने मैले-कुचेले और दुर्बल से है, हमारे गुरु बड़े ज्ञानी है, बड़े सुन्दर है।" राजा ने अपने गुरुजी को भोजन के लिए राजमहल मे निमन्त्रण दिया और रानी चेलना ने उनके ज्ञान का मजाक करने के लिए गुरुजी की पगरखी की सागरियाँ बनाई और उनका जायकेदार रायता बनाकर गुरुजी को खिलाया। मालूम होने पर गुरुजी और राजा बड़े शरमिन्दा हुए। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ व सघर्ष उनके जीवन मे हुए—यह श्रेणिक चरित्र सुनने वालो से छिपा नहीं है।[2]

उसी प्रकार के सघर्ष सती सुभद्रा के जीवन मे हुए, जिसे धोखा देकर बुद्धदास ने अपने चगुल में फँसा लिया था।[3] और फिर अभिग्रहधारी मुनि के आँख का तिनका निकालने पर उसके सिर कलक लगा दिया गया। वह तो महासती सुभद्रा ही थी जो उस भयकर विपत्ति एव जहरीले वातावरण मे भी अपने धर्म के तेज को दिखा सकी और जिनशासन की महिमा मे चार चाँद लगा दिये। अन्यथा उसके जीवन मे भी कितनी यन्त्रणा एव कष्ट आ पड़ा था। तो इस प्रकार की दुखद घटनाएँ सैकडो-हजारो वर्षो से हमारे समक्ष घटती रही है जिनके मूल मे धार्मिक असमानता का विष बीज रहा है। इस धार्मिक असमानता के कारण परिवारो मे कलह होता है, अनेक परिवार खंडित हो जाते हैं, टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं—यह हम आज भी आँखो से देख रहे हैं। इसीलिए आचार्यो ने कहा है, विवाह के सम्बन्ध मे जिस प्रकार कुल की समानता देखी जाती है, उसी प्रकार शील की समानता भी देखनी चाहिए और यह समानता कुल की समानता से भी अधिक महत्त्व की है।

सुख का आधार

शील की अर्थात् स्वभाव एव धर्म की समानता गृहस्थ-जीवन के सुख का

---

१ आवश्यकचूर्णि २, पृ० १६५-६६

२ श्रेणिक चरित्र (श्रीतिलोकऋषि जी महाराज)

३ दशवैकालिक चूर्णि, पृ० ४८-४९

आधार है, यह बात अनेक उदाहरणों से स्पष्ट की जा सकती है। उपासकदशा सूत्र में वर्णन आता है, जब आनन्द श्रावक भगवान महावीर के पास बारह व्रत स्वीकार करके अपने घर आता है और अपनी धर्मपत्नी देवी शिवानन्दा से कहता है—"देवी! मैंने भगवान महावीर से जीवन को उन्नत एवं मोक्षाभिमुख बनाने वाले बारह व्रत स्वीकार किये हैं, मैं चाहता हूँ तुम भी उन व्रतों को स्वीकार करो, इससे हमारी जीवनचर्या एक समान रहेगी, हम दोनों एक मार्ग के यात्री की भांति सुखपूर्वक सहयात्रा में आगे बढ़ते रहेंगे।" आनन्द जी की बात सुनकर शिवानन्दा भी भगवान महावीर के समीप पहुँचती है और बारह व्रत स्वीकार करती है। इससे दोनों की जीवनचर्या एक समान, और सुखमय रहती है। इस प्रकार आचार्यों ने बताया है कि गृहस्थ-जीवन के सुख का आधार है—'समशील' अर्थात् आचार-विचार की समानता।

गृहव्यवस्था का मूल

जिस गृहस्थ-जीवन में आचार-विचार की समानता रहती है उस गृहस्थ-जीवन को सांसारिक दृष्टि से श्रेष्ठ और महान जीवन माना गया है, और उसी जीवन के लिए—"धन्यो गृहस्थाश्रम" कहा है। और उसे ही चारों आश्रमों का आधार माना है।

एक प्रवचन में मैंने बताया था कि श्रेष्ठी पुत्र शृगाल को तथागत बुद्ध ने छः दिशाओं की पूजा का रहस्य बताया था। वहाँ पत्नी को पश्चिम दिशा बताया गया है और कहा गया है कि पत्नी रूपी पश्चिम दिशा की पांच प्रकार से पूजा करनी चाहिए—

१ पत्नी को सम्मान देना चाहिए।

२ घर में पत्नी का अपमान नहीं होना चाहिए।

३ एक पत्नीव्रत का पालन करना चाहिए।

४ गृह की सब व्यवस्था पत्नी को सौंप देनी चाहिए।

५ पत्नी के लिए वस्त्र आभूषण की कमी नहीं होनी चाहिए।

और बताया है कि पुरुष जब इन पांच प्रकारों से पत्नी की पूजा कर[illegible] है तो पत्नी उस पर पांच प्रकार का अनुग्रह करती है—

१ (पत्नी) घर की सुव्यवस्था बनाये रखती है।

२ नौकर-चाकरों को स्नेहपूर्वक रखती है।

३ पतिव्रत धर्म का पालन करती है।

खुदवाई और श्रेणिक को बुलाकर चेलणा का अपहरण करवाया। राजमहल मे आने के बाद जब चेलणा को ज्ञात हुआ कि राजा श्रेणिक बौद्ध धर्मानुयायी है तो उसे बहुत दुःख और पश्चात्ताप हुआ। उनके जीवन मे धर्म को लेकर अनेक सघर्ष हुए।[1]

एक बार रानी चेलना ने किसी तपस्वी मुनि को राजमहलो मे आने पर भिक्षा दी, उनकी तपस्या की प्रशसा की तो राजा ने कहा—"ये तुम्हारे गुरु तो कितने मैले-कुचेले और दुर्बल से हैं, हमारे गुरु बडे ज्ञानी है, बड़े सुन्दर है।" राजा ने अपने गुरुजी को भोजन के लिए राजमहल मे निमन्त्रण दिया और रानी चेलना ने उनके ज्ञान का मजाक करने के लिए गुरुजी की पगरखी की सागरियाँ बनाई और उनका जायकेदार रायता बनाकर गुरुजी को खिलाया। मालूम होने पर गुरुजी और राजा बड़े शरमिन्दा हुए। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ व सघर्ष उनके जीवन मे हुए—यह श्रेणिक चरित्र सुनने वालो से छिपा नही है।[2]

इसी प्रकार के सघर्ष सती सुभद्रा के जीवन मे हुए, जिसे धोखा देकर बुद्धदास ने अपने चगुल मे फँसा लिया था।[3] और फिर अभिग्रहधारी मुनि के आँख का तिनका निकालने पर उसके सिर कलक लगा दिया गया। वह तो महासती सुभद्रा ही थी जो उस भयकर विपत्ति एव जहरीले वातावरण मे भी अपने धर्म के तेज को दिखा सकी और जिनशासन की महिमा मे चार चाँद लगा दिये। अन्यथा उसके जीवन मे भी कितनी यन्त्रणा एव कष्ट आ पडा था। तो इस प्रकार की दुःखद घटनाएँ सैकडो-हजारो वर्षो से हमारे समक्ष घटती रही है जिनके मूल मे धार्मिक असमानता का विष बीज रहा है। इस धार्मिक असमानता के कारण परिवारो मे कलह होता है, अनेक परिवार खडित हो जाते हैं, टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं—यह हम आज भी आँखो से देख रहे हैं। इसीलिए आचार्यो ने कहा है, विवाह के सम्बन्ध मे जिस प्रकार कुल की समानता देखी जाती है, उसी प्रकार शील की समानता भी देखनी चाहिए और यह समानता कुल की समानता से भी अधिक महत्त्व की है।

सुख का आधार

शील की अर्थात् स्वभाव एव धर्म की समानता गृहस्थ-जीवन के सुख का

१　आवश्यकचूर्णि २, पृ० १६५-६६
२　श्रेणिक चरित्र (श्री तिलोकऋषि जी महाराज)
३　दशवैकालिक चूर्णि, पृ० ४८-४९

आधार है, यह बात अनेक उदाहरणो से स्पष्ट की जा सकती है। उपासकदशा सूत्र मे वर्णन आता है, जब आनन्द श्रावक भगवान महावीर के पास बारह व्रत स्वीकार करके अपने घर आता है और अपनी धर्मपत्नी देवी शिवानन्दा से कहता है—"देवी ! मैंने भगवान महावीर से जीवन को उन्नत एव मोक्षाभिमुख बनाने वाले बारह व्रत स्वीकार किये है, मैं चाहता हूँ तुम भी उन व्रतो को स्वीकार करो, इससे हमारी जीवनचर्या एक समान रहेगी, हम दोनो एक मार्ग के यात्री की भाँति सुखपूर्वक सहयात्रा मे आगे बढते रहेगे।" आनन्द जी की बात सुनकर शिवानन्दा भी भगवान महावीर के समीप पहुंचती है और बारह व्रत स्वीकार करती है। इससे दोनो की जीवनचर्या एक समान, और सुखमय रहती है। इस प्रकार आचार्यों ने बताया है कि गृहस्थ-जीवन के सुख का आधार है—'समशील' अर्थात् आचार-विचार की समानता।

गृहव्यवस्था का मूल

जिस गृहस्थ-जीवन मे आचार-विचार की समानता रहती है उस गृहस्थ-जीवन को सासारिक दृष्टि से श्रेष्ठ और महान जीवन माना गया है, और उसी जीवन के लिए—"धन्यो गृहस्थाश्रम" कहा है। और उसे ही चारो आश्रमो का आधार माना है।

एक प्रवचन मे मैंने बताया था कि श्रेष्ठी पुत्र शृगाल को तथागत बुद्ध ने छ दिशाओ की पूजा का रहस्य बताया था। वहाँ पत्नी को पश्चिम दिशा बताया गया है और कहा गया है कि पत्नी रूपी पश्चिम दिशा की पांच प्रकार से पूजा करनी चाहिए—

१ पत्नी को सम्मान देना चाहिए।

२ घर मे पत्नी का अपमान नही होना चाहिए।

३ एक पत्नीव्रत का पालन करना चाहिए।

४ गृह की सब व्यवस्था पत्नी को सौप देनी चाहिए।

५ पत्नी के लिए वस्त्र आभूषण की कमी नही होनी चाहिए।

और बताया है कि पुरुष जब इन पांच प्रकारो से पत्नी की पूजा करता है तो पत्नी उस पर पाच प्रकार का अनुग्रह करती है—

१ (पत्नी) घर की सुव्यवस्था बनाये रखती है।

२ नौकर-चाकरो को स्नेहपूर्वक रखती है।

३ पतिव्रत धर्म का पालन करती है।

४ गृह-सम्पत्ति की अच्छी प्रकार सभाल करती है।

५ गृह-कार्यो का अच्छी तरह सचालन करती है।[1]

पति-पत्नी के जीवन मे यह सुन्दर समन्वय, आदान-प्रदान का यह रूप कब रह सकता है, जबकि जीवन मे कुल, शील, गुण आदि की समानता हो ? और तभी पुरुष उसे धर्म सहायिका के रूप मे प्राप्त कर सकता है।

अन्य गोत्रजा

आचार्यो ने बताया है—विवाह के लिए कन्या एव वर मे कुल एव शील की समानता का निरीक्षण-परीक्षण करने के पश्चात् गोत्र का विचार करना चाहिए और अन्य गोत्र मे जन्मी हुई कन्या के साथ सम्बन्ध करना चाहिए। मैने आपको बताया कि प्राचीन समय मे जबकि वर्ण-व्यवस्था अधिक कड़ी नही थी, तब वर्ण एव गोत्र के नियम भी अधिक विस्तृत नही थे। गोत्र का गोत्र मे, और एक वर्ण का दूसरे वर्ण मे विवाह सम्बन्ध होता था और इसे अनुचित नही माना जाता था। किन्तु ज्यो-ज्यो वर्णव्यवस्था बनी, सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्धो का विस्तार हुआ, जाति एव कुल की सीमाएँ सकुचित हुई, तब इस प्रकार के विधान बनाये गये कि सवर्ण सम्बन्ध होना चाहिए क्षत्रिय क्षत्रिय वर्ण मे, वैश्य वैश्य वर्ण मे विवाह करें। विक्रम के समय मे इस प्रकार की व्यवस्था सुदृढ हुई जिसकी घटना का जिक्र भी हम कर चुके हैं। प्रारम्भ मे वर्ण की सीमा काफी विस्तृत थी। जाति और गोत्र की सीमा क्रमश सकुचित होती गई। जैसे—'वैश्य'—यह एक वर्ण है, उसमे ओसवाल, अग्रवाल, पोरवाल आदि जातियाँ है, तथा उसमे अलग-अलग गोत्र है—जैसे कोठारी, चोरडिया, चोपडा, सुराना आदि। गोत्र शब्द बहुत प्राचीन नही है। कहा जाता है ऋग्वेद मे 'गोत्र' का अर्थ गायो का झुण्ड किया गया है, किन्तु अथर्ववेद तक आते-आते उससे 'मनुष्यो का समूह' यह अर्थ ग्रहण किया जाने लगा।[2] स्मृतिकाल (भगवान महावीर के १ हजार वर्ष पश्चात्) मे गोत्र का अर्थ किया गया—'एक पूर्वज की वश परम्परा'। आज लगभग इसी अर्थ मे गोत्र शब्द का प्रयोग होता है। कुछ ग्रन्थो मे इसके समानार्थक शब्द पिण्ड एव प्रवर का भी प्रयोग होता है।

स्थानाग[3] सूत्र मे सात प्रकार के गोत्र बताये गये है। महाभारत[4] म

---

१ दीघनिकाय ३।८।५

२ देखिए, धर्मशास्त्र का इतिहास (पी० वा० काणे) भा० १, पृ० २८८

३ स्थानाग ७ ४ महाभारत (शातिपर्व २९७।१७-१८)

मूल गोत्र चार माने हैं, किन्तु बाद मे किसी ने मूल गोत्र आठ बताये हैं, और गोत्रो के भेद उपभेद करके प्रवरमजरी नामक ग्रन्थ मे ३ करोड गोत्र बताये गये है।[1] ओसवाल जाति मे भी अगणित गोत्र हैं। कहते हैं १४४४ गोत्रो की गणना जब हो चुकी थी तो कहा गया—"बस, ये सब गोत्र लिख लिये गये।" तभी कोई गृहस्थ आया, उसका गोत्र नही लिखा गया, गोत्र पूछा तो कहा—'डोसी'। बोले—और भी मोकला होसी।" तो इस प्रकार गोत्रो की कोई गणना नही है।

विवाह के लिए सगोत्र कन्या का निषेध किया गया है, उसके पीछे अनेक कारण और घटनाएँ रही होगी। आज भी शारीरिक सिद्धान्त एव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी लोग अन्य गोत्रज कन्या का ही समर्थन करते हैं। कहते है सगोत्रज कन्या की अपेक्षा अन्य गोत्रज कन्या की सतान अधिक प्रतिभाशाली होती है, उसका शारीरिक एव मानसिक विकास भी कुछ विशिष्ट होता है। अनुभवी लोगो का यह भी कथन है कि अधिक निकटतम के सम्बन्धो मे पारस्परिक आकर्षण एव स्नेह भी कम हो जाता है। अति परिचयादवज्ञा—अति परिचय से कुल मे सम्मान एव आदर भाव की भी कमी हो जाती है, इन्ही सब कारणो पर विचार करके आचार्यों ने कहा—"सगोत्रज कन्या के साथ विवाह सम्बन्ध नही होना चाहिए। इसी कारण से आज भी चार शाखें—माता का नानेरा, पिता का नानेरा, स्वय का नानेरा, और स्वय की गोत—ये टाली जाती है।"

विवाह कब ?

इस प्रकार विवाह सम्बन्ध का निश्चय करने से पूर्व कुल एव शील की समानता तथा गोत्र की असमानता का विचार करना सद्गृहस्थ के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त विवाह सम्बन्ध मे वय, आदि का भी विचार करना होता है। विवाह कब और कैसे करना इस सम्बन्ध मे भी प्राचीन आचार्यों ने विचार किया है और बताया कि कच्ची उम्र मे विवाह नही होना चाहिए। कुछ समय पूर्व बाल-विवाह की प्रथा बहुत प्रचलित थी। अबोध बच्चे-बच्चियो को—गुड्डा-गुड्डी की भाँति विवाह मडप मे बिठा दिया जाता था और उन्हे पति-पत्नी का रूप दे दिया जाता था। उन्हे कपडे पहनने का बोध नही, विवाह क्या होता है इसका पता नही, पति-पत्नी क्या होते है और इनका क्या सम्बन्ध है इसका ज्ञान नही, उन अबोध बालको के कन्धो पर जीवन का इतना बडा

---

१ धर्म० इति० भाग १, पृ० २८८

उत्तरदायित्व डाल देना कितना बड़ा अन्याय है। आज जैसे-जैसे शिक्षा आदि का प्रचार हुआ है, यह कुप्रथा स्वयं ही बन्द हो रही है, और होनी भी चाहिए।

जैनसूत्रों में विवाह आदि का जो वर्णन आता है उसका अवलोकन करने पर तीन बातें हमारे सामने आती हैं—

(१) उम्मुक्क बालभावे[1]
(२) णवंग सुत्त पडिबोहिए[2]
(३) अलं भोग समत्थे[3]

बाल भाव—अर्थात् बचपन से मुक्त हो जाने पर (यौवन में प्रवेश करने पर) नौ अंग प्रतिबुद्ध होने पर तथा गृहस्थ सम्बन्धी भोग भोगने के लिए समर्थ हो जाने पर—ये तीन विशेषण प्राय: वर-वधू के लिए आते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि विवाह तब किया जाता जब यौवन की भावना, यौवन का उत्साह एवं विचार उनमें जग जाता, बालक युवा बन जाता और कन्या युवति! ये दोनों मिलकर गृहस्थ-जीवन की गाड़ी को वहन करने में समर्थ हो जाते तब उनके कन्धों पर विवाह का दायित्व डाला जाता। वेदों में भी इसी प्रकार का विधान मिलता है कि कन्या जब अपना हिताहित समझने लग जाय, अपने योग्य जीवनसाथी की पहचान कर सके तभी उसका विवाह करना चाहिए। ऋग्वेद में कहा है—

"भद्रा वधूर्भवति यत् सुपेशाः
स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्।"

जो स्त्री स्वयं सुशील, सुन्दर एवं समझदार है वह जनसमूह में से अपनी इच्छा के अनुकूल पुरुष का मित्र (पति) रूप में वरण कर लेती है। इन उल्लेखों से इस बात का पता चलता है कि 'बाल विवाह' की प्रथा हमारी भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं है।

विवाह के प्रकार

आजकल यह भी एक विवादास्पद विषय बना हुआ है कि विवाह किस पद्धति से होने चाहिए? कुछ लोग माता-पिता की इच्छा या अनुमति से वर-वधू का चुनाव हो इस बात का समर्थन करते हैं, तो कुछ लोग 'प्रेम विवाह'

---

१ भगवती ११।११ २ ज्ञाता १।१ ३ भगवती ११।११

(लव मेरिज) की जोरदार वकालत कर रहे हैं। लडके-लडकी की इच्छा हुई, उनमे प्रेम हुआ, और बस किसी स्थान विशेष पर या आजकल के आधुनिक मन्दिर—कोर्ट मे जाकर रजिस्ट्री करा ली। वस्तुतः प्राचीन समय मे और आज भी दोनो प्रकार के विवाह प्रचलित रहे है। जैनसस्कृति का इतिहास पढने पर यह बात हमारे समक्ष आती है कि प्राचीनकाल मे विवाह की तीन पद्धतियाँ प्रचलित थी :—

१. कुछ विवाह वर-कन्या के माता-पिता द्वारा आयोजित होते थे।

२ कुछ विवाह कन्या की इच्छा से होते थे—स्वयवर विवाह।

३. कुछ विवाह कन्या व पुरुष के प्रेम सम्बन्ध से होते थे—गधर्व विवाह।

प्रथम कोटि का विवाह प्रथम श्रेणी का और श्रेष्ठ माना जाता था। उच्चकुलो मे प्राय माता-पिता की इच्छा व रुचि से कन्या का चुनाव किया जाता और उसे सभ्य पुत्र प्रसन्नतापूर्वक जीवनसगिनी के रूप मे स्वीकार करता। मेघकुमार, महाबल आदि के सैकडो ऐसे उदाहरण मिलते है। माता-पिता भी अपने विवेक से कन्या का चुनाव करते थे। वे किसी प्रकार के धन-दहेज साम्राज्य आदि के लालचवश कन्या एव पुत्र के जीवन के साथ खिलवाड नहीं करते थे। किन्तु कुल, शील एव वय, शिक्षा आदि गुणो की समानता देखकर ही सम्बन्ध निश्चित करते थे। उन विवाहो मे करोडो रुपयो का प्रीति-दान भी दिया जाता था। प्रीतिदान को कुछ लोग 'दहेज' के रूप मे मानते है, पर दहेज का आज जो घृणित एव भयकर रूप समाज मे रोग की भाँति फैल रहा है उसे देखते हुए लगता है प्रीतिदान शब्द बहुत ऊँचा है, दहेज निम्न-स्तर का शब्द है। दहेज आज लिया जाता है—लडके की पढाई के लिए, विला-यत भेजने के लिए, उसके कारोबार के लिए, पता नही कितने बहाने बनाकर रेडियो, कार, बगला और नकदी के बदले मे कुँवरसाहब का सौदा होता है। जबकि प्राचीन समय मे प्रीतिदान दिया जाता था। माता-पिता अपनी इच्छा से अपनी कन्या को प्रीति (स्नेह) पूर्वक जो दान देते थे—अम्मा पियरो पीति दाण दलयति[१]—वह प्रीतिदान होता था। आज दहेज यदि प्रीतिदान के रूप मे रहता तो शायद यह समाज का कोढ नही कहलाता, किन्तु लोभी माता-पिताओ (और कुँवरसाहब भी) ने विवाह और दहेज को एक लेन-देन का सौदा बना दिया है। जिसके पास देने को है, वह समझता है पार विवाहो का

१. भगवती ११।११

दहेज लेकर लखपति बन जाऊँगा, और चार बेटी वाला समझता है ये पच्चीस-पच्चीस हजार की हुन्डियाँ आ गई हैं। तो, जब तक विवाह के सम्बन्ध मे यह दृष्टिकोण रहेगा तब तक वह विवाह आदर्श विवाह कैसे हो सकेगा ? और कैसे वह दहेज 'प्रीतिदान' की सज्ञा पा सकेगा ?

'स्वयवर विवाह' दूसरी कोटि के विवाह माने जाते थे। जब कन्या पूर्ण यौवन को प्राप्त हो जाती और सद्विवेक बुद्धि प्राप्त कर लेती तब कन्या के पिता आदि के द्वारा इस प्रकार के आयोजन किये जाते थे। जिसमे जो अधिक बलिष्ठ, योद्धा एव विद्याओ मे प्रवीण होता उसे कन्या पति रूप मे चुन लेती। द्रौपदी एव सीता का स्वयवर प्रसिद्ध है।[1]

'गधर्वविवाह' तीसरी कोटि के विवाह कहलाते थे। इसमे वर कन्या माता-पिता की अनुमति के बिना, बिना किसी प्रकार के विधि विधान के एक-दूसरे को पसन्द करके पति-पत्नी रूप मे स्वीकार कर लेते। अर्जुन तथा सुभद्रा का विवाह भी गन्धर्व विवाह कहलाता है। सुभद्रा विवाह से पूर्व अर्जुन से स्नेह करती थी इसीलिए ग्रन्थो मे उसे 'रक्त सुभद्रा' कहा है। एक दिन सुभद्रा अर्जुन के समीप चली गई थी। वासुदेव श्रीकृष्ण उसके भाई थे, उन्होने उसे बुलाने का प्रयत्न भी किया, पर वह नही आई, दोनो ने 'गन्धर्व विवाह' कर लिया।[2] गन्धर्व विवाह एक प्रकार का प्रेम विवाह ही कहा जा सकता है।

विवाह के आठ प्रकार

वैदिक ग्रन्थो मे विवाह के आठ प्रकार बताये गये है—

(१) ब्राह्म, (२) प्राजापत्य, (३) आर्ष, (४) दैव, (५) गान्धर्व, (६) असुर, (७) राक्षस, (८) पैशाच।[3]

इनमे ब्राह्म विवाह श्रेष्ठ माना जाता है। इस विवाह मे पिता अपनी कन्या को वस्त्रालकारो से सुसज्जित करके किसी सुचरित्र व्यक्ति को अर्पित करता है, उसके हाथ मे कन्या को सौंप देता है।

जिस विवाह मे वर की ओर से कन्या के लिए तथा उसके माता-पिता के लिए धन दिया जाता है वह 'असुर विवाह' कहलाता है।

---

१ (क) ज्ञाताधर्म, १६, (ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

२ प्रश्नव्याकरण टीका ८, पृ० ८५

३. देखें मनुस्मृति (३।२१), महाभारत आदिपर्व ७३।८-९ विष्णुस्मृति २४।१८

प्रेम एव विषय-भावना से प्रेरित होकर जो विवाह किया जाता है उसे 'गाधर्व विवाह' कहा गया है। जिस विवाह मे लेन-देन के लिए झगडे होते हो, कलह, मार-पीट एव छीना-झपटी होती हो तथा कन्या का बलात् अपहरण किया जाता हो वह 'राक्षस विवाह' कहलाता है।

विवाह के अन्य भेदो मे थोडा-थोडा अन्तर है। आपको देखना है कि आपके पारिवारिक जीवन की शान्ति एव धर्ममय जीवन की साधना के लिए कौन-सा विवाह उपयुक्त होता है, और आज आप किस विवाह के पथ पर बढ रहे है।

प्राचीन आचार्यों ने सद्गृहस्थ के लिए 'ब्राह्म विवाह' उत्तम बताया है। इसमे दोनो पक्षो को सन्तोष एव समाधान रहता है तथा जीवन मे नीति एव मर्यादा का उचित रूप मे पालन हो सकता है। इसलिए इसे ब्राह्म अर्थात् पवित्र विवाह कहा है। धर्म एव त्याग की दृष्टि से विवाह विधेय नहीं बताया गया है, पर गृहस्थ-जीवन मे एकान्त त्याग नही हो सकता। गृह तभी गृह कहलाता है जब उसमे गृहिणी—लक्ष्मी के रूप मे विराजमान हो—"नगृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।" और वह गृहिणी तभी सद्गृहिणी रह सकती है और तभी भोग मे भी त्याग का आदर्श रख सकती है जब वह नीति, मर्यादा एव धार्मिक आदर्शों के अनुसार परिगृहीत की गई हो। यह विवेचन लम्बा जरूर हो गया है, पर आपके जीवन के एक आवश्यक एव महत्त्वपूर्ण विषय पर जैनाचार्यों का जो चिन्तन चला है उससे आपको यह रुचिकर एव लाभदायी प्रतीत होगा—ऐसी आशा है।

८

पाप का भय

पाप का भय

मानव-जीवन की समस्त क्रियाओ के मूल मे दो तत्त्वो की प्रधानता है—एक पुण्य और दूसरा पाप । पुण्य—यह शुभ कर्म है, जीवन के सब प्रकार के सुख, यश-प्रतिष्ठा, रूप-यौवन, वैभव, परिवार आदि पुण्य कर्म के फल हैं । पाप—यह अशुभ कर्म है, समस्त दुःखों का कारण है, रोग, दरिद्रता, बदनामी और अंगोपांग आदि की हीनता इत्यादि पाप कर्म के फल है । ससार मे सभी मनुष्य पुण्य चाहते हैं, पुण्य के फल की आकांक्षा रखते हैं, पाप का फल कोई नही चाहते, पाप-फल से सभी घबराते हैं । किन्तु मानव-जीवन की विडम्बना यह है कि पुण्य का फल चाहने वाले, पुण्य नहीं करते हैं, और पाप के फल को नही चाहते हुए भी पाप करते जा रहे हैं ।[1] लोग पाप के फल से डरते हैं, पर पाप से कहाँ डरते हैं ? यदि पाप से डरें तो फिर पाप करें भी नही और पाप न करें तो पाप का फल भी क्यो भुगतना पडे ? लोगो की वृत्ति दुर्योधनी-वृत्ति बन रही है, जो कहता है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः

मैं धर्म को जानता हूँ, पर उसमे प्रवृत्ति नहीं कर पा रहा हूँ, अधर्म को भी जानता हूँ, पर उससे दूर नही हट पा रहा हूँ । इसलिए आचार्यों ने सद्-

---

१ पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्य कुर्वन्ति नो जनाः ।
फलं पापस्य नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति ते जनाः ॥

गृहस्थ के लिए कहा—यदि तू दुःख से डरता है, गरीबी, बीमारी और बदनामी से डरता है तो इनसे बचने के लिए पाप से डर ! इन सब दुःखों का मूल पाप है, अशुभ कर्म है, इसलिए श्रावक को 'पापभीरु' होना चाहिए।

पाप की परिभाषा

पाप से डरने की बात कहने पर आप पूछेंगे कि पाप क्या है ? उसकी परिभाषा क्या है ? सामान्यतः पाप शब्द इतना प्रचलित और साधारण बन गया है कि अन्न और वस्त्र की भाँति उसकी परिभाषा करने की आवश्यकता नहीं रहती। 'पाप' कहते ही यह भावना व्यक्त हो जाती है कि—यह बुराई है, अशुभ कर्म है, नीचता है। फिर भी शब्दशास्त्र की दृष्टि से एक-दो परिभाषाएँ आपके सामने रख देता हूँ जिससे उसकी समस्त भावना का परिचय हो सके।

'पाप' की एक परिभाषा है—"पातयति आत्मानं इति पापम्"—जो आत्मा को पतन की ओर ले जावे, उसे पाप कहते हैं।

दूसरी परिभाषा में बताया है—"पापति-शोषयति पुण्यं इति पापम्" जो पुण्य का, भलाई का, शोषण करे, शुभ कर्म रूपी बगीचे को सुखा दे, वह पाप है।

तीसरी परिभाषा में कहा है—"पातयति-गुंडयति जीववस्त्रमिति पापम्" जीव रूपी वस्त्र को जो मलिन कर देता है, वह पाप है।

और भी अनेक परिभाषाएं मिलती हैं जिनसे 'पाप' के परिणामों का भी ज्ञान होता है। कुल मिलाकर भाव यह है कि जिससे आत्मा का बंधन एवं पतन होता है,[1] पुण्य का नाश होता है, जीवन की उजली चादर मलिन होती है, वह पाप है। जिसे करने से मन शंकित, भयग्रस्त एवं कलुषित होता है समझना चाहिए वह पाप है। पाप चाहे छोटा हो या बड़ा, वह मन को अशांत किये रखता है, जीवन में सुख एवं निर्भयता पर आवरण की तरह छाया रहता है। पापी इस लोक एवं परलोक दोनों में ही दुःखी एवं चिन्ताग्रस्त रहता है। बुद्ध ने एक जगह कहा है—

> इध सोचति पेच्च सोचति
> पापकारी उभयत्थ सोचति[2]

---

1. पातयति पात्यते वा पातकं—उत्त० चूर्णि २
2. धम्मपद १।१५

पापी मनुष्य यहाँ भी शोक करता है, और वहाँ (परलोक मे) भी—उसके दोनो लोक शोक मे गुजरते है।

वृत्ति के तीन स्तर

गृहस्थ-जीवन मे पाप का सर्वथा वर्जन होना असभव है। उसका जीवन कर्ममय है, क्रियाशील है और क्रिया के साथ दोष (पाप) भी लगे रहते है। गीता के शब्दो मे—

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता.[1]

सभी कर्मो के साथ दोष (पाप) उसी प्रकार लगे रहते है जैसे धुएँ के साथ अग्नि।

गृहस्थ के कर्म के साथ 'पाप' लगा रहता है—यह बात ठीक है, किंतु हृदय की वृत्ति यदि शुद्ध एव विवेकयुक्त हो तो उस पाप की शक्ति, तीव्रता एव मन्दता मे तरतमता अवश्य रहती है। जैसे औषधि मे डिग्री का अन्तर रहता है, कोई पचास डिग्री की होती है, कोई सौ और कोई हजार और लाख की भी। उसी प्रकार अन्त करण की वृत्ति के कारण पाप करते हुए भी उसकी डिग्री मे, उसके स्तर मे अन्तर रहता है। इसी अन्तर के कारण एक गृहस्थ पाप करते हुए भी सद्गृहस्थ कहला सकता है और एक पापी! पतित! अधम! इस स्तर का वर्णन करते हुए आचार्यो ने बताया है—

पापं समाचरति वीतघृणो जघन्य
प्राप्यापदं सघृण एव हि मध्यबुद्धिः।
प्राणात्ययेऽपि न हि साधु जनः स्ववृत्तं—
वेला समुद्र इव लंघयितुं समर्थः।

संसार मे तीन प्रकार के मनुष्य है—

(१) जघन्य
(२) मध्यम
(३) उत्तम

जघन्य—पाप करते समय जिस मनुष्य के हृदय मे किसी प्रकार का भय नही होता, पाप के प्रति घृणा नही होती, मन मे ग्लानि एव उसके दुष्परिणाम के प्रति किसी प्रकार का विचार नही होता—यह कल्पना ही नही होती कि मेरे

---

१ गीता १८।४८

उस पापाचरण से किसी को कष्ट हो रहा है, या मेरी आत्मा का पतन हो रहा है—इस प्रकार के विचार-विवेक से शून्य होकर जो मनुष्य पाप का आचरण करता है—वह है जघन्य।

ऐसा सुना जाता है कि यहाँ कसाईखाने मे बकरे मारने वाले को प्रति बकरे के दस पैसे मिलते हैं। अब सोचिए—दस पैसे के लालच मे वह व्यक्ति एक प्राणी को कत्ल कर देता है, मैं-मैं करते तड़पते हुए बकरे की गर्दन उड़ाकर हाथों को खून मे रंग रहा है। यदि उसके हृदय मे थोड़ा-सा भी दया का संचार हो, पाप के प्रति घृणा हो, तो क्या वह इतने से तुच्छ लोभ के कारण इतना जघन्य कृत्य कर सकता है? जिस व्यक्ति के मन मे पाप के प्रति घृणा नही है, उसे लालच देकर नीच से नीच कृत्य भी करवाया जा सकता है। मनुष्य को मारना तो उसे गाजर-मूली काटने जैसा लगता है। तो यह प्रथम जघन्यवृत्ति है।

मध्यम—मध्यम श्रेणी मनुष्य के लिए कहा गया है कि अत्यंत आवश्यकता होने पर, किसी विपत्ति या संकट मे फँस जाने पर, विवश होकर जो पाप कर्म करता है, किन्तु उसके हृदय मे पाप के प्रति घृणा होती है, दिल मे कंपन होता है, और अपनी विवशता पर विचार करता हुआ वह शीघ्र ही उस पाप से मुक्त होना चाहता है। वह व्यक्ति पाप का आचरण करता हुआ भी सोचता है—"आज परिस्थितिवश मुझे यह पाप करना पड़ रहा है, मेरे मन मे एवं जीवन मे इतनी शक्ति नही है कि मैं परिस्थिति से लड़ सकूँ और उस पर विजय प्राप्त कर सकूँ। अपनी कमजोरी के कारण मुझे यह पाप करना पड़ रहा है।"

आगम मे कर्मबन्ध की स्थिति पर विश्लेषण करते हुए बताया गया है कि कर्म करते समय विचारों मे जिस प्रकार की आसक्ति होती है उसी के अनुसार तीव्र, मध्यम, मंद बंध होता है। कोई आदमी पाप करते समय यदि उसमें अत्यंत तीव्र अध्यवसाय रखता है तो उसके पाप का बंध भी उसी प्रकार तीव्र-रस वाला होगा, उसके कर्म की स्थिति दीर्घकालिक होगी, अनुभाग भी तीव्र होगा, और बंधन भी सुदृढ़ होगा। यदि कर्म करते समय परिणामों मे मंदता रहेगी, पाप के प्रति घृणा रहेगी तो उसका कर्म-बंध भी अल्पकालिक एवं अल्परस वाला होगा। मैं कह रहा था कि पाप करते समय जिस व्यक्ति के हृदय मे पाप के प्रति घृणा होती है, वह द्वितीय श्रेणी का व्यक्ति है, वह अपने पाप का निरोध भी कर सकता है, उसके विकास एवं उत्थान की काफी गुंजाइश है।

उत्तम—एक तीसरे प्रकार के व्यक्ति होते हैं जो पाप करने जाने की स्थिति

आने पर भी पाप का आचरण नही करते। पाप और प्राणात दोनो प्रश्न उपस्थित होने पर वे प्राणान्त—अर्थात् मृत्यु को स्वीकार कर सकते है, किन्तु पाप का आचरण स्वीकार नहीं करते। वे उत्तम पुरुष होते हैं, उनका विरुद है—

रघुकुल रीति सदा चलि आई,
प्राण जाइ पर प्रण नहि जाई।

प्राण भले ही चले जायँ पर प्रण नही जाय। उन्हें अपने नियम एव मर्यादा के उल्लघन पर पाप का आचरण करना मृत्यु से भी अधिक त्रासदायक लगता है। समुद्र मे जिस प्रकार ज्वार-भाटा आता है, उत्ताल तरगें उठती है, पर समुद्र उन सभी को अपने अन्दर ही समा लेता है, कभी भी वह अपने तट का, मर्यादा का उल्लघन नही करता—यही स्थिति उत्तम पुरुष के जीवन की है। भर्तृहरि ने उत्तम पुरुष का लक्षण बताते हुए यही बात कही है—"प्राणान्तेऽपि प्रकृति विकृतिर्जायते नोत्तमानाम्"—उत्तम पुरुष के समक्ष प्राणात का प्रसग उपस्थित होने पर भी उनकी प्रकृति मे विकृति अर्थात् विकार नही आते।

इस प्रकार मनुष्य की वृत्ति के तीन स्तर बताये है। आप 'उत्तम पुरुष' के स्तर को प्राप्त कर सकें तो बहुत श्रेयस्कर होगा, यदि नही प्राप्त कर सकें तो कम से कम जघन्य स्तर पर तो न जायें। पाप के प्रति बिल्कुल निर्भय और निर्दय तो न बनें। मन मे पाप का भय रखे, पापो से घृणा करें और पाप करते समय उसके दुष्परिणामों पर विचार करे—यह सद्गृहस्थ का मध्यम मार्ग है। पुराने सतजन कहा करते थे—

सोच करे सो शूर है, कर सोचे सो कूर।
सोच किया मुख नूर है, कर सोचे सिर धूर।

जो व्यक्ति काम करने से पहले सोच लेता है, उसके लाभालाभ पर विचार कर लेता है, वह समझदार है और जो करने के बाद सोचता है, पछताता है, वह मूर्ख है। विचार करके करने वाले की संसार मे इज्जत होती है, करके पछताने वाले के सिर पर लोग धूल डालते है। इसलिए सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह पाप करने से पहले पाप के फल का विचार करले। 'पाप-भीरु' से यह मतलब नहीं है कि वह भीरु अर्थात् डरपोक बना रहे, हमेशा घबराता रहे, किन्तु इसका अर्थ है कि पाप के प्रति मन मे घृणा रखे। हमेशा सावधानी रखे कि भूल से, या लापरवाही से कोई ऐसा कृत्य न हो जाये जिसका दुष्परिणाम उसके लिए घातक सिद्ध हो। इसीलिए भगवान महावीर ने साधक को सावधान

करते हुए कहा है—'चरे पयाईं परिसक्कमाणो ।[1] साधक पग-पग पर विचार-पूर्वक सावधान होकर चले ।

भय : एक सावधानी

श्रीमद् राजचन्द्र ने एक जगह लिखा है—जोता झेर छे, माये मरण छे, पगले-पगले पाप छे, आम विचारीने आजना दिवसमा प्रवेश कर ।" जो आत्मा की साधना करना चाहता है, और साधना से सिद्धि प्राप्त करना चाहता है, वह साधक है, चाहे गृहस्थ के वेष मे रहे या साधु के वेष मे । उसे जगत का अवलोकन करके यह देखना चाहिए कि मेरे चारो ओर जगत मे पाप ही पाप बिखरा हुआ है, पग-पग पर आग लगी है, कदम-कदम पर गड्ढे है—यदि कही एक भी कदम असावधानीपूर्वक रख दिया तो सर्वनाश हो जायेगा । उसे प्रात उठकर सर्वप्रथम यह सकल्प लेना चाहिए कि "मेरा आज का दिन शुभ जाये, अप्रमाद एव सावधानीपूर्वक बीते, कही किसी का अहित व बुराई न हो, और कोई ऐसा कार्य न हो कि मेरी आत्मा का पतन हो जाय ।" इस प्रकार का सकल्प लेकर दिन भर जीवनचर्या को सावधानीपूर्वक बिताने से साधक पाप से बच सकता है, पाप से दूर रह सकता है । यह सावधानी ही सामान्य भाषा मे पाप का भय है ।

पाप : पर है

उपनिषद् मे एक स्थान पर कहा है—"द्वितीयाद् वै भय भवति"—दूसरे से भय होता है । मनुष्य सदा दूसरे से, अर्थात् पराये से डरता है । अपने से, अपने मित्र एव स्वजनो से भय नही होता । पाप—यह 'पर' है, आत्मा का अपना नही है, जिस प्रकार चोर पुलिस वालो से डरता है कि कही वे उसे गिरफ्तार न करलें, उसी प्रकार जीव पाप से डरता है, पाप भी जीव को बधन मे डालता है, उसे दुःख देता है । यदि पाप 'स्व' होता तो वह जीव को बधन मे नही डालता, मित्र अपने मित्र को गिरफ्तार नही करवाता, किन्तु शत्रु ही गिरफ्तार करवाता है । इसलिए पाप से डर इस कारण है कि वह आत्मा का शत्रु है, आत्मा को बधन मे डालता है । आप दुकान पर बहीखाते लेकर बैठे है, उतने ही मे कोई ग्राहक आता तो आपको भय नही होगा, किन्तु कोई इन्कमटैक्स वाला आ गया तो आप भीतर ही भीतर कांप उठेंगे—जैसे ठंडी की बुखार आ गई हो । आप सोचेंगे यह यहाँ से आ धमका ! इसे कैसे ही टरका के भगाओ !

1 दश० ५।३

यह भय क्यो होता है ? इसलिए कि वह पराया है, वह आपको भूल पर आपको दंड दिला सकता है, आपको गिरफ्तार भी करा सकता है। इसी प्रकार पाप भी आत्मा से 'पर' है, वह आत्मा को पीड़ा देने वाला है। इसलिए पाप से सदा सावधान रहने की बात कही गई है। 'पापभीरु' होने का मतलब यही है कि पाप करने से डरते रहना।

मैं एक बात और कह दूँ—पाप का भय रखना और बात है, तथा पाप करके भय खाना दूसरी बात है। 'पाप से डरना'—यह तो सामान्य दयालु वृत्ति है, किन्तु 'पाप करके डरना'—यह मन की कायरता है। कहावत है—डरेगा वही जो चोर होगा। जिसने पाप किया है, और अब उसे छुपाना चाहता है वह मनुष्य भी डरता रहता है, किन्तु उसका डरना चोरी है, कायरता है। एक इन्कमटैक्स का इन्स्पेक्टर हमारे पास भी आता है तो हमें उससे कोई भय नही, यदि आपके पास आता है तो आपका कलेजा थर्‌थर् करता है, इसका क्या कारण है ? यही कि हमारे मन में पाप नही है, और आपके मन मे पाप है। कहावत है—'पाप किसी का बाप नही, जो पाप करेगा, उसे उसका फल भी मिलेगा।' पाप करते समय यदि आपके मन में यह भय है कि—पाप से मेरा पतन होगा, तो आप पाप से बच सकते हैं, और तब आपको किसी का भय नही हो सकता।

पाप एकान्त मे भी नहीं

पाप से बचने के भी तीन दृष्टिकोण हैं, एक लोक भय से, दूसरा परलोक भय से एवं तीसरा आत्मभय से। लोकभय से भी बचने के अनेक कारण हो सकते हैं—जैसे शरीर-भय, समाज-भय, राज-भय। एक आदमी शरीर से निर्बल है, इसलिए ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा है, अशक्त है इसलिए किसी से झगड़ा नही कर रहा है। यह शारीरिक भय है। एक समाज के भय से अन्याय नहीं करता है कि लोगो मे बदनामी होगी, बिरादरी मे काला मुँह हो जायेगा। और एक सरकार के डंडे के, अर्थात् कानून के भय से बुराई नही कर रहा है, चोरी नही कर रहा है। इस प्रकार शरीर-भय, समाज-भय एवं राज-भय आदि के कारण पाप से बचने की भावना—लोक भय की भावना है।

कुछ लोग इसलिए पाप से डरते हैं कि इससे नरक में यन्त्रणा, वेदना भोगनी पड़ेगी। कुम्भीपाक मे भयंकर कष्ट भोगने पड़ेंगे। तिर्यंच गति में असह्य पीड़ाएँ भुगतनी होंगी। इस प्रकार की भावना के कारण जो पाप से बचा जाता है, वह परलोक भय है।

तीसरी आत्मभय की दृष्टि है—आत्म-भय की दृष्टि से मतलब है—पाप के आचरण से मन की वृत्तियाँ कलुषित होंगी, आत्मा में अशांति होगी, आत्मा अपने स्वभाव से गिरकर विभाव में चला जायेगा, और उस कारण कर्म का बंधन होगा, पुनः जन्ममरण होगा। इस प्रकार पुनरपि जननं पुनरपि मरणं—का चक्र चलता रहेगा। आत्मा को पतन से बचाने के लिए जो व्यक्ति पाप से बचता है, वह कहीं भी, किसी भी दशा में पाप नहीं कर सकता। उसके लिए जैसा सबके सामने है वैसा ही एकांत में है। आगम की भाषा में "से गामे वा नगरे वा रण्णे वा ऐगओ वा परिसागओ वा" जैसा गाँव एवं नगर में है, वैसा ही जंगल में। यह नहीं कि गाँव में लोग देखते हैं इसलिए अच्छा आचरण रखा जाये और जंगल में जाकर पाप कर लिया जाय। वह जैसा परिषद् अर्थात् सभ्य पुरुषों के बीच में बैठकर जिस प्रकार का सुन्दर आचरण करता है, अच्छे विचार व्यक्त करता है उसी प्रकार का आचार एवं विचार एकांत में भी रखता है। आत्मनिष्ठ व्यक्ति के जीवन में यह एकरूपता है। वह सोचता है परिषद् में भी चाहे कोई देखे या न देखे, किन्तु मेरी आत्मा तो जरूर देखती है, और एकांत में भी और कोई नहीं देख सके तो क्या, मेरी आत्मा से तो नहीं छुपाया जा सकता? इस प्रकार वह सर्वत्र अपनी आत्मा को देखता है, जो आत्मा को देखता है, जिसे आत्मा की चिंता है वह पाप नहीं कर सकता। आचारांगसूत्र में[1] भगवान ने कहा है—"सम्मत्तदंसी न करेइ पाव"—सम्यक्दर्शी पाप नहीं करता। सम्यक्त्वी का क्या अर्थ है? क्या अमुक गुरु की, या अमुक संप्रदाय की आज्ञा मान लेने से ही आप सम्यक्त्वी हो गए? यह वास्तविक सम्यक्त्व नहीं, वास्तविक सम्यक्त्व है—आत्मबोध, आत्मज्ञान! और आत्म-बोध होने पर साधक स्वतः ही पाप से बचता रहता है।

तीन शिष्य

प्राचीन ग्रन्थों में एक कहानी आती है। क्षीरकदम्बक नामक एक गुरु के पास तीन विद्यार्थी अध्ययन करते थे। एक उस नगर के राजा का पुत्र था 'वसु'! एक आचार्य का पुत्र था 'पर्वत' तथा एक था नारद! गुरुजी तीनों शिष्यों को बड़े प्रेम से अध्ययन करा रहे थे।

एक बार दो जंघाचारण मुनि आकाशमार्ग से जाते हुए आचार्य के आश्रम में आये। आचार्य ने मुनियों का स्वागत किया, नगर में भिक्षा लेकर वे दोनों मुनि जब जाने लगे तो साथ के मुनि, जो उनके शिष्य थे, बोले—"गुरुजी! ये

१ आचारांग १।३।२

तीनो शिष्य आचार्य के पास बडे अच्छे ढग से अध्ययन कर रहे है, इनका विनय-व्यवहार भी बडा सुन्दर है।"

गुरु ने गम्भीर होकर कहा—"हाँ, ऊपर से तीनो का व्यवहार सुन्दर है, किन्तु इनकी अन्तरवृत्ति मे बडा भेद है, इनमे एक भव्य है, एक दुर्भव्य है और एक अभव्य है।"

गुरु-शिष्य का यह सवाद आचार्य के कानो मे पड गया। वे चौके। मेरे इन शिष्यो मे अभव्य भी है! दुर्भव्य भी है! मैं तो तीनो को ही योग्य एव धर्मात्मा समझ रहा था पर अब मुनि ने जो कहा है तो परीक्षा करनी चाहिए—"कौन भव्य है, कौन दुर्भव्य और कौन अभव्य"? आचार्य ने एक तजवीज सोची, तीनो शिष्यों को बुलाया, एक शिष्य (पर्वत) को एकान्त मे ले जाकर कहा—"वत्स! मैंने तुम्हे इसलिए बुलाया है कि तुम मेरा एक जरूरी काम विश्वासपूर्वक पूरा करोगे?"

शिष्य ने कहा—"गुरुदेव! आपकी जो आज्ञा होगी, उसे अवश्य पूरी करूँगा! आदेश दीजिए।"

गुरु ने एक मायामय कबूतर दिया और कहा—"तुम ऐसी जगह पर इसे ले जाओ जहाँ कोई न देखता हो, और वहाँ एकान्त मे इसे मार डालो।"

शिष्य ने कबूतर हाथ मे छुपाकर ले लिया। आश्रम से बाहर आया, दीवार के पीछे जाकर देखा, कोई दिखाई नही दिया, वही उसने कबूतर की गर्दन मरोड कर डाल दिया और दस-पाँच मिनिट मे ही गुरु के पास आकर बोला—"गुरुदेव! आपके आदेश का पालन कर दिया है।"

गुरु ने दूसरे और तीसरे शिष्य को भी एक-एक कबूतर देकर यही बात कही—"जहाँ कोई न देखता हो, वहाँ ले जाकर इन्हे मार डालना।"

थोडी देर बाद दूसरा शिष्य राजकुमार भी आ गया और कहा—"गुरुदेव! आपके आदेश का पालन कर आया हूँ।" थोडी देर बाद तीसरा शिष्य नारद भी लौट कर आ गया, उसके हाथ मे कबूतर भी ज्यों का त्यो था। गुरु ने देखा तो पूछा—"तुमने मेरी आज्ञा का पालन क्यो नही किया?" नारद ने हाथ जोडकर कहा—"गुरुदेव! आपने आज्ञा दी थी कि जहाँ कोई न देखे, वहाँ एकान्त स्थान मे ले जाकर इसे मारना, लेकिन ऐसा स्थान मुझे इस धरती पर कही नही मिला!"

गुरु ने पूछा—"कैसे? एकान्त कही नही मिला।"

शिष्य—"नही! गुरुदेव! मैं यहाँ से जगल मे बहुत दूर गया, जहाँ मनुष्य

की परछाई भी नहीं दिखाई देती थी, वहाँ देखा तो आकाश में उड़ते हुए पक्षी मुझे देख रहे थे, जंगल के अन्य वनचर भी इधर-उधर घूम रहे थे। फिर एक पर्वत की गुफा में बहुत भीतर तक गया, सोचा यहाँ पक्षियों की दृष्टि भी नहीं पड़ती, यहाँ एकान्त है, तभी आपका आदेश याद आया—'जहाँ कोई न देखे' मैंने सोचा—यहाँ मैं स्वयं तो देख रहा हूँ, यदि मैं भी अपनी आँखें बन्द करलूँ तब भी मेरा मन, मेरी आत्मा वह तो देख रही है, फिर परमात्मा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी प्रभु वे तो सर्वत्र देख रहे हैं, उनसे छुप कर कहाँ एकान्त है ? फिर आप जैसे धर्मात्मा व्यक्ति कबूतर को मारने की आज्ञा कैसे दे सकते हैं ? आपके कथन का अभिप्राय कबूतर को मारना नहीं था, भले ही शब्दों में यह आपने नहीं कहा।" शिष्य की बात सुनकर गुरु के मन में प्रसन्नता की लहर उठी, सोचा इसने मेरे अन्तःकरण की भावना को पहचाना है, यही भव्य है। इसके मन में आत्मा का भय है, भगवान का भय है। फिर भी ऊपर से कृत्रिम रोष दिखाकर अपने पुत्र पर्वत से पूछा—"बेटा! नारद की बात ठीक है ? तुम्हें कहीं एकान्त मिला कि नहीं ?"

पर्वत ने हँस कर कहा—"गुरुदेव! इसे तो रज में तज निकालने की आदत है, मैं तो आश्रम के पीछे गया वहाँ कोई नहीं देख रहा था, वहीं मैंने अपना कार्य पूरा कर लिया और पाँच मिनिट में वापस आ गया।"

गुरु ने सोचा—घाटा तो मेरे ही घर में है। इसने मेरे कथन का भाव नहीं समझा, और न इसके मन में आत्मा और परमात्मा का भय है अतः न लोक-परलोक का भय है। यही अभव्य है।

गुरु ने फिर राजकुमार वसु से पूछा—"वत्स! पर्वत ने इतना जल्दी अपना काम कर लिया, तो तुमने इतनी देर क्यों लगाई ?"

राजकुमार ने उत्तर दिया "गुरुदेव! मैं आश्रम के बाहर गया, देखा इधर-उधर खेतों में कुछ आदमी काम कर रहे हैं, फिर दूर गया, वहाँ भी लोगों के आने की सम्भावना दीखी, आखिर बहुत दूर एकान्त वीरान में जाकर एक झाड़ी की ओट में छुपकर अपना काम किया, इसलिए मुझे कुछ समय लग गया।"

गुरु ने सोचा, इसके मन में लोकभय तो है, किन्तु परलोकभय नहीं है। यह दुर्भव्य है।[1]

---

१ यह कथानक त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ७।२ में तथा [illegible] गाथा १०१ में उल्लिखित है।

तो इस प्रकार तीन प्रकार की मनोवृत्ति इस कहानी मे झलकती है—एक नारद की, जिसने गुरु के कथन के मर्म को पहचाना, उसने सोचा—गुरुजी जैसे धर्मात्मा पुरुष कबूतर को मारने को कभी नही कह सकते। फिर ससार मे कही ऐसा स्थान नही, जहाँ आत्मा अपने को न देखता हो, मनुष्य सबको धोखा दे सकता है, पर अपने आपको धोखा नहीं दे सकता। तो जो आत्मा एव परमात्मा को देखता है वह कही भी पाप नही कर सकता? उसके मन मे करुणा एव दया के अकुर होते हैं। दूसरी दो वृत्तियाँ निम्न प्रकार की हैं, उसमे व्यक्ति स्वयं को भी धोखा देता है और भगवान को भी। खरगोश जिस प्रकार आँख पर कान धर कर सोचता है—अब मुझे कोई नही देखता। वैसे ही जिसके मन मे आत्म-भय नही होता वह एकात मे छुपकर सोचता है—यहाँ मुझे कोई नही देख रहा है। ऐसे व्यक्ति क्रूर एव निर्दय होते हैं, बडे से बडा पाप करते हुए भी उन्हे किसी प्रकार का भय एव सकोच नही होता।

पाप से डरे सो पंडित

मैं आपको बता रहा था कि सद्गृहस्थ के जीवन मे इस बात की परम आवश्यकता है कि वह पाप से डरे, अर्थात् पाप करने से पहले यह सोचे कि "इस दुष्कृत्य से मेरी आत्मा का पतन होगा, कष्ट भोगना पडेगा और ससार मे अपयश होगा, बदनामी होगी, लोग अगुली उठाएँगे। मुझे ही नही मेरे बेटे-पोतो और न्याती-गोती को भी सिर नीचा करके चलना पडेगा।"

पुराने जमाने मे कोई अन्याय कर लेता था, किसी के साथ धोखा कर लेता या नाप-तोल मे कमी-बेसी कर देता तो लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। अन्याय करने वाला भी मन मे सकोच करता, उसका हाथ जल्दी से पाप की ओर नही बढता। पर आज अन्याय की घृणा समाप्त हो गयी। लोगो मे पाप का भय नही रहा है। इसलिए चारो ओर अन्याय, भ्रष्टाचार एव पाप की होली जल रही है। आज व्यापारी बेईमानी करता है तो सरकार से डरता जरूर है, पर सोचता है अपनी बुद्धिमानी और होशियारी से सरकार की आँखो मे धूल झोक दूंगा। यदि कही पकडा भी गया तो दस बीस के नोट देकर छूट जायेंगे। अधिकारी भी रिश्वत की जूती से दबे रहते हैं। सब के मन मे पैसा बसा है। ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध मे कुछ लोग आस्तिक हैं और कुछ नास्तिक। पर पैसे के मामले मे सभी आस्तिक हैं। और पैसा सामने आने के बाद वे न्याय-अन्याय सब भूल जाते हैं। पडित और मूर्ख समान हो जाते हैं।

पुराने सन्त एक प्रश्नोत्तर सिखाया करते थे। पूछते थे—"पडित कौन

है ?" कुछ लोग कहते, जो पढ़ा-लिखा हो वह पंडित, कोई कहते जो संस्कृत का विद्वान हो वह पंडित। परन्तु पुराने संत कहते—"पाप से डरे सो पंडित" पापाद् ड्डीन —पंडित¹। केवल पढ़ने-लिखने से मनुष्य पंडित नहीं होता, किन्तु पढ़-लिखकर जिसने पुण्य-पाप को समझा है, और समझकर पाप से दूर रहता है, वह पंडित है। भगवान महावीर ने कहा है—

> सीहं जहा खुड्डुमिगा चरंता
> दूरे चरंती परिसंकमाणा।
> एवं तु मेहावी समिक्खधम्मं,
> दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥²

जिस प्रकार मृग के छोटे-छोटे छौने सिंह से डर कर उसकी छाया से बचते हुए दूर-दूर रहते हैं, उसी प्रकार जो बुद्धिमान हैं, पण्डित हैं, वह धर्म को जान कर पाप से दूर रहते हैं।

सन्त कबीरदास ने भी पढ़े-लिखे को पण्डित नहीं कहा, किन्तु जिसके मन में प्रेम, करुणा और दया है उसे ही पण्डित कहा है—

> पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ पण्डित भयो न कोय।
> ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पण्डित होय ॥

प्रेम का यह ढाई आखर ही दया है, धर्म है, पाप से 'घृणा' है। जिसके मन में मनुष्य के प्रति प्रेम होता है, दया होती है, वह कभी भी क्रूर नहीं हो सकता। चन्द चाँदी के टुकड़ों के लिए इन्सानियत नहीं खो सकता। यदि मन में दया का अंकुर नहीं है, तो उसके लिए इन्सानियत और भावना नाम की कोई चीज संसार में नहीं है।

एक शिक्षाप्रद घटना

मुझे एक घटना याद है। सं० १९८७ में मेरा चातुर्मास मेरी जन्मभूमि तिवरी में था। दोपहर का व्याख्यान चल रहा था। उस समय एक भाई ने व्याख्यान में आकर कहा एक मुसलमान का लड़का तालाब में नहाता हुआ उसमें डूब गया। लोगों ने कोशिश करके निकाला, मगर उसके शरीर में पानी भर गया था। उसकी मृत्यु हो गई है। अब हमें आप लोगों की मदद चाहिए, ताकि ... पुलिस के हाथों में पड़े जाने से नाहक परेशानी होगी या पुलिस केस न बने।

———

१. [illegible] २. सूत्रकृताग १।१०।२०

और बहुत दिनो तक लाश सडती रहेगी, इसलिए इस स्थिति मे हमे आप लोग (महाजन) मदद करिये ।

उस भाई की बात पर गांव वालो ने कोई ध्यान नही दिया । तब गुरु महाराज ने कहा—"भाइयो ! यह गरीब जाति का है, और ऐसी करुणाजनक स्थिति है, आप लोगो को मदद करनी चाहिए ।" परन्तु वहां गांव मे आपस मे कुछ रंजिश थी, इसलिए किसी ने मदद नही की । गांव के जागीरदार ने भी ध्यान नही दिया । आखिर वह लाश मथानिए (पुलिस थाना) ले जाई गई । थाने मे रिपोर्ट दी गयी । तो थानेदार साहब ने भूखे अजगर का सा मुंह खोला, बोला—"एक हजार रुपया दो तो केस सुधरेगा, वर्ना केस नही सुधरेगा ।" अब आप सोचिए, जिसको कफन के लिए कपडे जुटाना भी मुश्किल हो, वह एक हजार रुपया कहां से लायेगा ? उन लोगो ने थानेदार से बहुत आजिजी की, पर थानेदार टस से मस नही हुआ । और कहा यदि हजार रुपये नही दोगे तो यह पुलिस केस बनकर जोधपुर पोस्ट-मार्टम के लिए जायेगा । जोधपुर जाने के लिए दो गाडी की गई । एक मे लाश रखी गई और एक मे ये लोग बैठ गये । सयोग की बात थी कि उधर से जोधपुर दरबार उम्मेदसिंह जी अपनी ससुराल ओसिया जा रहे थे । उधर से दो गाडियो मे लोगो को देखा और एक गाडी मे अकेले आदमी को सोया देखा तो अपनी कार रोक कर दरबार ने पूछा—"क्या बात है ?" लोगो ने डरते-डरते सारा हाल सुनाया तो पुलिस की ज्यादती पर दरबार को बड़ा गुस्सा आया—पुलिस वालो को व्यवस्था के लिए रखा गया है या गरीबो को परेशान करने के लिए ? दरबार ने लोगो से कहा—"सच बताइए, इसे किसी ने धक्का देकर तो नही गिराया ?"

लोगो ने कहा—"महाराज ! नही, यह तो कपडे धोकर नहा रहा था तभी इसका पैर फिसल गया । तालाब मे जा गिरा और निकाला तब खत्म हो चुका था ।"

दरबार ने कहा—"यह सब घटना लिख दो !" लोगो ने कहा—"महाराज, हम तो लिखना भी नही जानते ! दरबार ने स्वय अपने हाथ से सब रिपोर्ट लिखी, उनके दस्तखत करवाये और अपनी दो कार खाली करके उन्हें दी कि कार मे डालकर लाश को वापस गांव मे ले जाओ, और दफना दो ।"

अब देखिये—एक ओर थानेदार का क्रूर आचरण ! ऐसी गम्भीर स्थिति मे भी उसे हजार रुपये मांगते शर्म नही आई ! लाश सामने देखकर मनुष्य को वैराग्य हो जाता है, गौतम बुद्ध ने मुर्दे को देखकर सन्यास ले लिया था । और एक ओर ऐसा क्रूर हृदय कि लाश देखकर पैसे का सौदा करना चाहता

है। दरबार के सामने यह केस जाने पर थानेदार को जो सजा मिलनी थी, वह मिली ही होगी, पर उसकी क्रूरता और अन्याय की वृत्ति कितनी निन्दनीय थी। दूसरी ओर दरबार का उदाहरण भी है, जिन्होने ससुराल जाते हुए अपनी कार खाली करके लाश ढोने को दी, और स्वयं ने कष्ट उठाया। यह भी तभी हो सकता है जब मन मे न्यायनिष्ठा, मानवता और दया का भाव हो। यह तो एक नमूना है, न जाने कितनी ऐसी घटनाएँ होती हैं, और कितने मनुष्यो को इस प्रकार के अन्याय का शिकार होना पडता है। इस प्रकार दूसरो के साथ अन्याय, क्रूरता एव अमानवीय व्यवहार करने वाला विद्वान तो क्या, इन्सान भी कहलाने का अधिकारी नहीं है। आचार्यों ने उसे सद्गृहस्थ क्या गृहस्थ भी नही कहा, नर-पशु कहा है। इससे भी नीचे 'नर-पिशाच' की सज्ञा दी गई है। कहा है कि जो पाप से नही डरता है, वह नर पशु है, जो पापमय क्रूर आचरण करता है, वह नरपिशाच है। जो पाप से डरता हुआ सावधानी पूर्वक चलता है, वह 'नर' है, और जो कभी भी 'प्राणात्ययेऽपि' पाप नही करता वह 'नर-देव' है।

पुण्य-पाप : सैद्धान्तिक परिभाषा

पाप की शाब्दिक परिभाषा तथा उससे डरने की बात तो मैंने आपको बताई है। अब जरा इसके सैद्धान्तिक रूप पर भी विचार कर लेते हैं। जैन-दर्शन की दृष्टि से पुण्य क्या है, पाप क्या है, आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध क्यो होता है और कैसे उस सम्बन्ध से आत्मा मुक्त होता है? इन विषयो पर विस्तार के साथ जैनसूत्रो एव कर्मग्रन्थ तथा तत्त्वार्थसूत्र आदि मे विचार किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र मे जहाँ पुण्य-पाप का वर्णन किया है, वहाँ पहले बताया गया है कि—पुण्य-पाप आस्रव है। उत्तराध्ययन सूत्र मे भी यही बात कही है—पुण्ण-पावासवो तहा[1]—आस्रव के दो भेद हैं—पुण्य और पाप।

योग : आस्रव

जब प्रश्न आया कि आस्रव क्या है? आस्रव को समझने के लिए आचार्यों ने 'योग' को समझना आवश्यक बताया है। आचार्य उमास्वाति ने कहा है—"कायवाङ्मनःकर्म योगः"[2]—काया, वचन और मन इन तीनो की जो क्रिया, चेष्टा अथवा स्पन्दन है वह योग है। "कर्मव्यापारः—क्रिया चेष्टेत्यर्थान्तरम्।"[3]

---

१ उत्तराध्ययन २८-१४

३ तत्त्वार्थाधिगम सिद्धसेनीयावृत्ति ६।१

योग की यह व्यावहारिक परिभाषा है। शरीर की जो क्रियाएँ होती है वचन की जो चेष्टाएँ चलती है तथा मन की इधर-उधर दौड़-धूप, चिन्तन आदि चलते हैं—वह सब योग है, इस योग को ही आस्रव कहा जाता है।[1] आस्रव का अर्थ है कर्म आने का द्वार—"कर्मणोरास्रवणादास्रवः सर:सलिलावाहिनिर्वाहिस्रोतोवत्"[2] जिसके द्वारा कर्म का स्रवण अर्थात् आना-जाना होता है उसे आस्रव कहते हैं, जैसे सरोवर में जल के आने और जाने के लिए नाले होते हैं, उनके द्वारा सरोवर मे जल का आगमन-निर्गमन चलता रहता है। उसी प्रकार आस्रव रूपी द्वार से आत्मरूपी सरोवर मे कर्मरूप जल का आगमन-निर्गमन होता रहता है। इस प्रकार आस्रव आत्मा के साथ कर्मवर्गणा का सम्बन्ध कराने वाला है। यह आस्रव योगरूप है। निश्चय सिद्धान्त की दृष्टि से योग की परिभाषा की गई है—"वीर्यान्तराय के क्षय या क्षयोपशम से तथा पुद्गलों के अवलम्बन से आत्म प्रदेशों में जो परिस्पन्द—अर्थात् चचलता, कम्पन रूप व्यापार होता है, वह योग कहलाता है। इसे आप चेष्टा, उत्साह, प्रयत्न, पराक्रम अथवा शक्ति भी कह सकते हैं"[3] यह योग अपने आलम्बन के भेद से तीन प्रकार का है—काययोग, वचनयोग तथा मनोयोग।

औदारिक शरीर वर्गणा के पुद्गलों के आलम्बन से जो योग प्रवर्तमान होता है—वह काययोग कहलाता है।

मतिज्ञानावरण, अक्षरश्रुतज्ञानावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से आन्तरिक वाक् लब्धि उत्पन्न होती है, यह वाक्लब्धि उत्पन्न होने पर वचनवर्गणा के आलम्बन से जो भाषापरिणाम की ओर आत्मा का प्रदेश परिस्पंद होता है—वह—वचनयोग है।

नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से आन्तरिक मनोलब्धि उत्पन्न होती है, और मनोलब्धि उत्पन्न होने पर मनोवर्गणा के आलम्बन से मन परिणाम की ओर आत्मा का जो प्रदेश परिस्पन्द होता है—वह मनोयोग कहा जाता है।

पुण्य-पाप

इस प्रकार योग—अर्थात् आस्रव आत्मा के साथ कर्म सम्बन्ध का निमित्त होता है। यह बात भूलिए नहीं कि आस्रव केवल निमित्त है उपादान तो आत्मा

१ स आस्रवः—तत्त्वार्थ ६।२ २ तत्त्वार्थाधिगम स्वोपज्ञभाष्य ६।२
३ तत्त्वार्थाधिगम सिद्धसेनीयावृत्ति ६।२

स्वयं होता है, आत्मा जब रागद्वेष से युक्त होकर शुभ या अशुभ परिणाम में परिणमन करता है, तभी उसके प्रदेशों में परिस्पन्द-कम्पन होता है, और उसी के अनुरूप शुभ-अशुभ कर्म का बन्ध होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने यही बात कही है—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोस जुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादि भावेहिं ॥[1]

जैनदर्शन के अनुसार योग के शुभत्व एवं अशुभत्व का आधार कर्म नहीं, किन्तु भावना, आत्मा का परिणाम है। यदि भावना शुभ है, आपकी प्रवृत्ति शुभ उद्देश्य से प्रेरित है, तो आपके योग भी शुभ हो सकते हैं। यदि आपकी भावना अशुभ है, कलुषित है और आप अशुभ उद्देश्य से प्रवृत्ति कर रहे हैं तो वह योग भी अशुभ हैं। शुभ योग पुण्य है, अशुभ योग पाप है। आचार्य उमास्वाति के शब्दों में—

शुभः पुण्यस्य। अशुभः पापस्य।[2]

शुभ योग पुण्य का हेतु है, अशुभ योग पाप का हेतु है। यही बात आचार्य कुन्दकुन्द ने कही है—

सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावं ति हवदि जीवस्स।[3]

इस वर्णन से आप कुछ गम्भीर अवश्य हो गये होंगे, किन्तु पुण्य-पाप का सैद्धान्तिक रूप समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी पृष्ठभूमि समझ ली जाए। पृष्ठभूमि समझने के बाद पुण्य-पाप को समझने में कठिनाई नहीं आयेगी। जब यह तत्त्व समझ में आ गया कि योगों की शुभ प्रवृत्ति पुण्य है, अशुभ प्रवृत्ति पाप है, तो पुण्य क्या है, और पाप क्या है, यह भी समझा जा सकता है? शुभ योग क्या है, अशुभ योग क्या है—यह भी समझने में दिक्कत नहीं होगी। फिर भी सुविधा के लिए आचार्य उमास्वाति ने तीन सूत्र बताये हैं—

(१) हिंसास्तेयाब्रह्मादीनि कायिकः
(२) सावद्यानृतपरुषपिशुनादीनि वाचिकः
(३) अभिध्याव्यापादेर्ष्यासूयादीनि मानसः।[4]

१ प्रवचनसार २.९५ २ तत्त्वार्थसूत्र ६.३–४
३ पंचास्तिकाय १३२ ४ तत्त्वार्थाधिगमसूत्र स्वोपज्ञभाष्य ६.१

(१) हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य आदि कायिक व्यापार अशुभ काय योग हैं, इसके विपरीत, दया, ब्रह्मचर्य आदि शुभ काय योग हैं।

(२) सावद्य वचन (भले ही सत्य हो), मिथ्याभाषण, कठोर वचन, चुगली आदि वचन योग अशुभ हैं, तथा निरवद्य, सत्य, मृदु भाषण तथा आगम में जिस प्रकार की भाषा बोलने का विधान किया है—जैसे—

मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए"
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं[1]

विचारपूर्वक परिमित शब्द बोलना। हितकारी और सभी को प्रिय हो ऐसी भाषा बोलना—यह आगम सम्मत भाषा है, इस प्रकार की भाषा शुभ वचन योग है।

(३) दूसरों की मृत्यु चाहना—(अमुक मर जाये तो अच्छा) दूसरों को कष्ट और दुःख में चाहना, ईर्ष्या करना, क्रोध करना यह अशुभ मनोयोग है, तथा इसके विपरीत दूसरों की भलाई चाहना, सब की मंगल एवं शान्ति कामना करना—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

सब सुखी हों, निरोग हों, आनन्द और मंगल प्राप्त करें कोई दुःखी न हो, इस प्रकार का चिन्तन शुभ मनोयोग है।

उपर्युक्त वर्णन में जो काय, वचन एवं मन का अशुभ योग बताया है—यह पाप है। पाप का यह सैद्धान्तिक विवेचन भी है, और व्यावहारिक विवेचन भी।

जीवन में पाप के प्रसंग अधिक आते हैं, पुण्य के कम। पाप एक प्रकार से पहाड़ी का उतार है, नीचे गिरना है, नीचे उतरने में या ऊपर से नीचे गिर जाने में न उतनी कठिनाई होती है और न उतना समय लगता है, पर ऊपर चढ़ना बहुत कठिन होता है। पुण्य एक प्रकार की चढ़ाई है, उसमें समय भी लगता है, कठिनाई भी होती है। शास्त्रों में भी पुण्य बन्ध के नौ प्रकार बताये हैं, जबकि पाप बंध के अठारह। अर्थात् पाप के रास्ते पुण्य से दुगुने हैं। संसार में पतन के मार्ग ज्यादा हैं, बुराई ज्यादा है। इसलिए साधक को हमेशा सावधान रहने की आवश्यकता है। पुण्य की प्राप्ति—अर्जित पुण्य भोगने में मार्ग

१ दशवैकालिक ७।५५-५६

बयालीस बताये हैं, जबकि पाप की प्रकृति बयासी हैं। अर्थात् पुण्य बयालीस प्रकार से भोगा जाता है, और पाप बयासी प्रकार से। इसलिए पुण्य के मार्ग की खोज करनी पड़ती है, पाप-मार्ग की खोज करने की जरूरत नही। वह तो अपने आप आ जाता है, उससे तो बचने की जरूरत है। कल्पना करिए आप किसी ऐसे मकान मे रहते है जिसमे भले आदमियो के आने के एक-दो रास्ते हो, और चोरो के आने के कई रास्ते हो, और सब खुले पडे हो तो क्या रात को आप आराम की नींद सो सकते है? आपको फिकर बनी रहेगी, खटका होते ही मन मे खटका लग जायेगा? यदि बेफिकर होकर सो गये तो? चोर-डाकू बाबाजी की जात नही बना जायेंगे? इसी प्रकार जीवन मे पुण्य-पाप की कहानी है। पुण्य से पाप के रास्ते अधिक है, और उन रास्तो से पता नही किस समय चोर-चकोर आ धमकें? इसलिए आत्म-साधक को सदा सावधान रहने की आवश्यकता है, पाप से डरते रहने की अपेक्षा है। इसी बात की सूचना देने के लिए आचार्यों ने सद्गृहस्थ को 'पापभीरु' रहने का उपदेश दिया है।

☆☆

९

आचार और संस्कृति

आचार्य हेमचन्द्र अपने युग के जितने बडे आध्यात्मिक पुरुष थे, उतने ही बडे राष्ट्रीय पुरुष भी थे। उन्होंने जीवन के आध्यात्मिक एव सामाजिक दोनों पक्षों पर गम्भीर चिन्तन दिया है। दोनों पक्ष सबल, सशक्त एव सुन्दर बने रहे—इस विषय पर अनेक नियम एव उपदेश दिये है। उन्होंने कहा है—गृहस्थ के जीवन मे जितना आध्यात्मिक गौरव है, उतना ही राष्ट्रीय गौरव भी होना चाहिए। गृहस्थ राष्ट्र एव समाज से सम्बन्धित होता है इसलिए उसे अपने देश एव राष्ट्र की संस्कृति, आचार-विचार का भी यथाविधि पालन करना चाहिए। इस बात पर बल देते हुए मार्गानुसारी के पाँचवें सूत्र मे कहा है—प्रसिद्धं च देशाचारसमाचरन्—

गृहस्थ को अपने देश के प्रसिद्ध आचार का पालन करना चाहिए।

मनुष्य जिस भूमि मे जन्म लेता है, वह उसका देश होता है, उस देश के रीति-रिवाज, भाषा, संस्कार एवं धार्मिक अनुष्ठान—उसके आचार मे प्रारम्भ से ही घुले-मिले रहते हैं। वह जब इस योग्य होता है कि अपने देश की रीति-रिवाज, परम्परा, इतिहास, आचार-व्यवहार को समझ सके तब उसका यह कर्तव्य होता है कि वह उनका पालन करे। पूर्वजों ने हजारो वर्षों के ज्ञान, विज्ञान, अनुभव, चिन्तन के फलस्वरूप हमे जो आचार-विचार की महान् परम्परा प्राप्त हो रही है, वह बहुत बडी सम्पत्ति है। उसके संरक्षण, संवर्धन एव संचालन की जिम्मेदारी परम्परा से हमें मिली है। सामाजिक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपनी जिम्मेदारी को समझे और उसका पालन करे, यही संकेत उपर्युक्त सूत्र मे आचार्य ने दिया है।

वेश-भूषा राष्ट्र का प्रतीक

समाज में आचार-विचार के जो नियम प्रचलित होते हैं, संस्कृति की जो विभिन्न धाराएँ चलती रहती हैं उनमें कुछ मौलिक होती हैं और कुछ देश-काल के अनुसार बदलती रहती हैं। देश में समय-समय पर कुछ महापुरुष, युगपुरुष होते रहे हैं जो देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार समाज के आचार-नियम, विधि-विधान आदि का निर्माण तथा संशोधन-परिवर्तन आदि भी करते आये हैं। समाज को सुसंस्कारित एवं सुव्यवस्थित रखने के लिए प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह उन आचार-विचारों का, नियमों एवं विधि-विधानों का सम्मान करे, उन्हें आदर की दृष्टि से देखे और उनके अनुसार अपना जीवन व्यवहार बनाये।

जिस व्यक्ति में देश के प्रति प्रेम होता है, राष्ट्र के प्रति आदर एवं सम्मान की भावना होती है, अपने पूर्वजों के प्रति गौरव की दृष्टि होती है, वह अपने देशाचार का उल्लंघन नहीं करता। वह कहीं भी रहेगा तो अपनी संस्कृति की छाप रखेगा, अपने देश के गौरव को ऊँचा रखेगा और अपने आचार-नियमों का निर्भय होकर पालन करेगा।

स्वामी विवेकानन्द जब अमरीका में धर्म का प्रचार करने के लिए गये तो वहाँ के लोगों ने कहा—"आपने यह क्या वेष बना रखा है? एक ढीली-सी धोती और एक चादर? यहाँ इस वेष को देखकर लोग आपका मजाक करेंगे और कहेंगे—आपके भारत की यह क्या संस्कृति है?" लोगों की बात पर स्वामी जी ने हँसकर उत्तर दिया—"भाई! तुम्हारी और मेरी संस्कृति में अन्तर है। तुम्हारी संस्कृति का निर्माण तुम्हारे दर्जी करते हैं। कोट, पतलून पर से ही तुम्हारी संस्कृति का आविर्भाव होता है, किन्तु मेरे देश की संस्कृति का निर्माण आचरण चरित्र से होता है और उस चरित्र के अनुरूप ही यह मेरा वेष है, इसमें मजाक कैसा?"

वेश-भूषा मनुष्य के देशाचार का प्रमुख प्रतीक है। गांधी जी की वेश-भूषा क्या थी? जब हिन्दुस्तान के वायसराय से मिलने गये तब भी वे अपनी उसी धोती और तन पर लिपटी चादर के साथ गये, बड़े-बड़े अँग्रेजों से मिलते रहे, किन्तु कभी भी उन्होंने अपनी भारतीय वेश-भूषा का त्याग नहीं किया। क्योंकि उन्होंने अपनी वेश-भूषा को भारतीय संस्कृति का प्रतीक मान लिया था और अपनी संस्कृति का सम्मान करना यह उनके जीवन का व्रत था। आज भी आपकी पगड़ी देखकर कोई भी कह उठता—यह मारवाड़ी है,

तुर्रेवाली टोपी देखकर कोई भी पहचान लेगा कि यह मुसलमान है। तो यह अपने देश के आचार-विचार का प्रतीक है—वेष! बाहर के वातावरण से प्रभावित होकर अपनी वेषभूषा मे परिवर्तन करने का अर्थ है, आपको अपने देशाचार के प्रति न प्रेम है, न सम्मान है।

मारवाड़ मे महाराज तखतसिंह जी के पुत्र सर प्रतापसिंह जी हुए हैं। ये अंग्रेजो के दाएँ हाथ गिने जाते थे। 'पोलो' के नामी खिलाडी भी थे। अंग्रेजों के प्रभाव मे आकर उन्होंने अपना राजपूती वेष बदल दिया। दाढी मूँछें साफ करवा दी, और पैंट-कोट-टोप धार लिया। उनकी यह वेष-विडम्बना राजस्थान के प्रसिद्ध चारण कवि ऊमरदास जी से नही देखी गई। उन्होने सर प्रतापसिंह जी के सामने उपस्थित होकर उनको ललकारा—

दाढ़ी मूँछ मुंडाय के, सिर पर धरियो टोप।
परताप सी तखतेसरा, थारै बाकी घटै लंगोट॥

मैं इस बात का पक्षपाती नही हूं कि देशकाल के अनुसार वेष-भूषा मे परिवर्तन नही किया जाय? आज भी आप बीस गज की 'पाग' बांधे या बहनें वही एक-एक थान भर के घाघरे पहनकर घूमे—यह मेरा आशय नहीं है। मनुष्य सुविधावादी है, और सुधारवादी भी! सुविधा के अनुसार सुधार भी किया जाता है, पर जिस सुविधा के साथ सस्कृति का लोप हो जाये, जिस सुधार मे देशाचार का नामोनिशान भी न रहे—वह सुविधा और सुधार किस काम का?

आज मैं देखता हूं वेष-भूषा ने फैशन का रूप ले लिया है। किसी जमाने में वस्त्र का उपयोग शरीर ढांकने के लिए होता था। जमाना बदला, मनुष्यों की रुचि बदली, वस्त्र का उपयोग शरीर को सजाने के लिए होने लगा, और आज तो यह भी बदल गया है, आज वस्त्र का उपयोग शरीर को अधिक से अधिक उघारने के लिए किया जाता है ताकि दूसरो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित हो सके। आज वस्त्र का अस्त्र के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। एक अखबार मे पढा था। कही दावत हो रही थी। एक वृद्ध पुरुष ने किसी सुन्दर चपल बालिका को वहाँ देखा, भोली-भाली सूरत पर उसे बड़ा प्यार आया, उसने बालिका से पूछा—"बेबी तुम्हारा क्या नाम है?"

तभी पास में खड़े एक पुरुष वेष में से आवाज आई—"जी! यह लड़का है!"

"ओह! सॉरी! बड़ा प्यारा है। आप इसके डैडी हैं?"

"जी ! नहीं ! मैं तो उसकी मम्मी हूँ ।"

पुरुष वेष में भद्रमहिला को देखकर बिचारा दर्शक चौंककर कुछ सहम गया, और क्षमा मांगी ।

आज वेष-भूषा में यह फैशन चल रहा है, स्त्री पुरुष का वेष बनाती है, और यह जमाना भी आ रहा है कि पुरुष स्त्रियों की तरह वेष-भूषा बनाकर लोगों को चौंकायेंगे ।

इस प्रकार फैशन समाज-मर्यादा का अतिक्रमण कर रहा है । इससे देश, समाज एवं जाति को लाभ नहीं, हानि ही होने की सम्भावना है । वेष-भूषा वही उपयुक्त होती है, जिसमें व्यक्ति का सही व्यक्तित्व प्रकट हो, और उसमें से देश एवं राष्ट्र की झलकती हो ।

स्वदेश गौरव

वेश-भूषा के साथ-साथ मनुष्य के भीतर अपने देश की धरती का गौरव भी होना चाहिए । राष्ट्रकवि मैथिलीशरण ने कहा है—

> जिसको न अपनी जाति का और देश का अभिमान है,
> वह नर नहीं है, पशु निरा और मृतक समान है ।

व्यक्ति राष्ट्र का प्रतीक होता है । वह जहां भी जाय, उसकी संस्कृति और देश का गौरव उसके साथ रहना चाहिए । ऐसा न हो कि उसकी कृतियों से देश की संस्कृति को लज्जित होना पड़े—एक का दोष देश के सिर पर काला टीका बन जाये । उसके हर आचार-व्यवहार में अपनी संस्कृति का गौरव, अपने देश का प्रेम और मातृभूमि का सम्मान प्रकट होना चाहिए । कुछ दिन पहले मैंने अखबार में पढ़ा था । जापान का एक व्यक्ति हिन्दुस्तान में आया । वह एक [illegible] हो गयी । [illegible] लिख रहा था, [illegible] उसकी पेंसिल गुम हो गयी । उसके पास में बैठे एक हिन्दुस्तानी भाई ने उसे पेंसिल दी । उस पेंसिल को [illegible] 'मेड इन इण्डिया' लिखा हुआ था । विदेशी ने वह पेंसिल उसे धन्यवाद देकर लौटा दी, और कहा कि 'मुझे अपने देश की बनी हुई पेंसिल ही चाहिए ।'

एक ओर विदेशी लोगों की यह वृत्ति है कि वे अपने देश में बनी हुई चीज का ही उपयोग करना चाहते हैं । दूसरी ओर हम लोग हैं, बाजार में सामान खरीदने जाते हैं, पहले क्या देखते हैं? [illegible] 'मेड इन [illegible]' है या नहीं [illegible] अपने देश की बनी चीज [illegible] अमरीका, जर्मनी, जापान और इंग्लैण्ड की बनी पसन्द आती है ।

हुई चीज ! मैं विदेशी वस्तु का सर्वथा बहिष्कार करने की वकालत नहीं कर रहा हूँ, पर आप लोगो की यह मनोवृत्ति बतला रहा हूँ कि आपके मन मे अपने देश की अपेक्षा, विदेशी वस्तु के प्रति अधिक प्रेम है। इसका अर्थ है आपकी नजरो मे अपने देश की इज्जत कम है ? अपने देश का गौरव आपके मन मे नही है।

राष्ट्रभाषा का प्रेम

देशी वस्तुओ की भाँति, देश की भाषा का भी आपके मन मे प्रेम एव गौरव होना चाहिए। भाषा, मनुष्य की सांस्कृतिक धरोहर है। वह धर्म एव संस्कृति की संवाहक होती है। उसके शब्दो मे, उसकी ध्वनियो मे देश की संस्कृति छिपी रहती है। 'संस्कृत' को 'देव भाषा' कहा गया है। संस्कृत, प्राकृत, पालि आदि भाषाओ मे इस देश की संस्कृति, सभ्यता एव आचार-विचार के प्राणतत्त्व भरे हुए हैं। मैक्समूलर, हर्मन याकोबी जैसे सैकडो विदेशी विद्वानो ने जीवन भर लगकर संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के साहित्य का अध्ययन किया है। प्राकृत एव संस्कृत मे शब्दो का विशाल भण्डार भरा है, और प्रत्येक शब्द मे नई अर्थ चेतना भरी हुई है। वहाँ अनेकार्थ—अर्थात् एक ही शब्द में अनेक अर्थ छिपे रहते है, और एक ही अर्थ के द्योतक सैकडो सार्थक शब्द मिलते हैं। कहा जाता है कि 'राजा नो ददते सौख्यम्' इस एक पद के एक जैन आचार्य ने आठ हजार अर्थ किये। और प्रत्येक अर्थ मे से एक नया भाव प्रकट किया। किसी व्यक्ति से तीन प्रार्थियो ने अलग-अलग प्रार्थना की। एक ने कहा—'गाना सुनाओ!' दूसरे ने कहा—'पानी पिलाओ!' तीसरे ने कहा—'चलो शिकार खेलें।' उस व्यक्ति ने उत्तर दिया— 'सरो नत्थि' और तीनों ने अपना-अपना भाव ग्रहण कर लिया। पहले ने समझा—'स्वर नहीं है, तो गाना कैसे गायें ?' दूसरे ने समझा—'तालाब (सर) नही है, तो पानी कहाँ से आये ?' तीसरे ने समझा—'शर (बाण) नही है, फिर शिकार कैसे खेलें ?' तो यह इस भाषा की विशेषता है कि इसमे एक ही शब्द से अनेक अर्थ किये जा सकते हैं। विभिन्न प्रकार के प्रत्यय एव उपसर्ग लगाने से एक ही धातु के भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्द और अर्थ भी संस्कृत की अपनी विशेषता है। उदाहरण के लिए देखिए— एक ही दृश् धातु से कितने शब्द बनते हैं—दृश्, द्रष्टा, दृष्टि, द्रष्टव्य, दर्शन, दर्शक, दर्शन, दर्शयिता, दर्शनीय, दृश्य, अदृश्य, दुर्दर्श, आदि—वैसे ही 'हृ' धातु है इसके साथ विभिन्न उपसर्ग लगने से अनेक प्रकार के अर्थ निकलते हैं— 'हार' शब्द के साथ 'प्र' उपसर्ग लगने से 'प्रहार' बन गया, वैसे ही आहार, विहार, संहार, नीहार, परिहार, उपहार, अल्पाहार आदि।

इसके साथ एक बात और बता दूँ कि शब्दों में 'अर्थ चेतना' भी संस्कृत भाषा की अपनी अद्भुतता है। एक अर्थ के अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं, पर यह नहीं कि वे यों ही निरर्थक भर दिये हों, हर एक पर्यायवाची शब्द में एक नये अर्थ की ध्वनि छिपी रहती है जो उसकी विशेषता को प्रकट करती है। जैसे मनुष्य के पर्यायवाची शब्द हैं—

जन—जिसमें प्रजनन की क्षमता हो।

लोक—जिसमें देखने की विशिष्ट शक्ति हो।

पुरुष—शरीर रूपी पुरी में निवास करने वाला।

मनुष्य—मन से मनन करने वाला अर्थात् मननशील।

नर—न रमते—नर.—जो भोगों में रमे नहीं वह नर।

ये सब निरुक्त हैं, अर्थात् इनमें प्रत्येक शब्द में एक भिन्न भाव की ध्वनि आती है। एक बार मैं निरुक्त में 'सर्प' शब्द की व्युत्पत्ति देख रहा था, वहाँ सर्प के पर्यायवाची शब्द और उनके अर्थ देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि प्रत्येक पर्यायवाची शब्द में सर्प जाति की एक-न-एक विशेषता छिपी है—सर्प का अर्थ है सरकने वाला, अब देखिए वह जितने ढंग से चलता है वे सब अर्थ उसके पर्यायवाची शब्दों में आ गये—उरग (छाती के बल चलने वाला), पन्नग (पद-पद चलने वाला), जिह्मग (टेढ़ा होकर चलने वाला), गूढपाद (छिपे हुए पैरों वाला), दीर्घपृष्ठ (लम्बी पीठ वाला), बिलेशय (बिल में सोने वाला), दंदशूक (डसने वाला), पवनाशन (हवा का आहार करने वाला), द्विजिह्व (दो जीभ वाला)—इस प्रकार शब्दों में अर्थ का चमत्कार और विपुल शब्द भंडार संस्कृत भाषा की अपनी विशेषता है। यह विशेषता अन्य भाषाओं में कहाँ? संस्कृत के प्रति आज आपकी भयंकर उपेक्षा हो रही है। खैर, वह कठिन भाषा है, पर हिन्दी तो आज देश की राष्ट्रभाषा है, वह बहुत सरल भी है, पर मैं पूछना हूँ कि क्या आपके मन में अपनी राष्ट्रभाषा के प्रति भी आदर है, प्रेम है? यदि है तो आप अपने बच्चों को घर में 'बापूजी' या 'पिताजी' के स्थान पर 'पापा' या 'डैडी' कहना क्यों सिखाते हैं? बच्चा 'माँ' नहीं बोलकर 'मम्मी' बोलना क्यों सीखता है? और 'बहन' की जगह 'सिस्टर', भाई साहब की जगह 'ब्रदर' और 'श्रीमानजी' के स्थान पर 'मिस्टर' इन शब्दों का उच्चारण क्यों किया जाता है? क्या आपकी भाषा में कोई सुन्दर शब्द नहीं है, या उनमें कोई भाव प्रकट करने की क्षमता नहीं है? जो वात्सल्य का भाव 'माँ' शब्द से ध्वनित होता है, वह 'मम्मी' में कहाँ? 'बहन' शब्द में जो स्नेह की पवित्र धारा बह रही है, 'सिस्टर' शब्द से उस स्नेह की अनुभूति कहाँ होती है? फिर विदेशी भाषा का मोह क्यों? इसके गीत गाये जाते हैं—

(१) स्वभाषा के प्रेम का अभाव,
(२) स्वभाषा के ज्ञान की कमी,
(३) अधानुकरण की वृत्ति !

सद्गृहस्थ को इन तीनो कारणो को दूर करना चाहिए। अपनी सस्कृति एव राष्ट्र की भाषा के प्रति प्रेम एव आदर होना चाहिए। दूसरी भाषा का ज्ञान प्राप्त करने से पहले अपनी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और अधानुकरण—देखा-देखी की भावना नही होनी चाहिए। तथ्य को समझना चाहिए कि वास्तव मे उचित क्या है ? दूसरा अग्रेजी मे बोल रहा है तो क्या आप भी अपनी मातृभाषा को छोडकर उसकी भाषा की नकल करने लग जायँ ? नकल करना बुद्धिमानी नही है, मुझे आश्चर्य तो यह होता है कि बडे-बडे विदेशी विश्वविद्यालयो मे सस्कृत के विद्वान तैयार हो रहे हैं। यहाँ भारत मे सस्कृत के प्रति घोर उपेक्षा एव अनादर की भावना फैल रही है। यह अपनी संस्कृति की, अपने प्रसिद्ध देशाचार की अवहेलना है जो किसी भी सद्-गृहस्थ के लिए अनुपयुक्त है।

आदर्श चरित्र

वेषभूषा और भाषा के बाद व्यक्ति की राष्ट्रीयता का परिचायक तत्त्व है—चरित्र। वैसे चरित्र सब गुणो मे सर्वोपरि है, किन्तु चरित्र का परिचय व्यक्ति के सम्पर्क से होता है, जबकि वेषभूषा दर्शनमात्र से व्यक्ति का परिचय दे देती है, बातचीत मे भी उसके देशकाल का पता चल जाता है।

भारतवासियो की चारित्रिक महानता के सम्बन्ध मे एक श्लोक प्रसिद्ध है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्वं-स्व चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्या सर्व मानवाः ॥

इस देश के अग्रजन्मा-ज्ञानियो के चरित्र से पृथ्वी के समस्त मानव अपने-अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें। शिक्षा उसी से ली जाती है जो आदर्श होता है, अपने से महान् होता है। भारतवर्ष महान् पुरुषों की, महामानवों की जन्मभूमि भी रही है और कर्मभूमि भी। यहाँ अत्यन्त प्राचीनकाल में भगवान आदिनाथ ने मनुष्यों को जीवन की कला सिखाई थी, चक्रवर्ती भरत ने भोग में भी योग की जीवन-दृष्टि दी थी। लाखों करोड़ों युग बीत जाने के बाद भी भरत का अनासक्ति योग, छह खण्ड की साम्राज्य लक्ष्मी का उपभोग करते हुए भी उससे निर्लिप्त रहना और शीशमहल में बैठे-बैठे कैवल्य प्राप्त करना—हमारे लिए जीवन-दिशा स्पष्ट करने वाले बेजोड़ उदाहरण हैं।

राम युग का आदर्श

भारतवासियों के चारित्रिक आदर्श के लिए रामयुग एक आदर्श माना जाता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम इस देश के चरित्र की सर्वोत्तम प्रतिमूर्ति माने जाते हैं। वाल्मीकि रामायण का प्रारम्भ ही एक आदर्श चरित्र की व्याख्या के रूप में हुआ है। रामायण के प्रारम्भ में महर्षि नारद वाल्मीकि से प्रश्न करते है—

> कोन्वस्मिन् साम्प्रत लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ।
> धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रत ॥
> चारित्रेण च को युक्त सर्वभूतेषु को हित ।
> विद्वान् क[illegible] क समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शन ?
> आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयक ?
> कस्य बिभ्यति देवाश्च जातक्रोधस्य संयुगे ?[1]

इस समय लोक मे कौन ऐसा गुणवान् एव वीर्यवान् है, कौन धर्मवेत्ता, कृतज्ञ, सत्यभाषी, दृढप्रतिज्ञ, शुद्ध एव पवित्र आचार वाला, सब प्राणियों के हित मे सलग्न, विद्यावान्, समर्थ, प्रियदर्शन, इन्द्रियों को वश मे रखने वाला, क्रोध पर विजय प्राप्त करने वाला, तेजस्वी और दूसरों के प्रति ईर्ष्या नही रखने वाला है ? कौन ऐसा है जिसके अन्याय पर क्रोध किये जाने पर देवता भी कांपने लग जाते है ?

नारद के प्रश्न पर वाल्मीकि उत्तर देते है—

"इक्ष्वाकुवंश प्रभवो रामो नाम जनै श्रुत"

इक्ष्वाकु वंश मे जन्मे हुए विश्व मे सर्वत्र प्रसिद्ध राम ही एक ऐसे व्यक्ति है जिनमे ये सब गुण अपनी सम्पूर्ण छटा के साथ विकसित हुए है ?

रामायण सुनने एव पढ़ने वाले व्यक्ति जानते है कि राम के जीवन मे आरम्भ से इन आदर्श गुणो का किस प्रकार विकास हुआ है। किस प्रकार वे समय-समय पर अपनी मर्यादा एव सदाचार के पालन के लिये सजग रहते है। पिता के वचन का पालन करने के लिए वे राज्याभिषेक का त्याग करके वन-गमन स्वीकार कर लेते है। राज्यसत्ता, धन-वैभव एव जीवन से गुणो को भी अधिक मूल्यवान है इसे सिद्ध किया [illegible]। वे कहते है—

१ वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड १।२-४

अहं हि वचनाद् राज्ञ पतेयमपि पावके[1]

पिताजी की आज्ञा हो तो मैं अग्नि में छलांग लगाने को भी तैयार हूँ।

माता के प्रति राम की भक्ति सहज बात हो सकती है, किन्तु वही आदर और भक्ति विमाता के प्रति, जो कि उनसे राजसिंहासन छीनकर वनवास भेजने का षड्यन्त्र कर रही है—कितनी बड़ी समदृष्टि एवं उदारता है?

दंडकारण्य में जहाँ सूर्पणखा राम के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर षोडशी सुन्दरी का रूप धारण करके उनके पास कामयाचना कर रही है, इतनी विकलता दिखला रही है, उस समय पर एकान्त जंगल, एकाकी सुन्दरी और अत्यन्त आग्रह आदि पतन के अनुकूल साधन होने पर भी राम की सदाचार-निष्ठा वास्तव में ही उनकी धीरता की महान् कसौटी है।

राम का एकपत्नीव्रत उस युग में, जबकि सैंकड़ों-हजारों रानियों से अन्तःपुर भरे रहते थे—एक अपूर्व आदर्श है।

जिस सीता के लिए राम व्यग्र होकर वन-वन भटके, रावण के साथ भयंकर युद्ध किया, उस सीता को भी लोकनिन्दा के भय से, कुल के गौरव पर कलंक न लगे—इस कारण छाती पर पत्थर रखकर सीता को भी छोड़ देना राम की मर्यादा-पालकता का सजीव चित्रण है।

राम के साथ-साथ लक्ष्मण एवं सीता का भी आदर्श कम नहीं है। राम को तो पिता की आज्ञा से वन जाना पड़ा, किन्तु लक्ष्मण के लिए कौन-सा कारण था कि वे भी चौदह वर्ष तक वन-वन की खाक छानते रहे? गहराई से सोचेंगे तो राम का स्नेह ही एक कारण था जो शौर्यमूर्ति लक्ष्मण को भी भाई के साथ जंगलों में भटकाता रहा। क्या यह भ्रातृ-स्नेह का बेजोड़ आदर्श नहीं है?

और देखिए—सुकुमारी सीता, जिसने कभी मखमल की शैया से नीचे पाँव नहीं रखे, वन गमन के समय कहती है—"अग्रे-अग्रे गमिष्यामि चिन्वति कुश-कण्टकान्"—मैं मार्ग के काँटे एवं कंकड़ों को हटाती हुई आपके आगे-आगे चलूँगी।

राम का आदर्श एक व्यक्ति-विशेष का आदर्श नहीं, किन्तु उस युग की मानव-जाति का आदर्श था। कालिदास ने रघुवंशी राजाओं की चर्चा करते हुए रघुवंश के प्रारम्भ में कुछ सुन्दर श्लोक कहे हैं; उनमें कहा है—

---

१ वाल्मीकि रामायण अयोध्या० १८।२८

"सोऽहमाजन्म शुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्"[1]

वे राजा लोग जीवन भर अपने पवित्र आचार के पालन में शुद्ध रहते थे तथा सफलता प्राप्त करने तक कार्य में जुटे रहते थे। जीवन भर वे धर्म, अर्थ एवं काम की साधना करने के पश्चात् जीवन के सान्ध्यकाल में निवृत्ति मार्ग अपनाते थे और—'योगेनान्ते तनुत्यजाम्'—अंत में योग साधना के साथ देह-त्याग करते थे। आज हम देखते हैं रघुवंशियों की संतान कहलाने वाले—'योगेनान्ते' के स्थान पर 'रोगेनान्ते तनुत्यजाम्' रोग-शय्या पर पड़े-पड़े देह छोड़ने की उक्ति चरितार्थ कर रहे हैं।

महाभारत के उज्ज्वल चरित्र

रामायण एवं महाभारत में—भारत देश के उज्ज्वल आदर्शों की एक सजीव और बहुरंगी कहानी छिपी हुई है। भीष्म का आदर्श—एक दृष्टि से राम के आदर्श से भी बढ़ा-चढ़ा है। राम ने पिता के वचन-पालन के लिए अपने राज सिंहासन का त्याग किया, किन्तु भीष्म ने अपने पिता शांतनु की इच्छा-पूर्ति के लिए मछुए की कन्या की मांग की, और उसके लिए अपने जीवन के सम्पूर्ण भोगों का बलिदान करके—आजन्म ब्रह्मचारी रहने की भीष्मप्रतिज्ञा धारण करली। पिता के लिए इतना बड़ा त्याग—आज के पुत्रों के लिए एक नसीहत है, और उन पुत्रों के लिए, जो अनपढ़ माँ-बाप को, बैल और गधे की उपमा देते हैं, उन्हें बुढ़ापे में दाने-दाने के लिए तरसाते हैं, सुना यहाँ तक है कि—इन्हें वे पूजा भी करते हैं?

कौरवों ने अपने भाई पाण्डवों के साथ हमेशा ही छल, प्रपंच, धोखा और घृणा का व्यवहार किया, किन्तु युधिष्ठिर ने हमेशा उन्हें अपना भाई समझा। एक बार जब दुर्योधन पाण्डवों को द्वैतवन में अकेला जानकर अपनी सेना लेकर मारने को जाता है और वहाँ पाण्डवों के मित्र चित्ररथ गन्धर्व के द्वारा वह बंदी बना लिया जाता है। यह खबर पाकर भीम, अर्जुन आदि प्रसन्न होते हैं, किन्तु युधिष्ठिर दुर्योधन को मुक्त करने के लिए उन्हें कहते हैं कि "दुर्योधन आखिर हमारा भाई है, हम घर में चाहे जैसे झगड़ें, किन्तु जब दूसरों से काम पड़ता है तो हमें एक होना चाहिए। घर में हम पाँच हैं, वे सौ हैं, किन्तु बाहर में हम सभी एक सौ पाँच हैं।" युधिष्ठिर की यह नीति परिवार, समाज एवं राष्ट्र की रक्षा के लिए कितना सुदृढ़ आधार है? यदि हम नीति को

---

१ रघुवंश १।५

राष्ट्रीयनीति के रूप में आज प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक राजनीतिक दल अपनावे तो क्या कोई शक्ति है जो भारत की ओर आँख उठाकर देख सके।

नारी का आदर्श

प्राचीन काल में पुरुषों के आदर्श के साथ-साथ नारी का आदर्श भी एक उच्चस्तर पर पहुँचा हुआ है। द्रौपदी महाभारत युग की सर्वाधिक प्रभावशालिनी नारी थी। उसका चरित्र नारी एवं माता दोनों दृष्टियों से आदर्श था। वनपर्व में[1] एक स्थान पर आता है कि सत्यभामा ने एक बार द्रौपदी से पूछा—"बहन! तुम पाँच पाण्डवों को सदा प्रसन्न रखती हो! वे तुम्हारे लिए जी-जान देने के लिए भी तैयार हैं, जबकि मैं एक कृष्ण को भी प्रसन्न नहीं कर सकती, तो मुझे भी कोई ऐसा व्रत, तप, मन्त्र, तन्त्र औषधि बताओ कि श्री कृष्ण मेरे वश में हो सकें।"

द्रौपदी ने हँसकर कहा—"बहन! पति को वश में करने के ये उपाय ठीक नहीं हैं। पति तो सेवा और सदाचार से ही नारी के वश में रहता है। मैं पांडवों की ही नहीं, उनकी अन्य स्त्रियों की भी सेवा करती हूँ, अपनी इच्छा का दमन करके उनकी इच्छा के अनुकूल चलती हूँ, कभी कटु एवं असभ्य भाषा नहीं बोलती, निर्लज्ज की तरह इधर-उधर दृष्टि नहीं दौड़ाती, मन, वचन एवं कर्म से पाण्डवों के सिवाय किसी देव, गंधर्व एवं मनुष्य को स्वप्न में भी नहीं चाहती, उनके खाने के बाद खाना खाती हूँ, उनके सोने के बाद सोती हूँ, प्रतिक्षण उनकी सेवा, सत्कार का ध्यान रखती हूँ, इसी कारण पाण्डव मुझ पर प्रसन्न रहते हैं।"

बंधुओ! द्रौपदी क्या, कोई भी गृहिणी इस प्रकार का आचार-व्यवहार रखेगी तो पत्थर-हृदय पुरुष भी उस पर प्रसन्न रहेगा, उसके स्नेह सूत्र में बँधा रहेगा और गृहस्थ-जीवन को सुखपूर्वक यापन कर सकेगा।

शिवाजी की सच्चरित्रता

तो यह है, भारत के प्रसिद्ध स्त्री-पुरुषों का आचार-विचार। ऐसा नहीं है कि केवल प्राचीन समय में ही इस प्रकार के महामानव हो चुके हैं, अथवा उस युग में ही इस प्रकार का आचार-विचार रहा हो। आचार-विचार के ये आदर्श तो शाश्वत हैं, और प्रत्येक युग एवं परिस्थितियों में इनका पालन होता रहा है। अर्वाचीन युग में ऐसे सैकड़ों-हजारों उदाहरण हुए हैं जिन्होंने अपने देश के

---

१ महा० वनपर्व २३३।१६-२५

गौरवभूत, धर्म, सदाचार, स्वाभिमान, स्वराष्ट्र एवं स्वभाषा प्रेम के लिए अपना मूल्यवान जीवन निछावर कर दिया है। महाराणा प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह, गुरु तेगबहादुर, वीरवर दुर्गादास राठौर, महात्मा गांधी आदि सैकड़ों ऐसे व्यक्तियों के जीवन-आदर्श आपके समक्ष हैं जो अपने देशाचार के पालन एवं देश-गौरव की जीवन कहानी कह रहे हैं। शिवाजी के सम्बन्ध में कहा जाता है—

राखी तू सिर दे शिवा ! दलित हिंद की लाज।
निरवलंब हिन्दून को, तू ही भयो जहाज।

डूबती हुई हिन्दू जाति और मिटती हुई आर्यसंस्कृति की रक्षा करके शिवाजी ने जहाज का काम किया है। उन शिवाजी के नाम से आज भी सैनिकों के रक्त में स्वदेश-प्रेम का उफान आ जाता है। उनका जीवन कितना भक्ति प्रधान और सदाचारी था। उन्होंने अपना विशाल साम्राज्य समर्थ गुरु रामदास के चरणों में अर्पित कर स्वयं उनके संचालक बनकर रहे थे। जहाँ छोटी-सी भूमि का भी स्वामित्व नहीं छोड़ा जा सकता वहाँ इतने बड़े साम्राज्य का स्वामित्व गुरु के चरणों में समर्पित कर स्वयं मात्र उनके आज्ञा निर्वाहक बनकर रहना—उनके जीवन की विलक्षण निस्पृहता सूचित करती है। शिवाजी जितने बड़े वीर योद्धा थे, उतने ही बड़े सदाचारी सत्पुरुष भी थे। एक बार सैनिकों ने एक मुसलमान सुन्दरी को बंदी बनाकर उनके समक्ष उपस्थित किया और सोचा स्वामी सुन्दरी का उपहार पाकर प्रसन्न होंगे। किन्तु शिवाजी ने क्या कहा ? शाबाश की जगह फटकार बताई, और कहा—"बेवकूफो ! तुमने अभी तक शिवा को समझा नहीं ! शिवा के हृदय में शैतान नहीं, भगवान है। वह पर नारी को माँ-बहन और बेटी समझता है।" और फिर उस सुन्दरी के पास आकर क्षमा माँगकर कहा—"माता ! मैं आपके उदर से जन्म लेता तो कितना सुन्दर होता ? इन मूर्ख सैनिकों ने आपको कष्ट दिया, बंदी बनाया, पर अब मैं आपको बहन बनाकर लौटा रहा हूँ।"

भाइयो ! यह है हमारे देशाचार का गौरव ! जिन्होंने देश को नेतृत्व दिया संस्कृति की रक्षा की—उनका चरित्र कितना ऊँचा और हृदय कितना महान है ? संस्कृति के आधार पर भले ही एक जाति को उन्होंने शत्रु माना, पर शत्रु की बहू बेटी को उन्होंने सदा माँ-बहन की पवित्र दृष्टि से देखा। क्या आज हमारे राष्ट्रीय जीवन में यह गौरव है ? यदि नहीं है तो हमारे देश के इस गौरवाचार की रक्षा करना आपका प्रथम कर्तव्य है ?

गुरु तेगबहादुर : चोटी का सौदा

गुरु तेगबहादुर की धर्मनिष्ठा—इस अर्वाचीन युग का अपूर्व उदाहरण है। बादशाह औरंगजेब जो कट्टर मुसलमान था, और समूचे हिन्दुस्तान को मुसलमान बनाने का स्वप्न देख रहा था। लाखों-करोड़ों हिन्दुओं को आसानी से मुसलमान बनाने का एक तरीका उसने सोचा—गुरु तेगबहादुर को मुसलमान बना लिया जाय! बादशाह ने उनसे माँग की—"आप अपनी चोटी हमें दे दीजिए और बदले में पूरा पंजाब का सूबा ले लीजिए।" चोटी देने का मतलब था हिन्दू से मुसलमान बन जाना! उन्होंने बादशाह की माँग का मुँहतोड़ उत्तर दिया—"तेगबहादुर चोटी से रोटी का सौदा नहीं कर सकता, सिर दे सकता है, शिखा (चोटी) नहीं, हमें मौत मंजूर है, पर धर्म छोड़ना मंजूर नहीं।" और आप जानते हैं, क्रूर सम्राट् ने कितनी क्रूरता के साथ उनकी जान ली, पर आन नहीं ले सका। उनके लिए कहा गया है—

तेगबहादुर जो किया, किया कौन मुरशीद।
सर दिया, सार न दिया सांचो अमर शहीद!

भीत में चुन दिये

गुरु गोविन्दसिंह को धर्म छोड़ने के लिए किस प्रकार मजबूर किया गया—यह भी बड़ी रोमांचक घटना है। जलता हुआ लाल तवा उनके सामने रखकर कहा गया—'या तो धर्म छोड़ो या इस गर्म तवे पर बिठा दिये जाओगे।" तवे पर बिठाये गये, हाथ-पाँव रोटी की तरह सिक गये, परन्तु फिर भी उन्होंने अपना धर्म नहीं छोड़ा? और आपने यह भी सुना है कि गुरु के दो बालकों को, दुधमुँहे बच्चों को कितनी निर्दयता से जीवित ही दीवाल में चुन दिया गया, इसलिए कि किसी भी प्रकार के भय के समक्ष वे झुके नहीं, धर्म छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुए। साहसी बालक जोरावर सिंह और फतहसिंह, जिन्हें गुरु गोविन्दसिंह ने एक रसोइये के भरोसे छोड़ा था, बादशाह ने उन्हें अपने कब्जे में ले लिया। सब प्रकार की सहूलियतें देने का प्रलोभन दिया, मौत का भय दिखाया, पर जब वे धर्म से टस से मस नहीं हुए तो क्रूर हाथों ने उन्हें दीवाल में ईंटों के साथ चुन दिया।

साथ रहे या ना रहे, तजे न सत्य अकाल।
बहुत बहुत ही चुनि गये, धनि गुरु गोविन्द लाल।

इतिहास की ये घटनाएँ केवल मनोरंजन और भावना को स्पर्श करने

मात्र के लिए मैं नहीं सुना रहा हूँ। किन्तु उनके भीतर सदाचार, धर्मनिष्ठा, साहस तथा शौर्य की जो उछाल है, उससे जीवन-प्रवाह को गति देने के लिए ही मैं आपके सामने इतिहास को उलट रहा हूँ। उनसे प्रेरणा लीजिए और अपने देश एवं जाति के गौरव का अनुभव कीजिये।

सदाचारी दुर्गादास

इतिहास की बात चल पड़ी है और अनेक घटनाएँ मेरे समक्ष स्फुरित हो रही हैं। मैं संक्षिप्त करने का भी प्रयत्न कर रहा हूँ, अब आपके मारवाड़ की ही एक उज्ज्वल घटना की चर्चा आपके समक्ष और कर दूँ। वीर दुर्गादास राठौर के नाम से शायद मारवाड़ का बच्चा-बच्चा परिचित होगा? देश-भक्ति का राजपूती रक्त उसकी नसों में दौड़ रहा था, पर मैं कहता हूँ उससे भी बड़ी बात थी, वह एक महान चरित्रसंपन्न व्यक्ति था। सच्चरित्र-सदाचार ही वास्तव में दुर्गादास का गौरव है और मारवाड़ का यशतिलक है। जब औरंगजेब ने उसे जेल के सींकचों में बन्द कर दिया था, और आगरा के किले में कड़े पहरे में उसे रखा गया था, तब उसके जीवन में एक अग्निपरीक्षा का समय आया, और उसमें दुर्गादास शतप्रतिशत सफल रहा। आचार्य श्री जवाहरलाल जी बीकानेर दुर्गादास के जीवन की इस घटना का बड़ा रोमांचक वर्णन करते थे। दुर्गादास की सुन्दरता पर औरंगजेब की सुन्दरी बेगम गुलनार मुग्ध हो गयी थी। वह रात के समय शृङ्गार सजकर अपने पुत्र कामबख्श को लेकर जेलखाने में पहुँचती है, जहाँ दुर्गादास बन्द थे। लड़के को बाहर खड़ा किया, जेलर (सिपहसालार) को दूर हट जाने को कहा और स्वयं भीतर गयी। दुर्गादास से उसने कहा—"तुम्हें क्या चाहिए? आगरे का तख्त? हिन्दुस्तान की बादशाही? या मौत? यदि तुम मुझसे इश्क करो, तो मैं बादशाह को मौत के घाट उतारकर यह तख्त तुम्हें बख्श सकती हूँ वरना तुम्हारे गले में मौत का फन्दा डाला जायेगा।"

दुर्गादास ने सिर झुका कर कहा—"बेगम! हिन्दुस्तान में राजा, गुरु और बड़े भाई की पत्नी माँ के बराबर समझी जाती है, मेरी नजरों में तुम माँ के दर्जे पर हो, तुम्हारे मुँह से ऐसी बात अच्छी नहीं लगती, मुझे माफ करो।'

बेगम ने गुस्से से कहा—"तुम हिन्दू लोग निरे बेवकूफ हो! मालूम है बेगम गुलनार के हाथ में आज हिन्दुस्तान के भाग्य की डोर है और तुम्हारे प्रेम की प्यासी है, अगर इसे ठुकरा रहे हो, इसका क्या अंजाम होगा?"

दुर्गादास ने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा—"अंजाम और क्या आ रहा है? जो भी होगा मैं तैयार हूँ, पर यह पाप नहीं कर सकता।"

बेगम के तरह-तरह के भय और प्रलोभनो से भी जब दुर्गादास नहीं पिघला तो वह मारे क्रोध के होठ काटती हुई चली गई। जेलर, जो एक ओर खड़ा यह सब घटना-चक्र देख रहा था, आया और दुर्गादास के चरणो मे गिर पड़ा—"दुर्गादास! तुम इन्सान नही, भगवान हो! मैं तुम्हे जेल मे नही रख सकता।"

दुर्गादास ने कहा—"ऐसा कैसे कह रहे हो? बादशाह को मालूम हुआ तो वह मेरी जगह तुम्हे नही बैठा देगा?"

जेलर ने आवेश के साथ कहा—"नही! जेल शैतान के लिए है, भगवान के लिए नही! तुम इन्सान के रूप मे भगवान हो, तुम्हारे जैसा महान आदमी जेल मे रहने लायक नही है।"

दुर्गादास रातोरात जेल से मुक्त कर दिया गया। तो यह दुर्गादास का महान चरित्र था, जो कैदखाने मे बन्दी पड़ा है, रूपसी बेगम उसके प्रेम के बदले शाही तख्त पर बैठाने का लालच दे रही है, और प्रेम को ठुकराने पर मौत का भय दिखा रही है, तब भी वह उसे 'माँ' के रूप मे देख रहा है। इसी सदाचार के तेज से उसका जीवन सदा तेजस्वी और शौर्यमय रहा है, इसी बात पर वे मारवाड़ के सिरमौर बने है। कवि ने कहा है—

> ठौर-ठौर ठकुराय अरि, धनि दुर्गा राठोड़।
> ठकुराई राखो ठसक मारवाड़ सिर मौड़॥

नेताओं का आदर्श

मैं देश के सदाचार की यह तस्वीर आपके समक्ष रखना चाहता हूँ कि जिस देश मे आप जन्मे है, जिसकी संस्कृति और इतिहास से आप पले है, उसके आचार-विचार के ये महान आदर्श रहे हैं। उन आदर्शों पर चलना—यह आपका कर्त्तव्य है। आपके मन मे अपने राष्ट्र का गौरव है, तो वह किस बात को लेकर? नेताओं का आदर है तो क्यों? गुरुओं के प्रति श्रद्धा है, किसलिए? यही न कि उनके आदर्श, उनके सच्चरित्र आपके जीवन को महानता की ओर ले जाने वाले हैं। आपके सामने देश के इन प्राचीन पुरुषों की तस्वीर रखी है, इतिहास बोल रहा है, और उनके चरित्र में से प्रतिध्वनित सदाचार सत्यनिष्ठा और उदार-हृदय की गाथा मुखर हो रही है। अभी इस युग में आपके सामने गांधी और नेहरू जैसे नेता हो गये है। तिलक और मालवीय जैसे चरित्रनिष्ठ व्यक्ति आ चुके है। और मैं तो मानता हूँ दो-चार क्या नहीं, सैकड़ों-हजारों आदर्श हो चुके है जिनके जीवन मे देश का उज्ज्वल चरित्र प्रतिबिम्बित हुआ

था। सबकी जीवन-घटनाओं का उल्लेख करता रहूँ तो प्रवचन कई दिन तक समाप्त नहीं होगा। पर संक्षेप में यही कहना चाहता हूँ कि उनके आदर्श आपके जीवन में आने चाहिए तभी आप अपने गुरु एवं नेताओं के सच्चे अनुगामी हो सकते हैं।

वर्तमान किधर ?

आज देश का चरित्र किधर जा रहा है, चरित्र नाम की कोई चीज है या नहीं—ऐसी परिस्थितियां सामने आ रही हैं। जो नेता कहलाते हैं, देश के [illegible] जाते हैं, वे सत्ता के संघर्ष में उलझे हुए हैं, कुर्सियों की लड़ाई में क्या कुछ [illegible] गुजर रहे हैं—यह आपके सामने है। देहली की लोकसभा जहां से देश के न्याय और संविधान का संचालन होता है, आज वहां आपके नेता बैठे किस तरह से लड़ रहे हैं? वे केवल बातों से नहीं, आज लातों से भी लड़ रहे हैं? आपके यहां कहावत है—

पंडित लड़ें बातों से,
मूरख लड़ें लातों से,

तो जो पढ़े-लिखे होकर भी धक्कामुक्की करते हैं, एक-दूसरे पर पेपरवेट और चप्पलें उछालते हैं, एक-दूसरे को गाली-गलौज और हत्या की धमकी देते हैं, क्या वे देश के नेतृत्व के योग्य हो सकते हैं? इसी स्थिति से खिन्न होकर संत विनोबा ने एक बार कहा था—"आज राज्य की बागडोर गुण्डों के हाथों में है। सच्चे सज्जन सत्ता के संघर्ष में कभी आना नहीं चाहते। वे [illegible] दूर हट रहे हैं, और गुण्डे इसमें घुस रहे हैं।"

इस स्थिति में जबकि नेताओं का चरित्र ही शून्य पर आ गया है, सामान्य जनता को क्या [illegible] जाती है? उसे किस आदर्श की ओर प्रेरित किया जा सकता है?

कहा जाता है—"[illegible] इतिहास [illegible] वर्तमान को [illegible] उज्ज्वल है, पर वर्तमान [illegible] इतिहास [illegible] गौरवपूर्ण है [illegible]

चाहते हैं तो अपने देश के प्रसिद्ध सदाचार का पालन कीजिये, उसे पुस्तकों मे नही, अपने जीवन मे उतारिये।

आज भारत का जन-जीवन अपने प्राचीन आदर्शों से भटक गया है, अपना खान-पान, वेष-भूषा, बोली-भाषा मे पश्चिम का अन्धानुकरण किये जा रहा है। आचार्यों ने जिन व्यसनो से दूर रहने की बात कही थी—जुआ, मद्य, मास, परस्त्री-सेवन आदि बुराइयो से गृहस्थ को बचने की शिक्षा दी थी, वे बुराइयाँ आज जीवन मे घुस रही है। खान-पान बिगड रहा है, वेष-भूषा मे फैशन का रोग लग गया है, भोग-विलास की सामग्री और साधन जुटाने मे एडी-चोटी एक किये जा रहे हैं, न्याय-अन्याय सब कुछ किया जा रहा है, और इस प्रकार जीवन अशान्ति और पतन के गड्ढे मे गिर रहा है। इसे शान्ति की ओर ऊर्ध्वगामी बनाने का एक ही उपाय है—कि अपने देशाचार का निष्ठापूर्वक पालन किया जाय। इसीलिए मैंने आपके समक्ष आज इस विषय पर कुछ विस्तृत चर्चा की है।

१०

'निन्दक' मत कहलाइए !

एक राजा ने सभा में उपस्थित विद्वानों से एक प्रश्न किया—"संसार में सबसे तेज कौन काटता है ?"

उत्तर में किसी विद्वान ने कहा—मधु-मक्खी ! किसी ने कहा—ततैया ! किसी ने कहा—बिच्छू ! और किसी ने कहा—साँप !

राजा के मन को समाधान नहीं मिला। जिज्ञासाभरी दृष्टि से उसने वृद्ध मंत्री की ओर देखा, जो अब तक मौन-भाव से सब के उत्तर सुन रहा था। "अमात्य वर ! आप कुछ नहीं कहेंगे ?"—राजा ने पूछा।

"महाराज ! ये सब कह तो रहे हैं ?"

"नहीं ! ये तो सब सुने-सुनाये उत्तर हैं, मैं कुछ अनुभव की बात सुनना चाहता हूँ।"—राजा बोला।

मंत्री ने आगे आकर राजा से कहा—"महाराज ! संसार में दो जीव सबसे तेज काटने वाले हैं ?"

"कौन से ?" सभा में प्रश्न की ध्वनि उठी—

"निन्दक, और दूसरा चापलूस !" मंत्री के उत्तर से चारों ओर गम्भीरता छा गई।

बात को स्पष्ट करते हुए मंत्री ने कहा—"निन्दक पीछे से काटता है जिसके काटने का मनुष्य को आभास तनिक भी नहीं होता। चापलूस सामने से काटता है, जिसके काटने से मनुष्य की अक्ल अपना ठिकाना खो देती है'—मंत्री की बात पर राजा ने प्रसन्नतापूर्वक सिर हिलाया। सभासद भी मंत्री के चातुर्य पर मुग्ध हो गये।

बन्धुओ! मानव-जीवन को दु खी करने वाले ये महान दुर्गुण हैं—निन्दा और खुशामद! संसार के सभी महापुरुषो ने उनसे सदा बचते रहने की शिक्षा दी है। भगवान महावीर ने कहा है—

नो तुच्छए नो या विकत्थइज्जा।

—सूत्र १।१४।२१

न तो किसी को तुच्छ बताओ, किसी की निन्दा और बुराई करो और न किसी की झूठी प्रशंसा के पुल बाँधो। इन दोनो बुराइयो से बचते रहो। इसी भाव को ध्यान मे रखकर आचार्य हेमचन्द्र ने सद्गृहस्थ के मार्गानुसारी बोलों मे छठा बोल कहा है—"अवर्णवादी न क्वापि राजादिषु विशेषत ।" सद्गृहस्थ को किसी की भी निन्दा नही करनी चाहिए और खास कर—राजा, मन्त्री आदि अधिकारी एव धर्म-गुरुओ आदि की तो कभी भी निन्दा—अवर्णवाद नहीं करना चाहिए।

दो दृष्टियाँ

अवर्णवाद का अर्थ है—निन्दा! वर्ण कहते हैं—यश, गौरव एवं कीर्ति आदि को। वर्ण का विरोधी अवर्ण! अर्थात् निन्दा! किसी की बुराई, दुर्गुण या कोई बदनामी होने जैसी बात हो उसका लोगो के सामने जिक्र करना! जगह-जगह पर उसे फैलाना यह है निन्दा! एक भाई ने पूछा था—"निन्दा किसे कहते हैं? किसी की सच्ची बात कहना निन्दा है या झूठी बात कहना?"

बन्धुओ! क्या आप बतायेंगे—"निन्दा किसे कहते हैं?" शायद आप में से बहुत से तो हमारे ऊपर ही टाल देंगे—"आप ही बताइये!" कुछ कहेंगे—झूठी बात कहना निन्दा है? पर वास्तविकता यह है, कि निन्दा का सम्बन्ध सच्ची या झूठी बात से उतना नहीं, जितना भावना से है, दृष्टि से है! आपकी दृष्टि यदि बुराई पर टिकी है, दोष खोजती है, और उसका उटाह करके अमुक व्यक्ति को बदनाम या अपमानित तथा नीचा दिखाने की भावना है तो सच्ची बात भी 'निन्दा' कही जायेगी। प्रश्न-व्याकरण सूत्र के संवर द्वार में सत्य और असत्य का विश्लेषण करते हुए बताया है—

अप्पणो थवणा, परेसु निन्दा।

अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करना भी असत्य के समान है, भले ही वह सत्य हो।

जीवन में दो प्रकार की दृष्टियाँ हैं—एक गुणदृष्टि और दूसरी दोषदृष्टि!

निन्दक मत कहलाइए

कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जो प्रत्येक स्थान मे गुण देखते हैं, कांटो मे भी फूल देखते हैं, गन्दगी के ढेर पर से भी कोई न कोई चमकता हीरा खोज लेते हैं। सौ दुर्गुणो मे भी किमी एक सद्गुण को देखकर उसकी प्रशसा कर देते हैं। उनकी वृत्ति मधुमक्षिका के समान है जो कांटेदार फूलो और नीरस पत्तो मे से भी मीठा मधु खोजकर ले आती है। आप देखते हैं—ईख (गन्ना) कहाँ पैदा होता है ? खेत मे। वह कैसा होता है मीठा, बहुत मीठा। शायद मुँह मे पानी तो नही छूटेगा ? और उसे खाद कैसा दिया जाता है ? क्या वह भी मीठा होता है ? नही। कडुआ, गन्दा और कसैली बदबू वाला खाद पाकर भी ईख उसे मिठास मे बदल देता है। क्या आप उस मधुमक्षिका और ईख से कुछ सीख नही लेंगे ?

'मधुकर' मधुकर बन अरे ! कटक तज मधु गेह।
कटुक खाद से मधुर रस, सीख ईख से लेह॥

तो एक यह दृष्टि है, मानव-मन की यह एक वृत्ति है जो बुराई मे भी भलाई खोजती रहती है, दोषो मे भी गुण टटोलती रहती है—यह बहुत ऊँची वृत्ति है।

दूसरी एक दृष्टि है—दोष-दर्शन की। मनुष्य के हृदय मे जब कषाय बहुत उग्ररूप धारण कर लेते है तो उसकी वृत्तियो मे, उसकी दृष्टि मे विकार आ जाता है। गुणो मे भी वह दोष देखता है, उसके मन मे गुणवानो के प्रति ईर्ष्या असद्भाव उभरता रहता है। किसी व्यक्ति मे सौ गुण हैं और एक दुर्गुण है तो वे सौ सद्गुणो की उपेक्षा करके भी एक दुर्गुण पर ही इस प्रकार ध्यान देंगे जैसे मक्खी मिठाइयो के ढेर को छोडकर गन्दगी पर। एक ओर मधु की एक बूंद रखी है, दूसरी ओर श्लेष्म की एक बूंद गिरी है तो मक्खियां कहां ज्यादा भिन-भिनाएँगी ? शहद पर या श्लेष्म पर ? श्लेष्म पर ही न ? सुगन्धित मिष्टान्न की अपेक्षा गन्दी वस्तु पर मक्खी जल्दी जायेगी, उसे उसी मे आनन्द आता है। इसी प्रकार कुछ मनुष्य होकर भी वृत्तियो से मक्खी की तरह होते है। वे हमेशा बुराई, निन्दा, दुर्गुण बस इन्ही पर दृष्टि को टिकाये रखते हैं।

निन्दा से वैर बढ़ता है

यह तो निश्चित है कि निन्दा कभी अच्छी भावना से नही की जाती, कोई कहे निन्दा करने मे हमारा सद्भाव है, तो यह तो ऐसी बात है जैसे पुराने जमाने मे कई यज्ञवादी कहते थे—पशुओ को बलि हम इसलिए देते हैं कि

उनको स्वर्ग मिल जाये ? कोई उनसे पूछता—कि फिर तुम अपने बेटे-पोतो की ही बलि क्यो नही दे देते ? अपने आपका बलिदान क्यो नही कर देते ? क्या तुम्हे स्वर्ग नही चाहिए ? तो भाई आपके मन मे सद्भावना है कि उसका सुधार हो, इसलिए आप उसकी निन्दा करते है तो फिर अपनी ही निन्दा क्यो नही करते ? अपना सुधार नहीं चाहते ? वस्तुत सुधार की भावना से निन्दा नही की जाती, निन्दा मे ईर्ष्या और द्वेष की भावना छिपी रहती है और निन्दा करने से उसकी निरन्तर वृद्धि होती रहती है। आप जिस व्यक्ति की निन्दा कर रहे हैं उसके हृदय मे आपके प्रति द्वेष-भावना जागृत होना सहज है, विरोध का जन्म लेना स्वाभाविक है, और द्वेष एव विरोध से प्रतिशोध की भावना जन्म लेती है—बदले की भावना जगती है। वह सोचता है—इतने इतने आदमियो के बीच मेरी निन्दा की है तो मौका आने दो, छट्ठी का दूध याद दिला दूंगा।" तो इस प्रकार निन्दा से द्वेष, द्वेष से विरोध और विरोध से प्रतिशोध की भावना बढती जाती है। इसका अर्थ है निन्दक अपने मित्रो, स्वजनो और साथियो को खोकर धीरे-धीरे अपने शत्रु और दुश्मन बढाता जाता है। और एक दिन आता है कि निन्दक स्वय अपने ही दुष्कृत्यो मे तडपता है, उत्पीडित होता। लोग उसके मुंह पर थूकते है, निन्दक का मुंह देखना नही चाहते, उसका नाम सुनना नही चाहते।

एक बार मै इस्लाम धर्म के विषय मे पढ रहा था। उसमे एक जगह निन्दा का निषेध करते हुए बडे जोरदार शब्दो मे कहा गया है—"गीबत (निन्दा) जिना (व्यभिचार) से भी संगीन है" क्योंकि आदमी बदबख्ती से जिना कर लेता है, तो सिर्फ तौबा (पश्चात्ताप) करने से उसकी माफी हो सकती है, मगर गीबत (निन्दा) की माफी तब तक नही होगी जब तक खुद वह शख्स माफ न करे जिसकी उसने गीबत की है।"[1]

इसलिए निन्दा को व्यभिचार से भी भयंकर अपराध माना गया है। क्योंकि निन्दा ईर्ष्या-द्वेष की आग भड़काने मे व्यभिचार से भी ज्यादा खतरनाक है। बुद्ध ने तो एक बात और भी कही है—"जो व्यक्ति दूसरो की निन्दा करता है वह अपने मुँह से पाप इकट्ठा करता है"—

विचिनाति मुखेन सो कलिं कलिना तेन सुखं न विन्दति।[2]

और वह पाप उसे निरन्तर पीडित करता रहता है। इसीलिए शास्त्रो मे निन्दा को पीठ का मांस खाने के तुल्य कहा है—

१ इस्लाम धर्म क्या कहता है ?—पृ० ४२
२ सुत्तनिपात ३।३६।

"पिट्ठिमंस न खाएज्जा"[1]

अब बतलाइए जो सद्गृहस्थ नैतिक एव धार्मिक जीवन जीना चाहता है वह इस प्रकार का दुष्कर्म कैसे करेगा ? वह दोषद्रष्टा नही, गुणद्रष्टा होगा।

निन्दा करनी हो, तो अपनी

यदि आपको निन्दा करने की आदत ही हो गई है, दोष देखने की वृत्ति बन गई है तो फिर इस दृष्टि को थोडा-सा घुमाना होगा, वृत्ति को थोडा-सा मोड देना होगा और वह मोड़ यही है कि—आप दूसरो के दोष की जगह अपने ही दोष देखिए, दूसरो की निन्दा की जगह आत्म-निन्दा कीजिये। आप अपने चश्मे से अपने को देखिये कि आपके मन के भीतर क्या हो रहा है ? कितना कूडा और मैला भरा है ?

एक कहानी है कि एक शिष्य ने गुरु की सेवा करके एक वरदान प्राप्त किया। वरदान मे गुरु से उसे एक ऐसा शीशा मिला, जो किसी के सामने करने से उस व्यक्ति के मन का पूरा चित्र उसमे झलक उठता। शिष्य को जैसे ही शीशा मिला, उसने सर्वप्रथम गुरु पर ही उसका प्रयोग किया। तो देखा गुरु के मन में भी एक कौने मे अहकार दबा पडा है, दूसरी ओर वासना और लोभ के छोटे-छोटे कीटाणु कुल-बुला रहे हैं। शिष्य को बडा आश्चर्य हुआ—"ओह ! मेरे गुरु के मन मे भी अहकार, वासना और लोभ के कीड़े पड़े हैं।" गुरु की सेवा से उसका मन हट गया, अब वह हर किसी के सामने शीशा करता और उसके मन मे छुपे—लोभ, वासना, कपट, ईर्ष्या, अहकार आदि की गन्दगी देखकर दग रह जाता। वह कुछ ही दिन मे घबरा उठा। गुरु के पास दौडा-दौडा आया—"महाराज ! इस ससार में कोई भी सत्पुरुष नही है जिसका भी मन देखो, वासना और अहकार की गन्दगी से भरा है, आपके मन मे भी ये कीटाणु भरे हैं, छि: छि समार मे किसी का भी मन पवित्र नही है।"

गुरु ने शिष्य का हाथ पकड कर घुमाया—"वत्स ! इस शीशे को दूसरो के सामने करने से पूर्व अपने सामने करके देखो !"

शिष्य ने देखा तो दग रह गया—उसके मन मे कही अहकार के बडे-बडे कीडे छुपे है, कही वासना और लोभ के अजगर मुंह फाडे बैठे है, कही ईर्ष्या-द्वेष की गन्दगी के ढेर लगे हैं। वह घबराया—"महाराज ! यह क्या, मेरा मन तो सबसे ज्यादा अपवित्र है ?"

---

१ दशवैकालिक ८।४७

उनको स्वर्ग मिल जाये ? कोई उनसे पूछता—कि फिर तुम अपने बेटे-पोतों की ही बलि क्यों नहीं दे देते ? अपने आपका बलिदान क्यों नहीं कर देते ? क्या तुम्हें स्वर्ग नहीं चाहिए ? तो भाई आपके मन में सद्भावना है कि उसका सुधार हो, इसलिए आप उसकी निन्दा करते हैं तो फिर अपनी ही निन्दा क्यों नहीं करते ? अपना सुधार नहीं चाहते ? वस्तुतः सुधार की भावना से निन्दा नहीं की जाती, निन्दा में ईर्ष्या और द्वेष की भावना छिपी रहती है और निन्दा करने से उसकी निरन्तर वृद्धि होती रहती है। आप जिस व्यक्ति की निन्दा कर रहे हैं उसके हृदय में आपके प्रति द्वेष-भावना जागृत होना सहज है, विरोध का जन्म लेना स्वाभाविक है, और द्वेष एवं विरोध से प्रतिशोध की भावना जन्म लेती है—बदले की भावना जगती है। वह सोचता है—इसने इतने आदमियों के बीच मेरी निन्दा की है तो मौका आने दो, छट्ठी का दूध याद दिला दूंगा" तो इस प्रकार निन्दा से द्वेष, द्वेष से विरोध और विरोध से प्रतिशोध की भावना बढ़ती जाती है। इसका अर्थ है निन्दक अपने मित्रों, स्वजनों और साथियों को खोकर धीरे-धीरे अपने शत्रु और दुश्मन बढ़ाता जाता है। और एक दिन आता है कि निन्दक स्वयं अपने ही दुष्कृत्यों से तड़पता है, उत्पीड़ित होता। लोग उसके मुंह पर थूकते हैं, निन्दक का मुंह देखना नहीं चाहते, उसका नाम सुनना नहीं चाहते।

एक बार मैं इस्लाम धर्म के विषय में पढ़ रहा था। उसमें एक जगह निन्दा का निषेध करते हुए बड़े जोरदार शब्दों में कहा गया है—"गीबत (निन्दा) जिना (व्यभिचार) से भी संगीन है" क्योंकि आदमी बदबख्ती से जिना कर लेता है, तो सिर्फ तौबा (पश्चात्ताप) करने से उसकी माफी हो सकती है, मगर गीबत (निन्दा) की माफी तब तक नहीं होगी जब तक खुद वह शख्स माफ न करे जिसकी उसने गीबत की है।"[1]

देखिए निन्दा को व्यभिचार से भी भयंकर अपराध माना गया है। क्योंकि निन्दा ईर्ष्या-द्वेष की आग भड़काने में व्यभिचार से भी ज्यादा खतरनाक है। बुद्ध ने तो एक बात और भी कही है—"जो व्यक्ति दूसरों की निन्दा करता है वह अपने मुंह में पाप इकट्ठा करता है"—

विचिनाति मुखेन सो कलिं कलिना तेन सुखं न विन्दति।[2]

और यह पाप उसे निरन्तर पीड़ित करता रहता है। इसीलिए शास्त्रों में निन्दा को पीठ का मांस खाने के तुल्य कहा है—

१ इस्लाम धर्म क्या कहता है ?—पृ० ५६
२ सुत्तनिपात ३।३६।२

"पिट्ठिमंस न खाएज्जा"[1]

अव बतलाइए जो सद्गृहस्थ नैतिक एव धार्मिक जीवन जीना चाहता है वह इस प्रकार का दुष्कर्म कैसे करेगा ? वह दोपद्रष्टा नही, गुणद्रष्टा होगा ।

निन्दा करनी हो, तो अपनी

यदि आपको निन्दा करने की आदत ही हो गई है, दोप देखने की वृत्ति वन गई है तो फिर इस दृष्टि को थोडा-सा घुमाना होगा, वृत्ति को थोडा-सा मोड देना होगा और वह मोड यही है कि—आप दूसरो के दोष की जगह अपने ही दोप देखिए, दूसरो की निन्दा की जगह आत्म-निन्दा कीजिये । आप अपने चश्मे से अपने को देखिये कि आपके मन के भीतर क्या हो रहा है ? कितना कूडा और मैला भरा है ?

एक कहानी है कि एक शिष्य ने गुरु की सेवा करके एक वरदान प्राप्त किया । वरदान मे गुरु से उसे एक ऐसा शीशा मिला, जो किसी के सामने करने से उस व्यक्ति के मन का पूरा चित्र उसमे झलक उठता । शिष्य को जैसे ही शीशा मिला, उसने सर्वप्रथम गुरु पर ही उसका प्रयोग किया । तो देखा गुरु के मन में भी एक कोने मे अहकार दवा पडा है, दूसरी ओर वासना और लोभ के छोटे-छोटे कीटाणु कुल-वुला रहे हैं । शिप्य को वडा आश्चर्य हुआ—"ओह ! मेरे गुरु के मन मे भी अहकार, वासना और लोभ के कीडे पडे हैं ।" गुरु की सेवा से उसका मन हट गया, अव वह हर किसी के सामने शीशा करता और उसके मन मे छुपे—लोभ, वासना, कपट, ईर्ष्या, अहकार आदि की गन्दगी देखकर दग रह जाता । वह कुछ ही दिन मे घवरा उठा । गुरु के पास दौडा-दौडा आया—"महाराज ! इस ससार मे कोई भी सत्पुरुष नही है जिसका भी मन देखो, वासना और अहकार की गन्दगी से भरा है, आपके मन मे भी ये कीटाणु भरे हैं, छि छि ससार मे किसी का भी मन पवित्र नहीं है ।"

गुरु ने शिष्य का हाथ पकड कर घुमाया—"वत्स ! इस शीशे को दूसरो के सामने करने से पूर्व अपने सामने करके देखो ।"

शिप्य ने देखा तो दंग रह गया—उसके मन मे कही अहकार के वडे-वडे कीडे छुपे हैं, कही वासना और लोभ के अजगर मुंह फाडे वैठे है, कहीं ईर्ष्या-द्वेप की गन्दगी के ढेर लगे है । वह घवराया—"महाराज ! यह क्या, मेरा मन तो सवसे ज्यादा अपवित्र है ?"

---

१ दशवैकालिक ८।४७

गुरु ने कहा—"वत्स ! यह शीशा तुझे इसलिए नहीं दिया गया है कि तू दूसरों का मन देखकर उनकी बुराई करता फिरे, बल्कि अपना मन देख ! तू स्वयं को देख लेगा तो फिर दूसरों को देखने की इच्छा ही नहीं होगी।"

तो बन्धुओ ! इस दृष्टि को आप अपने मन की गहराई में उतारिये, यदि आप दूसरों की ओर नजर उठाते रहेंगे तो संसार की सब बुराइयाँ उधर ही दिखाई देंगी, लेकिन जब अपने मन के दर्शन सच्चाई के साथ करेंगे, तो फिर आप कह उठेंगे—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजूँ आपना मोसूँ बुरा न कोय॥

इस संसार में एकान्ततः बुरा कोई नहीं है, कुछ-न-कुछ गुण हर किसी में है। बुराई है तो मेरी दृष्टि में है, मन में है—इस भावना के साथ अपनी बुराइयाँ देखिए, अपने मन की दुर्वृत्तियों पर चिन्तन कीजिए कि यह मन कैसे दूसरों के धन पर ललचाता है, कैसे सुन्दर रूप को देखकर अपना आपा भूल जाता है ? ईर्ष्या और द्वेष से कैसे जलता रहता है ? इस दृष्टि को ही शास्त्रों में 'आत्म-निन्दा' कहा है। पर-निन्दा सब दुर्गुणों और सब अधर्मों की जड़ है, तो आत्म-निन्दा सद्गुणों की खान है, धर्म का मूल है। धर्म के आठ अंगों में आत्म-निन्दा चौथा अंग बताया गया है—

करुणा वच्छलता सुजनता आतमनिन्दा पाठ।
समता भक्ति विरागता धर्मराग गुण आठ॥

आत्मविकास के ये आठ सूत्र हैं, उनमें आत्मनिन्दा को भी आत्मविकास का साधक माना है। आप कहेंगे—"आत्मनिन्दा से आत्मविकास कैसे होगा ?"

आत्म-विकास का मार्ग

वास्तव में देखा जाय तो 'आत्मनिन्दा' का अर्थ है—आत्मदर्शन ! प्रत्येक मनुष्य में कुछ न कुछ कमी तो रहती है, दुर्बलता भी रहती है। जिस मनुष्य को अपनी कमी का पता नहीं चलता, वह उसे दूर भी कैसे करेगा और कमी को दूर किये बिना, दुर्बलता को मिटाये बिना जीवन सक्षम और सबल कैसे बनेगा ? अपने वस्त्र की मलिनता का जिसे पता ही नहीं, वह उसे उजला बनाने का प्रयत्न कैसे करेगा ? अपने मुँह पर कितने दाग लगे हैं—यह तो शीशे में मुँह देखने से ही पता चलेगा ? अपना मुँह देखने का महत्त्व नहीं होता तो शीशे का आविष्कार ही नहीं होता, और न आज हर घर में, हर कमरे में, हर

स्नानगृह मे शीशा टँगा मिलता ? घर मे शीशा इसीलिए टँगा रहता है कि आप सुबह उठकर अपना मुँह देख सकें, उसे साफ-स्वच्छ बना सके। आत्मदर्शन भी एक प्रकार का शीशा है, इससे अपने जीवन की खामियाँ, दुर्बलताएँ और बुराइयाँ मनुष्य के सामने खुलकर आ जाती है और वह सकल्प करके उन्हें दूर हटाने का प्रयत्न करता है, जीवन को पवित्र और सबल बनाने की चेष्टा करता है।

मनुष्य के जीवन-विकास और वैज्ञानिक प्रगति का इतिहास आप देखेंगे तो दो ही बात उसके मूल मे पायेंगे—एक प्रयत्न करते रहने का सकल्प ! और दूसरा भूलो को सुधारते रहने की आदत ! भूलो का निरीक्षण और उन्हे सुधारने की आदत मनुष्य मे नही होती तो न वह इतने नये-नये आविष्कार कर सकता, न आज चन्द्रलोक तक जाने के इतने सक्षम उपकरण ही तैयार कर सकता। जब उसने एक आविष्कार किया और फिर उसकी कमियाँ देखी तो उन्हे सुधारते-सुधारते उस चीज को नया रूप दे सका। क्या ये हवाई जहाज, राकेट और जेट जिस रूप मे आज उड रहे है उसी रूप मे प्रारम्भ मे उडे थे ? प्रारम्भ मे मनुष्य ने गुब्बारे हवा मे उडाये और धीरे-धीरे कुछ ऊँचाई तक उडने का प्रयत्न किया। कितनी जाने खोई, कितने कष्ट उठाये, कितने नये अनुभव किये—तब फिर जाकर आज आकाश मे पक्षी से भी तेज, घण्टा मे हजारो मील की गति से उडने लगा है।

मैं यही बात आप से कह रहा था—कि भूल का निरीक्षण, और भूल का सशोधन—इन्ही दो वृत्तियो से मानव ने आज उच्चतम भौतिक विकास किया है और इन्ही वृत्तियो के माध्यम से उच्चतम आत्म-विकास भी किया जा सकता है। इसलिए आत्म-निरीक्षण और आत्म-निन्दा, आत्म-विकास के महल की प्रथम सीढी है।

जैनधर्म की साधना मे सामायिक सबसे पहला सोपान है। सामायिक पाठ मे साधक क्या सकल्प करता है—"निन्दामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि।" मैं अपनी आत्मा की निन्दा करता हूँ, जितने दूषित कर्म किये है, मैं उनकी गर्हा करता हूँ। इस प्रकार साधक साधना-मार्ग मे कदम बढाते हुए सर्व प्रथम आत्म-निन्दा के द्वार से प्रवेश करता है। आत्म-निन्दा के द्वारा वह अपने दुर्गुणो को वही छोड देता है, मन को उनसे दूर हटा लेता है और जो कुछ उनकी मलिनता मन पर आ गई थी उसको साफ करके फिर आगे बढता है।

क्षुद्र भावनाओ का जन्म

मैंने आपको दो बाते बताई—पर-निन्दा का त्याग और आत्म-निन्दा का अनुराग ! नीति मे एक सूक्ति चली आती है—कि जीवन-विकास के लिए दो बातो को छोडिए और दो बातें अपनाइये ।

दो बाते कौनसी छोडनी है—

१. पर-निन्दा और २. आत्म-प्रशसा ।

दो बातें कौनसी अपनानी हैं—

१. आत्म-निन्दा और २ पर-गुण-प्रशंसा ।

पहली दो वृत्तियो से मनुष्य के मन मे क्षुद्रता उत्पन्न होती है, ईर्ष्या और द्वेष की भावना से उसकी दृष्टि दूषित हो जाती है । पर-निन्दा की वृत्ति से मनुष्य दूसरो मे हमेशा दोष देखता है, उनके बारे मे सन्देह और गलतफहमी करने लगता है । हर बात मे बुराई सोचने की और बुराई देखने की आदत हो जाती है । सामने वाले व्यक्ति का असली रूप समझने की वृत्ति नही रहती, असलियत को नजरअन्दाज करके सदा उसका गलत रूप ही उसके मन मे अंकित होता रहता है । और आप जानते है असलियत को नही समझने के कारण समाज और राष्ट्र मे कितने अनर्थ होते आये है, हो रहे है । मनुष्य के मन का यह सबसे बडा धोखा है कि वह रगीन चश्मा लगाकर श्वेत उजली चादर को भी रगीन देखने लगता है—और गलत निर्णय से स्वय को व दूसरो को भी पीडा पहुंचाता है ।

√ मुझे याद है, एक बार एक बहुत बडे विद्वान नगर मे पधार रहे थे । सैकडो लोग उनके सामने जा रहे थे । उधर से विहार करके सन्त आ रहे थे, जब कल्प पूरा होने की सीमा आई तो एक सूखी नदी मे बैठकर पानी वगैरह पीने लगे । इधर से कोई गांव का आदमी भी उधर आ रहा था । वह जब उन भाइयो को मिला तो उन्होंने पूछा—"भाई ! इधर कोई महाराज आ रहे है ? गांव वाले ने उत्तर दिया—हां थोडी-सी दूर है, अभी नदी मे पानी पी रहे थे ।"

श्रावको ने गांव वाले की बात सुनी तो जैसे सांप काट गया हो, सबके सब वापस लौट गये—"अरे ! महाराज साहब नदी मे पानी पी रहे है, साधु होकर नदी का पानी ! भाई ! कैसे साधु है ये ? नाम मोटे, दर्शन खोटे—चलो ! चलो ! नहीं चाहिए ऐसे साधु ।" तो सबके सब श्रावक साधुजी को बिना मिले ही वापस शहर मे आ गये, साधुजी नदी का पानी जो पी रहे थे ।

सन्त आये, देखा इतना भाव-भक्ति वाला गाँव है, और कोई भी श्रावक सामने नहीं आया ? वे गाँव मे आये, उपाश्रय मे आये तो लोगो को कानाफूसी करते देखा—"पूछा भाई ! बात क्या है ? आज सबके रग कैसे बदले हुए हैं ?"

एक श्रावक ने कहा—"महाराज ! आप साधु होकर नदी मे पानी पी रहे थे ?"

सन्तो के ध्यान मे आया, नदी मे बैठे तब कोई गाँव वाला निकला और उसी ने सब कहा होगा । समझाया—"भाग्यवान श्रावको ! नदी मे पानी पी रहे थे या नदी का पानी पी रहे थे ?"

एक ने कहा—"महाराज ! पूरा तो हमे नही मालूम । यही सुना है ।" सन्तो ने कहा—"क्या सुना तुमने, नदी मे एक बूंद भी पानी नही है, सूखी पडी है । पानी तो हमारे पास था, कल्प आ जाने से हमने वहाँ बैठकर पानी पिया और आप लोग तो '**जुआ साटै घाघरा नाखै**' वाली बात कर गये । इतनी बडी गलतफहमी ?"

इस प्रकार के गलत निर्णय कब होते हैं ? जब हमारी दृष्टि साफ नहीं होती ? हमारी दृष्टि मे कोई गलतफहमी है, दोष-दर्शन की आदत है, और उसका प्रतिबिम्ब हम दूसरों मे देखने लग जाते हैं । जिसके सम्बन्ध मे इस प्रकार का गलत निर्णय या झूठी अफवाह आप फैलाते हैं, तो उसके हृदय को कितनी चोट पहुंचती होगी, और जब आपको भी सही स्थिति का ज्ञान होगा तो आपका मन भी पश्चात्ताप के आँसू बहाएगा । आपको भी दु ख होगा कि— मैंने कैसा गलत विचार किया ?

एक बार की घटना है । कोई ख्वाजाहसन नाम के औलिया थे । सायकाल के शान्त वातावरण मे नदी के किनारे घूम रहे थे । नदी के घाट पर ही कुछ दूर पेड के नीचे बैठे एक स्त्री-पुरुष को उन्होने देखा । स्त्री-पुरुष बहुत निकट-निकट बैठे थे और हँस-हँस कर बातें कर रहे थे । दोनो के व्यवहार मे गहरा प्रेम झलक रहा था । ख्वाजाहसन ने देखा, तो सोचा—यह सन्ध्या का पवित्र समय तो खुदा की इबादत (भगवान की भक्ति) करने का समय है, ऐसे वक्त मे यह आवारा पुरुष इस स्त्री के साथ कितना बुरा व्यवहार कर रहा है । दोनो ही कितने कमीने हैं—और ख्वाजाहसन मन-ही-मन उन दोनो के बुरे विचारो को धिक्कारने लगे । तभी औलिया ने देखा कि पुरुष के हाथ मे एक बोतल है, और वह हाथ पकडकर स्त्री को पीने का आग्रह कर रहा है । यह बोतल किस चीज की हो सकती है ? शराब की ! और जरूर यह पुरुष इस

स्त्री को नशा पिलाकर इसके साथ अनैतिक कर्म करेगा। ख्वाजाहसन से रहा नहीं गया। वे दूर से ही पुकार उठे—"अरे भाई! कुछ तो शर्म खाओ! इस बिचारी शरीफ औरत को क्यों तंग कर रहे हो!" घृणा के साथ उसकी ओर देखकर ख्वाजाहसन आगे निकल गये।

घाट पर एक नौका लगी थी, कुछ लोग नौका विहार के लिए उसमें चढ़े और नाव चली, संयोग की बात कि नौका पानी में डगमगाने लगी, और डूबने का खतरा होने लगा। नौका में बैठे लोग घबराये, और जोर-जोर से पुकारने लगे—"कोई किनारे पर हो तो हमें बचायें, भगवान के लिए हमारी रक्षा करें।"

ऐसी स्थिति में जब नदी में नाव डूब रही हो, और उसमें बैठे इन्सान 'त्राहि-त्राहि' पुकार रहे हों, करुणा आना सहज है, पर हथेली में अपनी जान लेकर कूद पड़ने की हिम्मत करना कितना कठिन है? वह पुरुष, जो स्त्री के साथ बैठा बातें कर रहा था, यह आवाज सुनता है और तुरन्त दौड़कर नदी में कूद पड़ता है। वह तैरकर नदी में डूबते हुए व्यक्तियों को किनारे की ओर खींच लाया। पानी में तैरने और इतने आदमियों को निकालने के कारण उसके हाथ पैर फूल गये थे। ख्वाजाहसन किनारे पर खड़े-खड़े देख रहे थे। वे निकट आये और बोले—"शाबाश! संध्या का समय भगवान का नाम लेने का समय है, पर तुमने इससे भी ऊँचा काम किया है।"

उस व्यक्ति ने ख्वाजाहसन को देखा, और वह पुकार भी उसे याद आ गई जो अभी उसने लगाई थी—'कुछ तो शर्म कर'। उसने कहा—"महाराज! आप सन्त हैं, फकीर हैं, किसी के बारे में गलत नहीं सोचना चाहिए, और न बिना सोचे जबान चलाना चाहिए।"

ख्वाजा को गुस्सा आ गया—"तू मुझे उपदेश देने लगा? अपने रहे निकिया में कि चूँ-चूँ न कर! चल! वह औरत और वह बोतल [illegible] नहीं होगी, जा-जा!"

उस व्यक्ति ने ख्वाजा का हाथ पकड़ लिया और कहा—मालूम है आपको यह औरत कौन है, और मैं कौन हूँ? "यह मेरी माँ है, बीमार है। डॉक्टरों का कहना है कि इन्हें नदी पर घुमाने ले जाओ, और समय पर दवाई पिलाते रहो। बोतल में शराब नहीं, दवा है महाराज!"

उस व्यक्ति की बात सुनकर ख्वाजाहसन पर जैसे सौ घड़े पानी गिर गया। वे उससे क्षमा माँगने लगे— और सोचने लगे।

इस प्रकार गलत निर्णय से आपको और दूसरो को भी कितना कष्ट होता है, और जब तक सही स्थिति का पता नही चलता, कितना अनर्थ हो जाता है। इसलिए किसी की निन्दा करना ही निन्दा नही, किन्तु किसी के प्रति गलत दृष्टिकोण से सोचना, गलतफहमी और अफवाह उड़ाना—यह भी निन्दा है, और इसके परिणाम भी जीवन मे कभी-कभी बड़े घातक सिद्ध होते है।

आचार्यों ने अवर्णवाद का निषेध करते हुए एक बात और जोडी है—"राजादिषु विशेषत ।" अवर्णवाद किसी का भी नही करना चाहिये, उसमे राजा, मत्री आदि अधिकारी जनो का तो विशेष ध्यान रखना चाहिये। इसमे सिर्फ भय की ही दृष्टि नही है कि—"राजा की निन्दा करने से राजा अप्रसन्न होकर बहुत बडा अनिष्ट कर सकता है" किन्तु इसके साथ देश के गौरव की भी दृष्टि है। राजा राष्ट्र की ध्वजा और शिखर के तुल्य होता है। उसका चरित्र सम्पूर्ण राष्ट्र के चरित्र का प्रतीक होता है, इसलिए यदि आप अपने राष्ट्र के प्रतीक राजा, आज की भाषा मे कहूँ तो राष्ट्रपति, प्रधानमत्री आदि उच्च व्यक्तियो के चरित्र पर कोई लाछन लगाते हैं, उन पर कोई कीचड उछालते हैं तो उससे न केवल उनका, किन्तु राष्ट्र का चरित्र भी लाछित होता है। उनमे यदि कोई दोष है, बुराई है तो सार्वजनिक स्थानो पर निन्दा करने से, खुली आलोचना करने से क्या वह दूर हो जायेगी ?

पहली बात तो आप बदनाम होगे, आप पर राजकीय अधिकारियो की वक्र दृष्टि रहेगी और दूसरी बात उसे सुननेवालो पर राष्ट्रीय चरित्र की हीनता का दुष्प्रभाव पडेगा। राष्ट्र का नैतिक बल कमजोर पडेगा। आजकल तो लोगो ने नेता बनने का सीधा-सा गुर सीख लिया है कि "या तो राज-नेताओ की खुशामद करो, या उनकी निन्दा करो।" मैं समझता हूँ, यह दोनो ही बाते गलत हैं। कोई भी व्यक्ति अपने चरित्र, साहस, समझदारी और सद्‌गुणो से ही नेता बन सकता है, किसी की निन्दा या आलोचना करने से नही। निन्दा किसी भी रूप मे हो, वह निन्दा है, व्यक्ति के चरित्र को गिराने वाली है। उससे व्यक्ति की प्रतिष्ठा गिरती है, दृष्टि दूषित होती है, और आदत भी बिगडती है।

एक बार लोकमान्य तिलक के पास एक व्यक्ति आया और बोला—"मैंने क्षमा की साधना की है, कोई व्यक्ति मेरी चाहे जितनी निन्दा करे, गालियाँ दे, मुझे गुस्सा नही आता, आप चाहे तो मेरी परीक्षा करके देख सकते हैं।"

लोकमान्य हँसकर बोले—"भाई ! तुम्हारी साधना तो ठीक है, पर इसकी

परीक्षा के लिए मैं तुम्हारी निन्दा करूँ, तुम्हे दो-चार गाली दूं, इससे तुम्हें गुस्सा आये या न आये, पर मेरी जबान तो खराब हो जायेगी ?"

तो दूसरो की निन्दा करने से धीरे-धीरे आपकी वृत्ति निन्दा की हो जायेगी और लोग आपको निन्दक कहेंगे। यदि आप किसी के सद्गुणो की प्रशसा करके प्रशसक नही कहला सकते तो कम से कम 'निन्दक' तो मत कहलाइये! अपने सद्गृहस्थ के आदर्श को सामने रखिये और जीवन को गुणानुरागी बनाइये।

११

आदर्श घर

आचार्य हेमचन्द्र ने गृहस्थधर्म की व्यावहारिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए इस बात पर भी विचार किया है कि जिस आधार पर उसे गृहस्थ अर्थात् 'गृह' मे रहने वाला कहा जाता है, वह 'गृह' कैसा होना चाहिये ? आचार्य ने कहा है—

> **अनतिव्यक्तगुप्ते च स्थाने सुप्रातिवेश्मिके ।**
> **अनेकनिर्गमद्वार—विवर्जितनिकेतन ॥**

जैन-साहित्य मे साधु के लिए एक शब्द आता है—'अणगार' । आगार नाम है घर का, जिसके कोई घर नही हो, अथवा जिसने घर का त्याग कर दिया हो, उसे कहते हैं—अणगार । आगमो मे जहाँ दीक्षा का वर्णन आता है, वहाँ यह पाठ आता है—"आगाराओ अणगारियं पव्वइए"—आगार (घर) से अणगार व्रत को ग्रहण किया । साधु जब एक घर का त्याग कर देता है तो ससार के सब घर, सब भूमि उसका घर हो जाती है । वह जहाँ भी रहता है, वही उसका उपाश्रय बन जाता है । प्राचीन ऋषियो के वर्णन मे कहा गया है— "करतल भिक्षा तरुतल वास" हाथ ही जिनका भिक्षापात्र है, वृक्ष की छाया ही जिनका आवास है । ऐसे मुनियो को कही घर बनाने की क्या जरूरत है ? जहाँ भी मन हुआ, वृक्ष की शीतल छाया देखी, वही अपना डेरा लगा लिया, उन्हें 'घर' बनाकर करना भी क्या है ? 'घर' सबसे बडा बन्धन है, और साधु इन बन्धनो से मुक्त होता है । घर की ममता से जो मुक्त होता है, उसके लिए हर घर का द्वार खुल जाता है । साधु यदि अपना घर बनायेगा, उपाश्रय, स्थानक या मठ बनाने मे लगेगा तो उस स्थान के साथ उसकी ममता भी जुड जायेगी । वह रात-दिन उसी की सार-सँभाल मे लगा रहेगा । फिर अपने व्रत,

नियम व सयम की सँभाल कैसे व कब करेगा ? किसी भाई ने वताया था कि एक गाँव मे एक उपाश्रय वन रहा था। मुनि महाराज दिन निकलने से पहले ही वहाँ पहुँच जाते और सायकाल अधेरा होने तक खुद खडे रहकर कारीगरो और मजदूरो के पीछे पडे रहते। यह करो, वह करो—वडी देखरेख करते। इजीनियरो की तरह नाप-तोल करते रहते। श्रावको ने समझाया तो वोले—"तुम लोग उपाश्रय वनाना क्या जानो ? रहना तो हमे है, इसलिए मैं अपनी मर्जी से ही वनवाऊँगा।" एक वूढा श्रावक एक दिन उपाश्रय देखने गया। महाराज कारीगरो को समझा रहे थे "यहाँ एक खिडकी वनाओ, यहाँ नाली रखो, यहाँ जाली वनाओ।" श्रावक से रहा नही गया, उसने कहा—"महाराज साहव ! यहाँ एक आला भी वनाओ।"

महाराज चौंककर वोले—"किसलिए ?"

श्रावक ने धीरे से कहा—"अपने महाव्रतो को रखने के लिए। महाव्रतो को इसमे रख दो और फिर दिन भर घूमते रहो।"

तो साधु यदि घर का त्याग कर 'अणगार' वन गया और फिर भी घर वनाने के चक्कर मे पडा रहा तो फिर अपने अणगार धर्म की रक्षा व अभिवृद्धि आदि कैसे करेगा ?

किन्तु गृहस्थ के लिए यह वात नही है। गृहस्थ 'आगारी' अर्थात् घर वाला होता है। हमारे यहाँ इसीलिए गृहस्थ को 'सागारी' कहा जाता है। आप कहीं भी जाएँ, कितनी भी लम्वी यात्रा करें। मास, दो मास, चार मास भी यात्रा मे लग जाएँ। दो चार वर्ष भी परदेश मे लग जायें—फिर भी आपके मन मे एक वात आयेगी—रह-रह कर आपको सतायेगी और वह है—घर की याद। आप सोचेंगे हम यहाँ हैं, और हमारा घर वहाँ है ? साधु को पूछो कि आपका घर कहाँ है ? तो क्या उत्तर होगा ? जहाँ ठहरे वही घर ! ऊपर आकाश और नीचे पृथ्वी—यही है साधु का घर। भर्तृहरि के शब्दो मे—

महीरम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता,
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ॥

भूमि सुखदायी शैया है। भुजाएँ मुलायम तकिया है। आकाश ऊपर की छत है और प्राकृतिक हवा ठडक देने वाला पखा है। तो यह तो है साधु की वात। अव आप से पूछें कि आपका घर कहाँ है ? तो क्या आप भी यही उत्तर देंगे ? यदि ऐसा ही उत्तर दिया तो लोग समझेंगे कोई वे-घरवार है, आवारा है या उचक्का है। जिनके घर नहीं, उसकी कदर नही। भले ही

जहाँ आप रहते हैं वह मकान आपका हो या किराये का हो ? फिर भी वह आपका घर है, आप घर के मालिक हैं। और आपके मन मे उसके प्रति अपनत्व है, आप किसी को भी कहेगे—'यह हमारा घर है ?' घर है, इसीलिए आप गृहस्थ हैं 'गृहे तिष्ठति इति गृहस्थ.—घर मे रहने के कारण ही आप गृहस्थ कहे जाते हैं।

घर कैसा हो ?

गृहस्थ के पास घर है तो यह प्रश्न होता है कि वह घर कैसा है, और कैसा होना चाहिए ? वैसे गृह-निर्माण विद्या का पूरा शास्त्र है। इसकी हजारो विधियाँ हैं। प्राचीन समय मे गृह-निर्माण की विद्या एक बहुत बडी विद्या मानी जाती थी। वास्तुशास्त्र का विधिवत् अध्ययन भी कराया जाता था। आज भी इस विद्या का बहुत विकास हुआ है। २५-२५ और ५०-५० मजिल के भवन बनाये जाते हैं। अमेरिका मे एम्पायर स्टेट बिल्डिंग जैसी बिल्डिगें बनी हैं जो अपने आप मे एक पूरा शहर है। बगीचे, सिनेमाघर, बाजार और अस्पताल एव स्कूल सभी एक ही बिल्डिंग मे आ जाता है। ऐसी विशाल बिल्डिगें प्राचीन समय मे नही बनती थी। उस समय मे अधिक से अधिक सप्तभौम भवनो का वर्णन आता है। लेकिन वे भी जन-सामान्य को प्राप्त कहाँ थे ? राजा-महाराजा या ईभ्य सेठो के ही बडे-बडे हर्म्य होते थे। जन-सामान्य तो साधारण घरो मे पहले भी रहते थे और आज भी प्राय साधारण घरो मे ही रहते हैं। इसलिए आचार्यों ने वास्तुशास्त्र या शिल्पशास्त्र की दृष्टि से यहाँ गृहस्थ के घर की चर्चा नही की है, किन्तु नीति एव आरोग्य शास्त्र की दृष्टि मे ही घर के सम्बन्ध मे विचार किया गया है।

घर के सम्बन्ध मे पहली बात यह कही गई है कि घर बस्ती से न अधिक दूर हो और न एकदम भीड-भाड मे, घनी बस्ती मे, अंधेरी गन्दी गलियो मे ही हो। बल्कि बस्ती के पास खुली और स्वच्छ जगह मे होना चाहिए।

नीति मे बताया गया है कि घर किसे कहते हैं ?—न गृहं गृहमित्याहु-र्गृहिणीगृहमुच्चते—केवल ईंट-पत्थरो की दीवारें ही घर नही हैं। घर मे घर वाली-गृहिणी—होने से ही वह गृह कहलाता है। घर मे गृहपति होगा, गृहिणी होगी और उनके बाल-बच्चे, बूढे माता-पिता आदि भी होगे। सब मिलाकर वह एक गृह होता है, और यह एक घर गृहस्थी कहलाती है। गृहस्थी जहाँ होती है, परिवार जहाँ रहता है, वहाँ पर कुछ सम्पत्ति भी होती है, वहाँ सुरक्षा

भी रखनी पडती है। परिवार के साथ सुरक्षा का प्रश्न जुडा रहता है। इस लिए घर यदि बस्ती से बहुत दूर, एक ओर या जगल मे होता है, जहाँ आस-पास मे और कोई घर न हो, कोई परिवार न हो, तो वहाँ बहुत भय रहता है। यदि कोई चोर आ गया, अग्नि आदि का उपद्रव हो गया, कोई दुष्ट किसी प्रकार का अन्याय करने घर मे घुस गया, तो चिल्लाने पर भी आपका रोना-धोना किसी को सुनायी नही देगा। गला फाडकर पुकारने पर भी कोई सहायता के लिए दौडकर आ नहीं सकता। दूर के घर मे संकट के समय सहायता प्राप्त कर पाना बहुत कठिन है। बस्ती मे सैंकडों आदमी होते हैं, पास-पडौस होता है, और हर आदमी आदमी की मदद करता है। सकट में तो दुश्मन की भी सहायता की जाती है, फिर पडौसी यदि पडौसी के काम न आये तो वह पडौसी कैसा ? पर जगल में पडौसी भी कौन मिलेगा ? आपकी पुकार भी कौन सुनेगा ?

प्राचीन समय मे नगरो मे जो भवन बनते वे पास-पास मे, नगर की सीमा मे ही बनते थे। उद्यान भी जो नगर के बाहर बने रहते थे, वे भी नगर से न बहुत दूर और न बहुत नजदीक—इस प्रकार से रहते कि वहाँ जाने-आने मे भय भी न लगे, और एकदम बस्ती के बीच मे भी न रहे। खुली हवा, स्वच्छ वातावरण और निर्भय विहार—इन्ही दृष्टियो से उद्यान आदि बनते थे, जिनके लिए आगमो मे—**अदूर सामते**—पाठ आता है अर्थात् बहुत दूर भी नही, और सटे हुए भी नहीं। वहाँ बच्चे और स्त्रियाँ भी अकेली जाकर निर्भयतापूर्वक स्वच्छ वायु और प्राकृतिक आनन्द का लाभ ले सकते थे। पहाडो व जगलो मे बगले बनाने की प्रथा भारत मे अग्रेजो के जमाने से आई है। इतिहासकारो का मत है कि अग्रेज जाति जगल, एकान्त व पहाडी स्थानो पर रहना अधिक पसन्द करती है। वह स्वभाव से निर्भय होती है। अपनी सुरक्षा के साधन पास मे रखती है, और अग्रेज परिवार मे अधिक सम्पत्ति—जोखिम भी पास मे नही रहती। भारतीय परिवारो के सस्कार इससे भिन्न हैं। वे समूहप्रिय हैं, उनमें सयुक्त परिवार की प्रथा है तथा घर मे विभिन्न प्रकार की सम्पत्ति, जोखिम रखते हैं। उन परिवारो मे सामान्यत भय व सहाय सापेक्ष वृत्ति होती है। इसलिए एक भारतीय परिवार तथा अग्रेज परिवार के रहन-सहन, मकान व स्थान के चुनाव मे बहुत अन्तर रहता है। इसलिए भारतीय परिवार की मानसिक स्थिति का अध्ययन करने वाले आचार्यों ने कहा है—अपना आवास, अपना घर बस्ती के निकट मे रखना चाहिये।

स्वच्छ हवा

घर के सम्बन्ध मे दूसरी बात यह कही गई है—कि घर एकदम घनी

बस्ती मे, गली-कूँचे मे भी नही होना चाहिये। घनी बस्ती मे पहली बात है कि हवा का प्रवेश नही होता, धूप नही मिलती और यदि हवा आती भी है तो गन्दी ! अशुद्ध ! शुद्ध हवा मे प्राणो को प्रफुल्लित करने की शक्ति है तो अशुद्ध हवा प्राणो की स्फूर्ति एव शक्ति नष्ट कर देती है।

जीवन-धारण के लिए ससार मे तीन वस्तुएँ मुख्य मानी गई है, अन्न, जल और हवा। अन्न के लिए उपनिषद् मे कहा गया है—अन्न वै प्राणा. प्राण धारण के लिए अन्न को अन्यतम साधन मानकर उसे ही 'प्राण' सज्ञा दी गई है और कहा—'अन्न ही प्राण है, अन्न के बिना जीवन नही टिकता।' किन्तु देखा जाता है कि अन्न के बिना मनुष्य बहुत दिन तक जीवित रह सकता है। अभी का ताजा उदाहरण है कि बेंगलोर मे एक बहन ने इकानवे दिन की तपस्या की है। तीन महीने तक उसने बिना अन्न के निकाले हैं। भगवान ऋषभदेव ने तो बारह महीने का उग्रतप किया था। अन्न का एक कण व जल की एक बूंद लिए बिना वे बारह महीने तक कठोर तपश्चरण कर शरीर को धारण किये रहे। भगवान महावीर ने छह मास की कठोर तपस्या की जिसमे भी अन्न-जल का सर्वथा परिहार था। तो फिर यह बात कैसे ठीक बैठती है कि—अन्न ही प्राण है। अन्न के बिना भी प्राण दीर्घकाल तक टिक सकते हैं। हाँ अन्न की अपेक्षा पानी का महत्त्व अधिक है। साधारण मनुष्य पानी के बिना बहुत दिन जीवित नही रह सकता। जिस बहन ने तीन मास अन्न के बिना निकाले उसने पानी पिया या नही ? पानी तो उसने भी पिया और पानी के सहारे ही उसने इकानवे दिन निकाले। हमारे यहाँ ऐसे भी तपस्वी हुए है जिन्होंने १५-२० दिन अन्न-पानी के बिना निकाले है, पर सभी ऐसा करने लगें तो फिर जल्दी ही काम बन जाये, सथारा सीझने मे क्या देरी लगेगी ?

तो मैं कह रहा था कि अन्न के बिना काफी दिन निकाले जा सकते हैं, और जल के बिना भी कुछ दिन तो निकल सकते हैं, किन्तु हवा के बिना ? जेठ-आषाढ की भयकर गर्मी पड रही हो, पसीने से शरीर तरबतर हो रहा हो, हवा बन्द हो गई हो, तो जी कैसे घबराने लगता है ? हाय-हाय करने लगते हैं और कहते हैं कि 'बस मर रहे हैं, हवा के बिना दम घुट रहा है ?' तो अन्न के बिना जहाँ महीनो जीवित रह सकते हैं, जल के बिना भी कुछ दिन जी सकते हैं, वहाँ हवा के बिना पांच-दस मिनट मे ही दम निकलने लग जाता है। जीवन मे हवा का कितना महत्त्व है, यह इसी बात मे स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए हमारे यहाँ कहावत चलती है—'**सौ दवा एक हवा।**' शरीर के लिए सबसे मुख्य बात है हवा। आप कहीं जाते हैं, या कोई कही से आता है तो पहली बात क्या पूछते

हैं—वहाँ की आवोहवा कैसी है ? मतलव कि 'जलवायु' जीवन धारण के लिए मुख्य वात है। यदि जलवायु शुद्ध और स्वच्छ मिलता है तो शरीर स्वस्थ और फुर्तीला वना रहता है। वुढापे मे भी जवानी की-सी तेजी छायी रहती है। अन्न अच्छा पचता है, अच्छी भूख लगती है और उसका वरावर रस वनता है तो शक्ति भी आयेगी, शरीर मे तेज और ओज भी वढ़ेगा, जीव-शक्ति वढेगी। श्रम करने पर थकावट नही आयेगी, आराम से नीद आयेगी, मन प्रसन्न रहेगा। इस प्रकार न तो पाचक गोली, चूर्ण-चटनी खाने की जरूरत, न नीद की गोली लेने की जरूरत और न विटामिन व मल्टी-विटामन की गोलियाँ खा-खाकर ताकत वढाने की जरूरत। फिर डाक्टर का दरवाजा देखने की भी कोई नौवत नही आयेगी। तो यह सव वाते सुनने मे अच्छी लगती हैं। आप चाहते हैं कि जीवन जीयें तो ऐसा ही जीये, मगर यह तभी सम्भव है जव जलवायु शुद्ध मिले। खान-पान शुद्ध-सात्विक व नियमित हो, और यह सम्भव है नियमित एव व्यवस्थित जीवन जीने से। इसी का एक साधन है—शुद्ध एव खुली हवा मे घर हो। स्वच्छ वातावरण मे रहे। यह घर के सम्वन्ध मे दूसरा पहलू हुआ। पहला पक्ष था कि घर वहुत जगल मे, एकान्त मे, वस्ती से दूर न हो, और दूसरा पक्ष है—घर गन्दी वस्ती मे वन्द व अस्वच्छ गलियो मे न हो। यह विचार आज का नही, किन्तु आज से आठ सौ वर्ष पहले का है। मैं समझता हूँ, यह जितना उपयोगी उस युग मे था उससे अधिक उपयोगी आज के समय मे है।

घर के सम्वन्ध मे तीसरा एक यह भी विचार कहा गया है कि घर आम रास्ते पर—अर्थात् जिस रास्ते पर दिन-रात आवागमन होता हो, जो नगर का मुख्य रास्ता हो, ऐसे रास्ते पर भी रहने का मकान नही होना चाहिये। पुराने नगरो मे दुकानें अलग होती थी और घर अलग होते थे। दुकान आम रास्ते पर की अच्छी मानी जाती थी, जहाँ कोई भी रास्ते चलता ग्राहक आ सकता है। किन्तु घर पर तो हर किसी को आने की जरूरत नही, इसलिए वह भीतर मे होता था। आम रास्ते पर घर होने से एक तो दिनभर खट-पट वनी रहती है। कही-कही शहरों मे तो आम रास्ते के घरो मे मोटरो आदि की इतनी खटा-खट रहती है कि सुख से नीद भी नही आ सकती। और वह घर किस काम का, जिसमे मनुष्य वाहर से थक कर विश्राम के लिए आये और वहाँ सुख-चैन से शान्ति के साथ सो भी नही सके। फिर घर मे छोटे वच्चे होते हैं, वे वाहर सडक पर निकल गये तो कही एक्सीडेंट का भय, आवागमन की गर्दी मे खो जाने का भय। दिन-भर वच्चो को सँभालते रहना भी कठिन। इस प्रकार मनुष्य को वाहर मे कमाने की चिन्ता, और घर पर अशान्ति और भय वना रहे तो फिर वह जीवन का, जिन्दगी जीने का आनन्द कहाँ, कैसे ले सकेगा ?

चौथी बात यह कही गई है कि घर मे बाहर निकलने के रास्ते अनेक नही होने चाहिये । कितना ही विशाल घर हो, किन्तु उसमे आने-जाने का रास्ता एक-या दो ही होता है । अधिक रास्ते होने से घर की सुरक्षा को भय रहता है ।

गृहस्थ के घर मे माया रहती है, और माया को भय रहता है । उस पर चोर, लुटेरे, डाकू, बदमाश आदि की नजर रहती है । उनसे घर की रक्षा करने के लिए गृहस्थ को सदा सावधान रहना पडता है । दिन मे भी आजकल वेष बदल कर धोखा दे जाते हैं । आँखो देखते आँखो मे धूल झोक देते हैं, तो रात का समय तो चोरो के लिए बहुत ही अनुकूल होता है । गृहस्थ रात्रि मे सोने से पूर्व घर की सुरक्षा की सब व्यवस्था देखता है, दरवाजे सँभालता है, ताले संभालता है । कही कोई खुला रह जाये और चोरो को अवकाश मिल जाये तो बस *'माल मलाणे पहुँच गया जय गोपाला जय गोपाल'* हो जाता है । इसलिए घर मे आने-जाने के एक दो मार्ग ही होते हैं तो उन पर सावधानी भी रखी जा सकती है, यदि अधिक रास्ते हो तो उन्हे रोज सँभालना, उन पर ध्यान रखना बहुत कठिन होता है, इसलिए कहा गया है कि घर मे अनेक द्वार नही होने चाहिये ।

घर की स्वच्छता

घर के सम्बन्ध मे उपर्युक्त बातें जो कही गई है, उनके लिए आप कह सकते हैं "ये तो उन लोगो के लिए है जिनका अपना घर हो, या अपनी देख-रेख मे बनाते हो, पास मे मनचाहा पैसा हो तो वे जैसा चाहे और जहाँ चाहे बना सकते हैं किन्तु साधारण गृहस्थ को जिसे तेल-नोन-लकडी की फिकर लगी हो, रोज कमाना, रोज खाना, अर्थात् कुआ खोदकर पानी पीना पड़ता हो, और किराये के मकानो मे जैसे भी मिले, काली कोठडी हो, या उजला कमरा हो, उसी मे गुजारा करना पडे—वह बिचारा गृहस्थ इन बातो को जानकर भी इनके अनुसार कैसे चल सकता है ? बडे-बडे शहरो मे जहाँ एक-एक कमरे का सौ-सौ रुपये किराया देना पड़े, और पगडी मे तो पगडी ही उतर जाये, वहाँ मन-इच्छित मकान का कोई प्रश्न ही नही होता । जो भी जैसा भी मिल जाये, भगवान की मर्जी कहिये या मकान मालिक की मर्जी कहिये—उसी मे गुजर करनी पडती है ।" मैं मानता हूँ शहरो मे आजकल मकान की समस्या बहुत जटिल और कष्टमयी समस्या है । भारत जैसे देश मे जहाँ १०'×१०' के एक कमरे मे परिवार के चार-पाँच सदस्यो को जीवन काटना पडता है । पति-पत्नी, बाल-बच्चे या कोई परिवार का बडा-बूढा, मेहमान आदि रहा तो सबको वहीं सोना

पडता हो, वहाँ शुद्ध हवा, स्वच्छ वातावरण एवं लाज-शर्म की वातें वास्तव मे ही मधुर कल्पना के सिवाय और क्या हो सकती हैं ? इस कठिनाई का सबसे मुख्य कारण है जनसख्या की असीमित वृद्धि ! और भी कई कारण हो सकते हैं पर हम इन वातो मे नही जाकर मूल विषय पर ही चलेंगे ।

स्वच्छता स्वर्ग है

घर चाहे छोटा हो, गली मे हो, खुला हो या वन्द हो—यह एक सयोग की वात होती है, किन्तु घर की सफाई और स्वच्छता रखना तो आपके हाथ की वात है । छोटा घर भी यदि स्वच्छ और साफ रखा जाये तो वहुत कुछ अच्छा रह सकता है । मैं देखता हूँ अपने राजस्थान मे घर की स्वच्छता पर वहुत कम ध्यान दिया जाता है । घर मे झाड़ू तो भले ही दो-तीन वार लग जायेगी, किन्तु खाली झाड़ू से ही स्वच्छता नही रह सकती । स्वच्छता के कुछ नियम हैं और उन पर ध्यान रखना वहुत जरूरी है ।

गोचरी आदि के लिए घरो मे जाने का काम पडता है तव देखता हूँ कि कई-कई घर तो ऐसे लगते है कि उनमे जाने का मन ही नही होता । घर मे प्रवेश करते ही जी मिचलाने लग जाता है । कही वच्चो की टट्टी पडी है, कही खँखार-थूक पडा है, थोड़ा-सा ध्यान चूक गये तो पाँव खराव होने का डर । मक्खियाँ भिनभिना रही है, कूड़े के ढेर पडे हैं, नालियो मे वदवू आ रही है, ऐसा लगता है घर है या कोई नरक ! ऐसे घरो मे यदि वीमारी न आये, रोग न फैले तो वच्चो का भाग्य ही समझिये ! वर्ना रोग की निशानियाँ तो वहाँ घर किये वैठी हैं । घर की अस्वच्छता की ये वातें दूर की जा सकती है । घर मे जहाँ-तहाँ थूकना नही चाहिए, कूडा-कचरा नही डालना चाहिए । हर एक काम के लिए घर मे एक-एक स्थान होता है । टट्टी के लिए सन्डास होता है, पेशाव आदि के लिए मोरी होती है, खँखार आदि थूकने के लिए भी या तो मिट्टी मे थूकना चाहिए या फिर ऐसी जगह पर जहाँ किसी का पाव न लगे । ऐसी चीजें पडी रहने मे, स्वच्छता की दृष्टि से भी वुरी है और धार्मिक दृष्टि से भी, आपने सुना होगा—शास्त्रो मे सम्मूर्छिम जीव वताये गये हैं, उनकी उत्पत्ति कहाँ होती है ? मनुष्य के मल-मूत्र, खँखार आदि मे उन जीवो की उत्पत्ति होती है । ऐसी गन्दगी खुली पडी रहने से घर मे अस्वच्छता भी फैलती है, और असख्य संमूर्च्छिम जीवो की उत्पत्ति और विनाश का भी कारण वनती है ।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी डाक्टरो को पूछिए, रोग के कीटाणु सवसे ज्यादा कहाँ होते हैं ? मल-मूत्र और खँखार ही इन कीटाणुओ के पिन्ड होते है । रोगी

मनुष्य का मल-मूत्र, खँखार आदि हमेशा दूर एकान्त मे फेंका जाता है, ताकि उसके कीटाणु दूसरो पर आक्रमण न कर सकें।

आप लोग साधु-सन्तो के पास आते हैं, उनका उपदेश सुनते हैं, जीवन देखते हैं, पर क्या उपदेश सुनकर और जीवन का आदर्श देखकर यो ही अनसुना-अनदेखा करके चले जाते हैं ? शास्त्र से भी सत्सग का महत्त्व इसीलिए तो अधिक है कि शास्त्र केवल वताता है, जवकि साधु के जीवन मे उन सिद्धान्तो का व्यावहारिक रूप प्रकट होता है। तो मैं कह रहा था—साधुओ के जीवन मे आप देखते हैं–कितनी स्वच्छता और सफाई रहती है। अपने घर का भोजन स्थान देखिए और साधुओ का भोजन-स्थान। पूरे स्थानक मे घूम लेने के वाद भी शायद आपको यह पता नही चलेगा कि भोजन कहाँ किया जाता है। और आपके घर मे ? इतनी झाड़ू-बुहारी और धुलाई-सफाई करते हुए भी जगह-जगह मक्खियाँ भिनभिनाती दिखाई देंगी ! हमारे झोली, पात्र और आहार के माँडले आदि देखिए कितने स्वच्छ और साफ रखे जाते हैं। वासी चिकना वस्त्र-पात्र दूसरे दिन काम मे भी नही लिया जाता। खँखार आदि हाथ को लग गया तो धोये बिना हाथ किसी पानी आदि को भी नही लगा सकते। ये वातें आपको सीखने की है। जैनधर्म मे स्वच्छता का वहुत सूक्ष्म ध्यान रखा गया। आचार्यों ने तो कहा है—"स्वच्छता स्वर्ग का रूप है। जिस घर मे स्वच्छता और सफाई रहती है वहाँ देवता रमण करते हैं। अस्वच्छ घर नरक तुल्य है। अस्वच्छ मनुष्य, अस्वच्छ घर, पाप की मूर्ति है।" इसलिए यदि आप अपने छोटे से घर मे भी आनन्द एव सुखपूर्वक रहना चाहते है तो सवसे पहला नियम यह रखना होगा कि घर की स्वच्छता का पूरा ध्यान रखा जाये।

कुछ वर्ष पूर्व जव आइजनहॉवर अमेरिका के राष्ट्रपति वने तो एक व्यक्ति ने उन्हें एक वन्द पैकेट मे उपहार भेजा। पैकेट खोला तो उसमे एक झाड़ू और एक पत्र था। उपहारकर्ता ने लिखा था कि—"आपने अपने चुनाव भाषणो मे कहा था कि राष्ट्रपति वनने के वाद मैं देश की सफाई करूँगा तो उस कार्य के लिए यह 'झाड़ू' उपहार मे भेजा जा रहा है।"

आइजनहॉवर ने प्रसन्नतापूर्वक वह उपहार स्वीकार किया और कहा—"मुझे मिले सब उपहारो मे यह उपहार सर्वोत्तम है। मैं इससे अपने घर की सफाई करूँगा और देश की स्वच्छता और सफाई के लिए सतत जागरूक रहूँगा।"

चाहे कोई छोटा आदमी हो या वडा आदमी—घर की स्वच्छता सबके लिए आवश्यक है। आजकल देखते हैं—वड़े-वडे घरो मे सफाई का काम नीचा

पडता हो, वहाँ शुद्ध हवा, स्वच्छ वातावरण एव लाज-शर्म की बातें वास्तव में ही मधुर कल्पना के सिवाय और क्या हो सकती हैं ? इस कठिनाई का सबसे मुख्य कारण है जनसंख्या की असीमित वृद्धि ! और भी कई कारण हो सकते हैं पर हम इन बातो मे नही जाकर मूल विषय पर ही चलेंगे ।

स्वच्छता स्वर्ग है

घर चाहे छोटा हो, गली मे हो, खुला हो या वन्द हो—यह एक सयोग की वात होती है, किन्तु घर की सफाई और स्वच्छता रखना तो आपके हाथ की वात है । छोटा घर भी यदि स्वच्छ और साफ रखा जाये तो वहुत कुछ अच्छा रह सकता है । मैं देखता हूँ अपने राजस्थान मे घर की स्वच्छता पर वहुत कम ध्यान दिया जाता है । घर मे झाडू तो भले ही दो-तीन वार लग जायेगी, किन्तु खाली झाडू से ही स्वच्छता नही रह सकती । स्वच्छता के कुछ नियम हैं और उन पर ध्यान रखना वहुत जरूरी है ।

गोचरी आदि के लिए घरो मे जाने का काम पडता है तव देखता हूँ कि कई-कई घर तो ऐसे लगते है कि उनमे जाने का मन ही नही होता । घर मे प्रवेश करते ही जी मिचलाने लग जाता है । कही वच्चो की टट्टी पडी है, कहीं खँखार-थूक पडा है, थोडा-सा ध्यान चूक गये तो पाँव खराव होने का डर । मक्खियाँ भिनभिना रही है, कूड़े के ढेर पडे हैं, नालियो मे वदवू आ रही है, ऐसा लगता है घर है या कोई नरक ! ऐसे घरो मे यदि वीमारी न आये, रोग न फैले तो वच्चो का भाग्य ही समझिये ! वर्ना रोग की निशानियाँ तो वहाँ घर किये वैठी हैं । घर की अस्वच्छता की ये वातें दूर की जा सकती हैं । घर मे जहाँ-तहाँ थूकना नहीं चाहिए, कूडा-कचरा नही डालना चाहिए । हर एक काम के लिए घर मे एक-एक स्थान होता है । टट्टी के लिए सन्डास होता है, पेशाव आदि के लिए मोरी होती है, खँखार आदि थूकने के लिए भी या तो मिट्टी मे थूकना चाहिए या फिर ऐसी जगह पर जहाँ किसी का पाव न लगे। ऐसी चीजें पडी रहने से, स्वच्छता की दृष्टि से भी वुरी है और धार्मिक दृष्टि से भी, आपने सुना होगा—शास्त्रो मे सम्मूर्छिम जीव वताये गये हैं, उनकी उत्पत्ति कहाँ होती है ? मनुष्य के मल-मूत्र, खँखार आदि मे उन जीवो की उत्पत्ति होती है । ऐसी गन्दगी खुली पडी रहने से घर मे अस्वच्छता भी फैलती है, और असख्य संमूर्च्छिम जीवो की उत्पत्ति और विनाश का भी कारण वनती है ।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी डाक्टरो को पूछिए, रोग के कीटाणु सवसे ज्यादा कहाँ होते हैं ? मल-मूत्र और खँखार ही इन कीटाणुओ के पिन्ड होते हैं । रोगी

मनुष्य का मल-मूत्र, खँखार आदि हमेशा दूर एकान्त मे फेंका जाता है, ताकि उसके कीटाणु दूसरो पर आक्रमण न कर सकें।

आप लोग साधु-सन्तो के पास आते हैं, उनका उपदेश सुनते हैं, जीवन देखते हैं, पर क्या उपदेश सुनकर और जीवन का आदर्श देखकर यो ही अनसुना-अनदेखा करके चले जाते हैं ? शास्त्र से भी सत्सग का महत्त्व इसीलिए तो अधिक है कि शास्त्र केवल बताता है, जबकि साधु के जीवन मे उन सिद्धान्तो का व्यावहारिक रूप प्रकट होता है। तो मैं कह रहा था—साधुओ के जीवन मे आप देखते हैं–कितनी स्वच्छता और सफाई रहती है। अपने घर का भोजन स्थान देखिए और साधुओ का भोजन-स्थान। पूरे स्थानक मे घूम लेने के बाद भी शायद आपको यह पता नही चलेगा कि भोजन कहाँ किया जाता है। और आपके घर मे ? इतनी झाड़ू-बुहारी और धुलाई-सफाई करते हुए भी जगह-जगह मक्खियाँ मिनमिनाती दिखाई देंगी ! हमारे झोली, पात्र और आहार के मांडले आदि देखिए कितने स्वच्छ और साफ रखे जाते हैं। बासी चिकना वस्त्र-पात्र दूसरे दिन काम मे भी नही लिया जाता। खँखार आदि हाथ को लग गया तो धोये बिना हाथ किसी पानी आदि को भी नही लगा सकते। ये बातें आपको सीखने की हैं। जैनधर्म मे स्वच्छता का बहुत सूक्ष्म ध्यान रखा गया। आचार्यों ने तो कहा है—"स्वच्छता स्वर्ग का रूप है। जिस घर मे स्वच्छता और सफाई रहती है वहाँ देवता रमण करते हैं। अस्वच्छ घर नरक तुल्य है। अस्वच्छ मनुष्य, अस्वच्छ घर, पाप की मूर्ति है।" इसलिए यदि आप अपने छोटे से घर मे भी आनन्द एव सुखपूर्वक रहना चाहते हैं तो सबसे पहला नियम यह रखना होगा कि घर की स्वच्छता का पूरा ध्यान रखा जाये।

कुछ वर्ष पूर्व जब आइजनहॉवर अमेरिका के राष्ट्रपति बने तो एक व्यक्ति ने उन्हें एक बन्द पैकेट मे उपहार भेजा। पैकेट खोला तो उसमे एक झाड़ू और एक पत्र था। उपहारकर्ता ने लिखा था कि—"आपने अपने चुनाव भाषणो मे कहा था कि राष्ट्रपति बनने के बाद मैं देश की सफाई करूँगा तो उस कार्य के लिए यह 'झाड़ू' उपहार मे भेजा जा रहा है।"

आइजनहॉवर ने प्रसन्नतापूर्वक वह उपहार स्वीकार किया और कहा—"मुझे मिले सब उपहारो मे यह उपहार सर्वोत्तम है। मैं इससे अपने घर की सफाई करूँगा और देश की स्वच्छता और सफाई के लिए सतत जागरूक रहूँगा।"

चाहे कोई छोटा आदमी हो या बडा आदमी—घर की स्वच्छता सबके लिए आवश्यक है। आजकल देखते हैं—बड़े-बडे घरो में सफाई का काम नीचा

समझा जाता है और वह नौकरो के भरोसे रहता है। सेठानी अपने घर मे झाड़ू लगाना अपनी तौहीन समझती है। सेठजी को भी शर्म आती है कि इतने बड़े आदमी झाड़ू को हाथ कैसे लगाये! घर मे कहीं कचरा पडा है, कही झूठे बर्तन पड़े हैं, और कही गन्दगी पडी है, पर जब तक नौकर नही आये और सफाई नही करे तब तक वह कचरा और गन्दगी वैसे ही पडी रहती है। हाथ से काम करने मे शर्माना रईसी नही है। यह तो आलस्य है। यह कैसी शान और कैसी सेठाई कि कूडे-कचरे मे भले ही बैठ जाओ, पर हाथ से झाड़ू न लगाओ। घर मे झूठे बर्तन पड़े हैं, मक्खियाँ भिनभिना रही है, जीव-जन्तु पड रहे हैं, गन्दगी भी फैलती है और हिंसा भी होती है, पर सेठानी अपनी पोजीशन लिए बैठी है कि जब तक बर्तन वाली नौकरानी नही आयेगी वे वैसे ही पड़े रहेगे। वास्तव मे हाथ से काम करने मे स्वच्छता और सफाई रखने मे शर्माना समझदारी नही है। ससार मे बडे-बड़े आदमियो के उदाहरण हैं कि वे अपना काम अपने हाथो से करते थे। गाधीजी का तो आदर्श था—अपनी झूठी थाली अपने हाथो माँजते थे, समय पडने पर अपना ही नही, दूसरो के टट्टी-पेशाब भी वे साफ करने मे कभी हिचकते नही थे। उनके आश्रम मे बडे-बडे नेता अपने हाथो से झाड़ू लगाते, अपने बर्तन माँजते, अपनी सफाई खुद करते। जब आदर्श घर की बात चली है तो यह कह देना चाहता हूँ कि घर को आदर्श बनाने के लिए स्वच्छता और सफाई सबसे पहली शर्त है। और स्वच्छता की पहली शर्त है—हाथ से काम करने मे शर्माना नही चाहिए।

बौद्धजातक मे वर्णन आता है कि बुद्ध अपने पिछले जन्म मे एक किसान के घर पैदा हुए। मघा नक्षत्र मे उनका जन्म हुआ इसलिए माता-पिता ने उसका नाम रखा 'मघा'। मघा की जन्मकुडली बनाने वाले ज्योतिषियो ने बताया कि यह बहुत बडा आदमी बनेगा। कोई महापुरुष होगा। माता-पिता ने उस पर आशाओ के पुल बाँधे। पर बडा होने पर मघा तो पढने-लिखने मे बिलकुल कमजोर निकला। उसे एक शौक था, दिन-भर घर की सफाई करता रहता। घर को साफ-सुथरा रखना, स्वच्छता रखना बस यही उसका सबसे प्यारा काम था। मघा और बडा हुआ तो उसने पास-पडौस की सफाई का काम शुरू कर दिया, फिर मुहल्ले की सफाई करने लगा। शुरू-शुरू मे लोगो ने उसे सनकी और मूर्ख समझा, उसका मजाक किया, पर जब वह प्रण पर डटा रहा तो कुछ लोग उसका सहयोग भी करने लगे। धीरे-धीरे उसके साथियो की टोली तैयार हो गई और अब उन्होंने नगर भर की सफाई का व्रत ले लिया। नगर की गन्दगी समाप्त हो गई, मास और मदिरा की दुकानें उठ गई। चारो ओर स्वच्छता से नगर महकने लगा। लोगो की बीमारियाँ दूर हो गई, व्यभिचार

के अड्डे उठ गये। लोग सुखी, समृद्ध और स्वस्थ रहने लगे। अब तो मघा को लोग महात्मा की तरह पूजने लगे और देश भर मे उसकी कीर्ति फैल गई। मघा ने लोगो से कहा—"नगर की सफाई का काम पूरा हो गया है, अब तुम अपने भीतर की सफाई शुरू करो। मन को साफ करो, और उसके लिए—हिसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, मद्य-मास आदि का त्याग करो।" मघा के उपदेशो से लोगो के जीवन का कायाकल्प हो गया और एक महापुरुष के रूप मे लोग उसे पूजने लगे।

स्वच्छता जीवन मे यह मोड लाती है। बाहर की सफाई, स्वच्छता जिसे प्रिय होती है धीरे-धीरे उसकी दिशा आन्तरिक स्वच्छता की ओर भी मुड जाती है। तन की और भवन की स्वच्छता के साथ वह मन की स्वच्छता पर भी ध्यान देता है और इस प्रकार उसका जीवन आन्तरिक पवित्रता से चमक उठता है।

अच्छा पड़ौस!

आदर्श घर की यह सब बातें हो जाने के बाद एक बात और रह गई है और वह है—'अच्छा पडौस'।

अपने यहाँ सात सुख माने गये है। कहा गया है—

पहला सुख है नीरोगी काया।
दूजा सुख है घर मे माया।
तीजा सुख है पतिव्रता नारी।
चौथा सुख है पुत्र आज्ञाकारी।
पांचवां सुख है सुथाण का वासा।

यहाँ हमने पांचवे सुख के विषय मे ही विचार किया है। सुस्थान का मतलब अच्छे स्थान व अच्छे पडौस से है। स्थान अच्छा है लेकिन पास-पडौस अच्छा नही, पडौसी कलह करने वाले हैं। चोर हो, बदमाश हो, तो रात-दिन उनसे भय बना रहता है, धोखा रहता है। दूसरी बात परिवार मे स्त्रियाँ होती हैं, बच्चे भी होते हैं। बच्चे घर की चारदीवारी में बन्द तो नही रह सकते। वे पडौस के बच्चो के साथ ही मिलेंगे, यदि पडौस के बच्चो के सस्कार अच्छे नही है, तो धीरे-धीरे आपके बच्चो मे भी वे बुरी आदतें, बुरे सस्कार आ जायेंगे। आप चाहे कितना अच्छा खिलाइये, कितने अच्छे कपडे पहनाइये, और अच्छे से अच्छे स्कूल मे पढाइये लेकिन वे अच्छी बातें बच्चा इतनी जल्दी नही सीखेगा जितनी सगति से बुरी बातें सीखेगा। अपने यहाँ कहावत है—"कालिये के पास

घोलियो वैठे तो रंग तो नहीं आवे पण ढग आजावें" सगति का असर वहुत जल्दी वच्चे के मन पर पडता है।

एक भाई वता रहे थे कि उनका इकलौता लडका पाँच वर्ष का है। वे उसके खाने-पीने पर वहुत ध्यान रखते हैं, घर मे अच्छी शिक्षाएं देते हैं, माँ-वाप के अच्छे सस्कार हैं, किन्तु वच्चा गन्दी-गन्दी गालियाँ सीख गया। वीडी-सिगरेट के जले टुकडे उठाकर छुप-छुप कर पीने लग गया। उसकी आदतें देखकर माँ-वाप हैरान थे। कहाँ से यह ऐसी वातें सीख रहा है। विचारे वडे परेशान थे। आखिर उन्हें पता चला कि पडौस के वच्चो की सगति के कारण लडका विगड रहा है। माँ-वाप की शिक्षा का कोई असर नही हुआ। आखिर वच्चे का भविष्य चौपट होता देखकर उस भाई को वह घर छोडना पडा। तो यह है पडौस का असर! इसलिए आचार्य ने कहा—"गृहस्थ को पडौस सदा अच्छा सस्कारी देखना चाहिए। वच्चो का मन कोमल होता है, कच्चा होता है, वह वहुत जल्दी प्रतिविम्व को ग्रहण करता है और वे प्रतिविम्व जीवन मे चिर-स्थायी हो जाते हैं, इसलिए गृहस्थ को पडौस का सदा ध्यान रखना चाहिए।"

इस प्रकार अच्छे स्थान पर, शुद्ध आवोहवा मे और अच्छे पडौस मे घर वनाना और स्वच्छता रखना यह गृहस्थ के आदर्श घर का रूप है, जो आचार्य ने इस वोल मे वताया है। ☆☆

१२

संगत कीजै साध की

कहते हैं लुकमान हकीम वहुत वडा विद्वान और सदाचारी था। एक वार मरते समय उसने अपने वेटे को पास मे वुलाया और आखिरी समय की सव वातें उसे समझाई। वेटे ने पूछा—"पिताजी और कुछ कहना है ?" लुकमान को अतिम सांस आ रही थी, कहा—हां, एक वात कहना भूल गया। लुकमान ने इशारा किया—वेटे ने सामने पडे धूपदान में से चदन का चूरा हाथ मे लेकर लुकमान के सामने किया। फिर लुकमान ने एक इशारा किया—वेटा चूल्हे मे से एक कोयला हाथ मे उठाकर ले आया। लुकमान ने देखा और कहा—"दोनो को गिरा दो !" गिरा दिया। अव लुकमान ने वेटे की हथेली देखी और कहा—"वेटा ! जिस हथेली मे चन्दन था, वह चन्दन गिर जाने पर भी महक रही है, और कोयले वाली ? कोयला गिर जाने पर भी काली हो रही है !"

वेटा कुछ समझा नही, कहा—"पिताजी ! आप कहना क्या चाहते है ?"

लुकमान लम्बी सांस लेकर वोला—"वेटा ! अच्छे आदमियो की सगत-सोवत चन्दन जैसी है, जो जव तक सगत मे रहो तव तक तो खुशवू देती ही है, किन्तु उसके वाद मे भी जिन्दगी को अच्छे विचारो की सुगध से तरोताजा रखती है। और दुर्जनो की सगत कोयले के समान है—हाथ मे रखने पर भी तकलीफ और छोड देने के वाद भी हाथ काला ! दुर्जनो के पास मे बैठो तव तक तो मन वुरे विचारो और दुष्ट सकल्पो मे दौडता ही है किन्तु वाद मे भी उन्ही दुर्विचारो एव दुष्ट सकल्पो से घिरा रहता है। "वेटा ! जीवन मे चन्दन जैसे आदमियो का साथ करना, कोयले जैसो का नहीं !"—लुकमान ने अतिम वात कही।

संगति का असर

लुकमान की अतिम सीख जीवन का सबसे बडा रहस्य खोल देती है। मनुष्य समाज मे रहता है इसलिए समाज के साथ, हजारो आदमियों के सम्पर्क मे रहना होता है। समाज मे चन्दन जैसे सत्पुरुष भी मिलते हैं, और कोयले जैसे दुर्जन भी ! किसका सम्पर्क करना, किसकी सगति मे रहना और किसकी सगति न करना—यह विवेक आपको करना होता है। यदि आपको जीवन मे सद्‌विचारो की सुगध चाहिए, सद्‌गुणो की महक चाहिए तो चन्दन जैसे सत्पुरुषो की सगति करनी होगी। अन्यथा कोयले जैसे साथी तो अपने आप मिल ही जायेंगे !

सद्‌गृहस्थ का आठवाँ आदर्श बताते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—**कृतसंग सदाचारैः**—अर्थात् सदाचारी—उत्तम आचार-विचार वाले पुरुषो की सगति करनी चाहिए।

सदाचारी कौन ? यह बताने की शायद आवश्यकता नही है। सोना कैसा होता है ? यह किसी को बताने की जरूरत नहीं पडती ? फिर भी जहाँ जरूरत पडी, वहाँ बताया भी गया है—"जिसमे सज्जनता हो सहिष्णुता हो, दूसरो की भलाई करने की भावना हो, कृतज्ञता हो, उदारता हो, अपने अवगुणो की निन्दा और दूसरो के गुणो की प्रशसा करते हों, कष्ट मे धैर्य और सुख मे समता हो—इस प्रकार के गुण जिनमे हो—वे सत्पुरुष, सज्जन या सदाचारी पुरुष कहलाते हैं। सत्पुरुष की व्याख्या करते हुए भर्तृहरि ने नीतिशतक मे कहा है—

> विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
> सदसि वाक्पटुता युधिविक्रमः।
> यशसि चाभिरुचिर्व्यसन श्रुतौ
> प्रकृतिसिद्धमिद हि महात्मनाम् ॥

विपत्ति मे धैर्य, उन्नति मे विनम्रता, सभा मे वचन-पटुता, युद्ध मे वीरता, गुणो के प्रति अभिरुचि और सत्‌शास्त्र-श्रवण मे तल्लीनता, महापुरुषो के ये जन्मजात लक्षण हैं।

हमारा रहन-सहन, बात-चीत, संपर्क ऐसे व्यक्तियो के साथ रहना चाहिए जिनसे हमे कुछ अच्छे विचार मिलें, जिनके साथ बैठने से जीवन मे कुछ विशिष्टता आये, अनुभव मिले, हमारे ज्ञान की वृद्धि हो, मन मे पवित्रता और दृढता का सस्कार जगे।

सूत्रो मे वताया गया है, साधक को कैसे व्यक्तियो के साथ रहना चाहिए ? इसके उत्तर मे वहाँ दो बाते कही हैं—

"गुणाहियं वा गुणओ सम वा"

—उत्तराध्ययन ३२।५

सवसे पहले ऐसे व्यक्तियों का साथ खोजना चाहिए जो ज्ञान, विनय, साधना, अनुभव आदि मे अपने से श्रेष्ठ हो, विशिष्ट हो। चूँकि नीति का यह सूत्र है कि—

हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात् ।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥

व्यक्ति यदि अपने से हीन व निकृष्ट व्यक्ति के साथ मे रहता है तो वह भी हीन हो जाता है। उसके विचार, बुद्धि और सस्कार भी हीन हो जाते हैं। बुद्ध ने जातक मे कहा है—

बालूपसेवी यो होति बालो व समपज्जथ

—जातक २२।५४१।४३६

मूर्ख की सगति मे रहने वाला मूर्ख ही हो जाता है। अगुत्तरनिकाय मे भी तथागत ने इसी बात पर जोर दिया है—

निहीयति पुरिसो निहीनसेवी,
न च हायथ कदाचि तुल्यसेवी।
सेट्ठमुपनम उदेति खिप्पं,
तस्मा अत्तनो उत्तरिं भजेथा ॥

—अंगुत्तरनिकाय ३।३।६

जो शील और प्रज्ञा मे अपने से हीन है उस व्यक्ति के सग से मनुष्य हीन हो जाता है, बराबर वाले के सग से हीन नही होता, तुल्य रहता है। अपने से श्रेष्ठ का सग करने से मनुष्य का उदय-विकास होता है, इसलिए सदा श्रेष्ठ पुरुषो की ही सगति करनी चाहिए।

यदि अपने समान शील व सस्कार—विचार वाले व्यक्ति का ससर्ग होता है तो व्यक्ति जहाँ है वहाँ स्थिर रह सकता है, प्रगति नहीं हो, तो अवनति भी नही होती। और यदि अपने से विशिष्ट गुणाधिक सत्पुरुष का सम्पर्क होता है तो उसके गुणो मे, व्यवहार एव सस्कार मे, आचार-विचार मे एक विशिष्ट तेज और विलक्षण निखार आ जाता है।

शास्त्र के उक्त कथनानुसार या तो अपने समान गुणी के साथ रहना चाहिए, या मिल सके तो अपने से विशिष्ट पुरुषो का साथ करना चाहिए। यदि ऐसा साथ व ससर्ग न मिले तो अपने से हीन गुणो वाले व्यक्ति के साथ तो कभी भी नही रहना चाहिए, भले ही अकेला रहना पड़े। कहा है—

एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो।

अकेला रहना फिर भी ठीक है, किन्तु मूर्ख व अज्ञानी के साथ कभी भी सम्पर्क नही रखना चाहिए। इसका भाव यह है कि उत्तम व्यक्ति के ससर्ग से मनुष्य के चरित्र का उत्तरोत्तर विकास होता है, उसके सस्कारो का परिष्कार होता है और विचारो मे गम्भीरता आती है।

शेखसादी जो बहुत बड़े नीतिज्ञ माने जाते हैं, उन्होने लुकमान की उपर्युक्त घटना लिखकर अन्त मे एक बात लिखी है—"**तुख्मे तासीर सौहबते असर**"—बीज को जैसी भूमि खाद व जलवायु मिलती है उसमे वैसी ही तासीर आती है, और आदमी को जैसी सौबत मिलती है उसमे वैसा ही असर आता है।

कल्पना करिये—एक व्यक्ति शराबी की दुकान पर जाकर बैठता है, शराबी आदमियो के साथ रहता है। आप उसे देखकर क्या सोचेंगे ? जरूर यह भी शराब पीता होगा ? वह भले ही सौगन्ध खाकर आपको कहे कि मैं शराब नही पीता, फिर भी आपको विश्वास नही होगा, क्योकि उसकी सगति वैसी है। जैसी सगत वैसी रगत ! बुरी सगत मे रहकर आदमी बुरा बने या न बने पर बुरा कहलाने लग जाता है। इसीलिए कहा है—

बद की सौबत में मत बैठो, बद का है अंजाम बुरा।
बद न बनो, पर बद कहलाओ, बद अच्छा, बदनाम बुरा।

भाई ! इस ससार मे बद से भी बुरा है बदनाम ! बदनाम हो गये तो फिर कितने भी दूध से धुले हो, लोग आपको बुरा ही कहेंगे। शराब की दुकान पर बैठने वाला भले ही शराब न पिये पर शराब की बदबू तो आयेगी और लोगो की नजर मे तो वह शराबी कहलायेगा।

और एक व्यक्ति है, जो इत्र वाले की दुकान पर बैठता है, गन्धी के साथ बैठा है—वह भले ही इत्र न खरीदे पर इत्र की सुगन्ध तो अवश्य ही उसके मस्तिष्क को ताजगी देगी ! सत्पुरुषो की सगति भी ऐसी ही है—

कबिरा सगति साध की, ज्यो गन्धी का वास।
जो कछु गन्धी दे नहीं, तो भी वास-सुवास॥

इस दुनिया मे कही शराव की दुकानें खुली हैं—जहाँ दुर्विचारो की वदवू भडक रही है, और कही गन्धियो की दुकानें लगी हैं—जहाँ सद्‌विचारो की सुवास महक रही है। आप जैसी दुकान मे वैठेंगे वैसी ही गन्ध से आपका मन-मस्तिस्क प्रभावित होगा। यदि आपको सत्पुरुषो की सगति मिलती है, वडे आदमियो के साथ रहने का अवसर मिलता है तो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे आपके जीवन मे भी उनकी महानता का प्रतिविम्व अवश्य झलकेगा। आपकी वोलचाल, रहन-सहन, सभ्यता-सस्कार उसी प्रकार से उच्चस्तर के हो जायेंगे और आप भी धीरे-धीरे उनकी श्रेणी मे आ वैठेंगे।

सत्संग से लाभ

भारतीय नीतिशास्त्र मे मनुष्य के आचार-व्यवहार की वडी सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक वातें वताई गई है। वहाँ एक जगह पूछा है कि सम्पर्क, मित्रता और मेल-जोल किनके साथ रखना चाहिये ? उत्तर मे आचार्य वृहस्पति ने कहा है—

कुलीनैः सह सम्पर्क पडितैः सह मित्रताम्।
ज्ञातिभिश्च सम मेल कुर्वाणो नावसीदति॥

कुलीन-खानदानी और सभ्य व्यक्तियो के साथ सम्पर्क रखना, पण्डित-विद्वानो के साथ मित्रता, और अपने स्वजाति वन्धुओ, भाई-विरादरी के साथ मेल-जोल रखना चाहिए। कुलीनो का सम्पर्क, विद्वानो की मित्रता और जाति-वन्धुओ का मेल-जोल मनुष्य को समय पर सहयोग देता है, कष्टो से वचाता है और विपत्ति मे उवारने वाला होता है।

आप देखते हैं, अच्छे से अच्छे वस्त्र पर भी जव कीचड, मिट्टी या पान आदि के दाग लग जाते हैं तो वे कितने गन्दे लगते हैं ? गन्दगी का थोडा-सा असर भी वहुमूल्य और सुन्दर वस्त्र की शोभा को खतम कर देता है। इसी प्रकार वद-सगति एक का क्षण भी मनुष्य के पवित्र जीवन को मलिन और हीन वना देता है। और सत्सगति का एक क्षण ? एक क्षण ही मानव-जीवन मे आमूलचूल परिवर्तन कर जाता है। छोटे-छोटे रजकण जो नित्यप्रति आपके पैरो से रौंदे जाते हैं, गन्दगी और मलमूत्र का रोज स्पर्श पाते रहते हैं, हवा का ससर्ग पाकर आकाश मे चढ जाते हैं, आपके सिर पर छा जाते हैं और सूर्य के तेज को भी धुंधला वना देते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—"गगन चढहि रज पवन प्रसगा"—रजकण हवा के संग से आकाश मे चढ जाते हैं वैसे ही पतित, दुष्ट और नीच व्यक्ति भी सत्सग पाकर महान और पूजनीय वन जाते हैं। रत्नाकर डाकू जैसो मे महाकवि वाल्मीकि की दिव्य आत्मा

जाग उठती है, और हत्यारे अर्जुनमाली मे क्षमासागर श्रमण का भव्य रूप प्रकट हो जाता है। यह किसका असर है? सत्सग का! साधुजनो की सेवा और सगति का?

रास्ते मे पडा एक पत्थर, जो हजारो आदमियो की ठोकरें खाता था, एक दिन किसी एक मूर्तिकार (शिल्पकार) के हाथ मे चढ गया। शिल्पकार ने उस पर छैनी चलाई, अपनी कल्पना से उसमे आकार वनाया और देखते ही देखते पत्थर ने भगवान का रूप धारण कर लिया। पैरो की ठोकरें खाने वाला पत्थर अव मन्दिर में पहुँच गया, सिंहासन पर विराजमान हुआ, लोग भगवान मानकर पूजने लगे, घटे घडियाल वजने लगे, अभिषेक होने लगा—हजारों आदमी जो उस पर ठोकरें मारकर चलते थे अव हाथ जोड कर प्रार्थना करने लग गये! वन्धुओ! यह किसका प्रभाव है? पत्थर ने शिल्पकार का सम्पर्क किया, तो शिल्पकार के हाथो ने पत्थर को भगवान वना दिया। यदि वह पत्थर किसी राज के हाथ मे जाता तो दीवाल मे जड दिया जाता और ससार से उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता! यह है सगति का असर! सम्पर्क का लाभ!

देखिए जल की एक वूंद तपे हुए गर्म तवे पर गिरी और झनझनाकर समाप्त हो गई। एक वूंद सांप के मुंह मे गिरी और वह विष वन गई। एक वूंद सीप के मुंह मे गिरी, तो वह मोती वन गई! और एक वूंद गुलाव के फूल पर गिरी तो सुरभित होकर दमकने लग गई। यह किसका असर है? जल तो सर्वत्र एक समान है, किन्तु पात्र भिन्न-भिन्न है। सम्पर्क और ससर्ग के अन्तर से ही एक वूंद विष वनती है, एक अमृत! एक जलकर समाप्त हो जाती है और एक चांदी सी चमकने लगती है।

हमारे जीवन मे सगति का इसी प्रकार अच्छा और वुरा प्रभाव पडता है। वातावरण—जिसे अग्रेजी मे ऐनवायरनमेंट कहते है, मन का निर्माण करते है, मनुष्य के चरित्र का निर्माण करते हैं। यदि आपका वातावरण उच्चस्तर का है, सुन्दर सस्कार और विचारो से भरा है तो सहज ही आपके जीवन में, चरित्र मे और भावनाओ मे उनका प्रभाव पडता रहेगा। प्राचीन समय में, प्राचीन भापा मे हम जिसे सगति कहते थे, आज का मनोविज्ञान उसे वातावरण —ऐनवायरनमेंट कहता है और मानता है कि चरित्र निर्माण मे ६०% से भी अधिक वातावरण का प्रभाव पडता है।

दो तोते

प्राचीन साहित्य मे दो तोतो की कहानी आती है। एक राजा किसी

सघन जगल मे अकेला निकल गया। मार्ग मे डाकुओ की एक पल्ली पडती थी। राजा को अकेले घोडे पर आता देखकर एक तोता चिल्लाने लगा—"वध्यताम्-लुट्यताम्—मारो-लूटो" राजा ने तोते की ओर देखा, कितना दुष्ट है! अपने रक्षको को सूचित करता है—"मारो-लूटो!" राजा ने सावधान होकर घोडे को तेज किया और शीघ्र ही एक ऋषि के आश्रम मे पहुँच गया। वहाँ पहुँचते ही एक तोता जो वृक्ष पर पिंजरे मे बैठा था—मधुर स्वर मे पुकारने लगा—"स्वागतम्! सुस्वागतम्! अतिथि देवो भव!" स्वागत है, आइए! अतिथि देवता का स्वागत करिए। तोते की वाणी से राजा को बहुत प्रसन्नता भी हुई और आश्चर्य भी। तभी ऋषिगण कुटिया से फल व जल लेकर राजा का स्वागत करने उपस्थित हुए। राजा थक कर चूर हो गया था, शीतल जल व फलो से तृप्त होकर, उसने ऋषियो से पूछा—"महाराज! एक कुल मे उत्पन्न एक समान प्रतीत होने वाले इन तोतो मे इतना अन्तर क्यो है? एक मनुष्य को देखकर 'मारो-लूटो' की आवाज लगाता है, और दूसरा 'स्वागत! स्वागत' पुकारता है।"

ऋषियो ने कहा—राजन्!—"संसर्गजा दोष गुणाभवन्ति।"—ये दोष और गुण ससर्ग से ही आते हैं। आप जिन तोतो की बात कह रहे है वे दोनो साथ मे जन्मे हुए हैं, किन्तु एक डाकुओ के हाथ पडा, उन्ही की सगति मे रहा और दूसरा ऋषियो के आश्रम मे पला है। जैसा जिसको वातावरण मिला वैसा ही उसका स्वभाव बन गया।

जीवन मे कही भी, किसी भी क्षेत्र मे आप देखिए, मनुष्य को जैसी सगति मिलती है, जैसा वातावरण मिलता है उसी के अनुसार उसका विकास होने लगता है। मनुष्य मे ही नही, पशु पक्षी और वनस्पति तक मे वातावरण का प्रभाव पडता है। एक पौधा आप घर मे लगाते है, एक बगीचे मे और एक खुले जगल मे। तीनो ही क्षेत्रो मे उसके विकास एव विस्तार मे अन्तर रहेगा। जगल का वृक्ष जितना विस्तार पा सकेगा, घर का या बगीचे का वृक्ष उतना विस्तार कभी नही पा सकेगा? क्योकि उनके विकास मे वातावरण का अन्तर जो रहता है।

सत्संग का मनोवैज्ञानिक महत्त्व

मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ। आप अपने बच्चो को पाँच रुपया महीने वाले स्कूल मे नही भेजकर जहाँ पचास रुपया महीना फीस लगती है वहाँ क्यो भेजते हैं? पुस्तकें और कोर्स तो दोनो जगह समान ही हैं, परीक्षा और डिग्रियाँ भी समान हैं, फिर क्या कारण है? आप कहेंगे—वातावरण का

फर्क है, सोसायटी का फर्क है, और यह वातावरण एव सोसायटी ही बच्चे के विकास का मूल आधार है, इसी पर से उसमे सस्कारो का निर्माण होता है, उसका चरित्र बनता है।

जो बात वनस्पति, पशु-पक्षी और बच्चो के जीवन के सम्बन्ध मे है, वही बात बड़े आदमियो के लिए भी है। अच्छा ससर्ग पाकर दुष्ट व्यक्ति भी साधु बन जाते है, और बुरा ससर्ग पाकर भले व्यक्ति भी बुरे, दुष्ट एव पतित हो जाते हैं। इस नैतिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को सामने रखकर ही आचार्यों ने कहा है—**कृतसंगसदाचारैः**—गृहस्थ हमेशा सदाचारी पुरुषो का सग करे, सत्पुरुषो की सगति करे और उनके आदर्शों से, उनके चरित्र से शिक्षा ग्रहण करे।

मनोवैज्ञानिको की एक मान्यता है कि 'मनुष्य का स्वभाव अनुकरणप्रिय है।' वह बहुत शीघ्र अनुकरण करता है। नकल करने की उसमे सहज आदत है। वह जैसा बिम्ब देखता है, शीघ्र ही अपने मन मे वैसा प्रतिबिम्ब तैयार कर लेता है। भगवान का जैसा-जैसा वर्णन उसने सुना, वैसे-वैसे बिम्ब-प्रतिबिम्ब उसने मन्दिरो व चित्रो के रूप मे खडे कर दिये। अत अनुकरणप्रिय स्वभाव के लिए ऐसे जीवत बिम्ब सामने रहने आवश्यक हैं जिससे उसके मन पर, उसके व्यवहारो पर उनका प्रभाव पडता रहे। वह उसकी नकल तो करेगा किन्तु नकल से उसके जीवन की दिशा और ज्यादा स्पष्ट तथा उजली होगी, उसके चरित्र मे और अधिक दृढता एव सच्चाई आयेगी। इसलिए उसे हमेशा अच्छे व्यक्तियो के साथ रहना चाहिए, अच्छी सोसायटी मे रहना चाहिए। यह सत्सग का मनोवैज्ञानिक पहलू है।

धार्मिक पक्ष

सत्सग का नैतिक पक्ष आपके सामने स्पष्ट कर ही चुका हूं और धार्मिक पक्ष के सम्बन्ध मे आप बहुत-बहुत सुनते ही रहे हैं।

शिशुपालवध मे महाकवि माघ ने एक प्रसग पर श्रीकृष्ण के मुख मे एक श्लोक कहलाया है—

हरत्यघं सप्रति हेतुरेष्यत
शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीय दर्शनं
व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्॥

श्रीकृष्ण नारद ऋषि से कहते हैं—सतप्रवर ! आप जैसे ऋषि-मुनियो का दर्शन और सत्सग मनुष्य के तीनो काल के सौभाग्य का सूचक है। पहली बात—वर्तमान मे आपका दर्शन मनुष्य के पापो का नाश करता है, और भविष्य के श्रेय का, पुण्य का कारण होता है। और वह दर्शन तभी प्राप्त होता है जब अतीत मे कुछ पुण्य कर्म किये होते हैं। इस प्रकार सतो का समागम वर्तमान, भूत और भविष्य तीनो कालो के सौभाग्य का सूचक है।

भगवती सूत्र मे एक वार्ता प्रसग आता है। तु गिया नगरी मे एक बार भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के स्थविर भगवन्त पधारे। श्रावको ने उनका उपदेश सुना, उनसे वार्तालाप किया। भगवान के प्रथम शिष्य इन्द्रभूति गणधर भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए जब गृहस्थो के घरो मे पहुँचे तो गृहस्थो ने स्थविरो के साथ हुई बातचीत की चर्चा की। गौतमस्वामी को उस सम्बन्ध मे कुछ कुतूहल एव जिज्ञासा हुई, वे भगवान महावीर स्वामी की सेवा मे आये और स्थविरो के साथ हुई गृहस्थो की वार्ता की चर्चा करते हुए पूछा—"भते ! उनका कथन सत्य है ?"

भगवान ने कहा—"हाँ, गौतम ! उन स्थविरो का कथन सत्य है। वे ज्ञानी हैं और इस प्रकार के उत्तर देने मे समर्थ है।"

गौतम ने पूछा—"भगवन् ! ऐसे ज्ञानी सत्पुरुषों की सेवा पर्युपासना से क्या लाभ प्राप्त होता है ?"

भगवान ने कहा—"सत्पुरुषो की सेवा से धर्म का श्रवण मिलता है, सुनने से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान से सयम, सयम से अनास्रव, फिर तप, कर्मनाश, अक्रिया और अन्त मे सिद्धि लाभ प्राप्त होता है।"[1]

इस प्रकार जीवन के चरम लक्ष्य–मोक्ष तक पहुचने के द्वार मे प्रवेश होता है सत्सग से। सत्सग का यह आध्यात्मिक महत्त्व है जो जीवन को चरमसिद्धि प्रदान करने मे समर्थ है। इन सब महत्त्वो को ध्यान मे रखते हुए सद्गृहस्थ को अपने जीवन मे सत्पुरुषो, सदाचारी मनुष्यो एव सतो की सगति का अधिक से अधिक अवसर प्राप्त करना चाहिए।

१. सवणे-नाणे-विन्नाणे-पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हवे तवे चेव वोदाणे अकिरिया सिद्धि ॥

—भगवती सूत्र २।५

१३

माता-पिता की सेवा

सद्गृहस्थ द्वारा पालनीय धर्मों का विवेचन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—"**माता-पित्रोश्चपूजकः**"—सद्गृहस्थ अपने माता-पिता की भक्ति और सेवा करता है। उनका आदर और सत्कार करता है। माता-पिता की इच्छाओ का ध्यान रखकर उनकी आज्ञाओ का पालन करने वाला होता है।

मनुष्य के जीवन मे जितने भी सम्बन्ध हैं उनमे माता-पिता का सम्बन्ध सबसे प्रथम और निकटतम का सम्बन्ध है। भाई-बहन, पत्नी, मित्र, पुत्र, परिवार आदि सभी सम्बन्ध बाद मे बनते हैं, किन्तु माता-पिता के साथ इस धरती पर जन्म लेने से पूर्व ही उसका सम्बन्ध जुड जाता है। जब से प्राणी गर्भ मे आता है, माता उसकी देखभाल और पालन-पोषण मे जुट जाती है और जब तक वह अपने पैरो पर खड़ा नही हो जाता तब तक उसकी सँभाल करती रहती है। इतने दीर्घकाल तक माता का हृदय अपनी सतान के प्रति स्नेह, वात्सल्य और ममत्व से किस प्रकार बँधा रहता है, इसकी कल्पना शायद आप और हम नही कर सकते। किसी माँ से ही इसका उत्तर मिल सकता है, और शायद माँ भी अपने स्नेह को शब्दो में नही उतार सकती, उसकी अनुभूति अगम्य होती है। उसका स्नेह अवर्णनीय होता है।

माता की ममता और उपकार

मातृ-हृदय की ममता का वर्णन करने वाले कुछ वर्णन सूत्रो मे आते हैं जिनसे माँ के दृढ स्नेह एव गाढ ममत्व की एक झलक मिल जाती है।

महारानी देवकी के घर पर एक बार छह मुनि भिक्षा के लिए आते हैं। वे दो-दो की जोडी मे तीन सिंघाड़े बनाकर अलग-अलग आते हैं। देवकी

उन्हे भक्तिपूर्वक भिक्षा देती है पर उनके एक सरीखे रूप-लावण्य, एक समान शरीर सगठन, आकृति आदि को देखकर भ्रम मे पड जाती है कि ये तीन सिंघाडे है, या एक ही जोडी वार-वार आ रही है। मुनियो से विनयपूर्वक उसने पूछा—"महाराज ! आप मेरे घर पर वार-वार पधार रहे हैं, यह मेरा सौभाग्य है, किंतु क्या इतनी विशाल द्वारिका नगरी मे आपको कही अन्यत्र भिक्षा सुलभ नही हुई ?"

देवकी के भ्रम का निराकरण करते हुए मुनियुगल कहते हैं—"देवी ! हम वार-वार नही आ रहे है, किंतु हम छह सहोदर भाई हैं, एक जैसे रूप लावण्य और आकृति वाले हैं, हमारी रूप साहश्यता देखकर ही तुम्हे यह भ्रम हुआ लगता है।"

मुनियो के उत्तर से देवकी का भ्रम दूर हुआ, पर एक दूसरा प्रश्न उसके मन मे उभर आया। अतिमुक्त मुनि ने एक वार भविष्यवाणी की थी—"देवकी एक समान रूप-लावण्य आकृति वाले छह सुन्दर पुत्रो को जन्म देगी, और ऐसा सौभाग्य सिर्फ उसे ही प्राप्त होगा।" देवकी को मुनि की वाणी पर सदेह होने लगा, वह रथ मे बैठकर भगवान अरिष्टनेमि के दर्शन करने गई, और मन का सशय खोला। भगवान ने सदेह दूर करते हुए कहा—"देवी ! वे छह सहोदर भाई, तुम्हारी ही सतान हैं, तुम्हारे उदर मे खेले हुए है, हाँ किसी दैव-योग के कारण जन्म लेते ही वे दूसरी माता की गोद मे पहुंचा दिये गये हैं।"

भगवान द्वारा समाधान पाकर देवकी उन मुनियो के दर्शन करती है, और स्नेहाधिक्य के कारण उसका रोम-रोम उत्कठित हो जाता है, हर्ष से सीना फूल जाता है। कचुकी के वन्धन ढीले पड जाते हैं और स्तनो से दूध की धारा वह निकलती है।[1]

ऐसी ही एक घटना भगवान महावीर के जीवन मे घटित होती है। देवानन्दा ब्राह्मणी जव भगवान के दर्शन करती है तो सहसा उसका रोम-रोम उत्फुल्ल हो जाता है। जल-सिंचित कदम्ब पुष्प की तरह उसके अग पुलकित हो उठते हैं, स्तनो से निकलती हुई दुग्धधारा से कचुकी भीग जाती है। उसकी आंखो मे अपूर्व स्नेह एव ममत्व छलक उठता है। गौतम स्वामी देवानदा की यह विचित्र दशा देखकर भगवान से पूछते हैं और उत्तर में भगवान कहते हैं—"गौतम ! देवानन्दा ब्राह्मणी मेरी माता है, मैं इसके उदर मे रहा हूँ, इस कारण सहज मातृस्नेह से यह भाव-विभोर हो उठी है।"[2]

---

१ अतगडसूत्र २ भगवती सूत्र ९।६

१३

माता-पिता की सेवा

सद्गृहस्थ द्वारा पालनीय धर्मों का विवेचन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—"माता-पित्रोश्चपूजकः"—सद्गृहस्थ अपने माता-पिता की भक्ति और सेवा करता है। उनका आदर और सत्कार करता है। माता-पिता की इच्छाओ का ध्यान रखकर उनकी आज्ञाओ का पालन करने वाला होता है।

मनुष्य के जीवन मे जितने भी सम्बन्ध है उनमे माता-पिता का सम्बन्ध सबसे प्रथम और निकटतम का सम्बन्ध है। भाई-बहन, पत्नी, मित्र, पुत्र, परिवार आदि सभी सम्बन्ध बाद मे बनते है, किन्तु माता-पिता के साथ इस धरती पर जन्म लेने से पूर्व ही उसका सम्बन्ध जुड जाता है। जब से प्राणी गर्भ मे आता है, माता उसकी देखभाल और पालन-पोषण मे जुट जाती है और जब तक वह अपने पैरो पर खडा नही हो जाता तब तक उसकी सँभाल करती रहती है। इतने दीर्घकाल तक माता का हृदय अपनी सतान के प्रति स्नेह, वात्सल्य और ममत्व से किस प्रकार बँधा रहता है, इसकी कल्पना शायद आप और हम नही कर सकते। किसी माँ से ही इसका उत्तर मिल सकता है, और शायद माँ भी अपने स्नेह को शब्दो मे नहीं उतार सकती, उसकी अनुभूति अगम्य होती है। उसका स्नेह अवर्णनीय होता है।

माता की ममता और उपकार

मातृ-हृदय की ममता का वर्णन करने वाले कुछ वर्णन सूत्रो मे आते है जिनसे माँ के दृढ स्नेह एव गाढ ममत्व की एक झलक मिल जाती है।

महारानी देवकी के घर पर एक बार छह मुनि भिक्षा के लिए आते हैं। वे दो-दो की जोडी मे तीन सिंघाडे बनाकर अलग-अलग आते हैं। देवकी

उन्हे भक्तिपूर्वक भिक्षा देती है पर उनके एक सरीखे रूप-लावण्य, एक समान शरीर सगठन, आकृति आदि को देखकर भ्रम मे पड जाती है कि ये तीन सिंघाडे हैं, या एक ही जोडी वार-वार आ रही है। मुनियो से विनयपूर्वक उसने पूछा—"महाराज ! आप मेरे घर पर वार-वार पधार रहे हैं, यह मेरा सौभाग्य है, किंतु क्या इतनी विशाल द्वारिका नगरी मे आपको कही अन्यत्र भिक्षा सुलभ नही हुई ?"

देवकी के भ्रम का निराकरण करते हुए मुनियुगल कहते हैं—"देवी ! हम वार-वार नही आ रहे हैं, किंतु हम छह सहोदर भाई हैं, एक जैसे रूप लावण्य और आकृति वाले हैं, हमारी रूप सादृश्यता देखकर ही तुम्हे यह भ्रम हुआ लगता है।"

मुनियो के उत्तर से देवकी का भ्रम दूर हुआ, पर एक दूसरा प्रश्न उसके मन मे उभर आया। अतिमुक्त मुनि ने एक वार भविष्यवाणी की थी—"देवकी एक समान रूप-लावण्य आकृति वाले छह सुन्दर पुत्रो को जन्म देगी, और ऐसा सौभाग्य सिर्फ उसे ही प्राप्त होगा !" देवकी को मुनि की वाणी पर सदेह होने लगा, वह रथ मे बैठकर भगवान अरिष्टनेमि के दर्शन करने गई, और मन का सशय खोला। भगवान ने सदेह दूर करते हुए कहा—"देवी ! वे छह सहोदर भाई, तुम्हारी ही सतान हैं, तुम्हारे उदर मे खेले हुए हैं, हाँ किसी दैव-योग के कारण जन्म लेते ही वे दूसरी माता की गोद मे पहुंचा दिये गये हैं।"

भगवान द्वारा समाधान पाकर देवकी उन मुनियो के दर्शन करती है, और स्नेहाधिक्य के कारण उसका रोम-रोम उत्कठित हो जाता है, हर्ष से सीना फूल जाता है। कचुकी के बन्धन ढीले पड जाते हैं और स्तनो से दूध की धारा वह निकलती है।[1]

ऐसी ही एक घटना भगवान महावीर के जीवन मे घटित होती है। देवानन्दा ब्राह्मणी जब भगवान के दर्शन करती है तो सहसा उसका रोम-रोम उत्फुल्ल हो जाता है। जल-सिंचित कदम्ब पुष्प की तरह उसके अग पुलकित हो उठते हैं, स्तनो से निकलती हुई दुग्धधारा से कचुकी भीग जाती है। उसकी आंखो मे अपूर्व स्नेह एव ममत्व छलक उठता है। गौतम स्वामी देवानदा की यह विचित्र दशा देखकर भगवान से पूछते है और उत्तर मे भगवान कहते हैं—"गौतम ! देवानन्दा ब्राह्मणी मेरी माता है, मैं इसके उदर मे रहा हूं, इस कारण सहज मातृस्नेह से यह भाव-विभोर हो उठी है।"[2]

---

१ अतगडसूत्र २ भगवती सूत्र ९।६

इन घटनाओ से यह स्पष्ट समझ मे आता है कि माता के मन मे पुत्र के प्रति कितना अगाध स्नेह होता है। देवानदा को तो यह भी ज्ञात नही था कि भगवान महावीर मेरे उदर मे रहे हैं, किन्तु फिर भी अज्ञात मातृस्नेह उसके हृदय-सागर मे हिलोरे मारने लगता है और समूचा ससार जिस महापुरुष को भगवान के रूप मे देखता है, उसका अनजान हृदय उसे पुत्र रूप मे देखकर विभोर हो रहा है।

जिस प्रकार माता की ममता अपार होती है, उसी प्रकार उसका उपकार भी सतान के प्रति अपरिमेय एव असीम होता है।

बच्चा माँ के लिए गर्भ से ही कष्ट एव पीडा खडी करता है, जन्म के समय भी माँ को कितनी असह्य पीडा देता है, उसके बाद मे भी माँ हर घडी पुत्र के लिए सजग रहती है, कभी वह पेशाब करता है, कभी टट्टी, कभी रोता है, कभी गिरता है, कभी हाथ-पैर पटकता है, कभी रो-रोकर सबको परेशान कर लेता है। दाई, बच्चे, नौकर और पिता सभी उससे परेशान हो जाते है, पर माँ कभी बच्चे से परेशान होती है? तकलीफो से घबराकर वह कभी एक क्षण झुंझला भी जाती होगी, पर दूसरे ही क्षण अपने बच्चे को वही सँभालती है, उसका पालन-पोषण करके, माली ज्यो पौधो की देखभाल करता है उससे भी ज्यादा वह अपनी सतान की देखभाल करके उसका विकास करती रहती है।

सन्तान की सेवा के लिए माँ अपने शरीर का मोह छोड देती है, अपनी सुख-सुविधाओ की चिन्ता नही करती, अपने पति को भी बाद मे खिलाती है, पहले सतान को। वह अपने सुख-स्वास्थ्य और साज शृगार की परवाह किये बिना रात-दिन बच्चे के सुख और स्वास्थ्य की फिकर करती है। यदि माँ न हो तो बालक का जीना और पालन-पोषण भी कठिन हो जाता है। आप कल्पना करिए—यदि आपके जीवन मे माँ का योगदान नही होता तो क्या आपका जीवन आज इस रूप मे होता? एक कवि ने कहा है—"पृथ्वी के समस्त रजकण एव समुद्र के समस्त जलकणो से भी अनन्त गुणा माता का उपकार है।"

माता-पिता का गौरव

आपके जीवन मे आज जो सस्कार, जो शिक्षा और बौद्धिक विकास के पुष्प खिले हुए हैं, उसका मूल अकुर क्या है? उस अकुर को विकसित करने वाली कौन-शक्ति है? नीति और अनुभव कहता है—वह मातृशक्ति है। मानवरूपी इस सुन्दर सुशिक्षित सस्कारी फूल का निर्माण करने वाला माली—

माता है। इसलिए ससार मे माता को सबसे बडा शिक्षक माना गया है। हिन्दू धर्म के आदि धर्मशास्त्रकार मनु ने कहा है—

उपाध्यायान् दशाचार्या आचार्याणा शतं पिता।
सहस्र तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥[1]

दश उपाध्यायो से एक आचार्य श्रेष्ठ है, सौ आचार्यों से भी एक पिता अधिक योग्य शिक्षक है। और हजार पिताओ से भी एक माता की शिक्षा अधिक गौरवशाली है।

माता के गौरव का गान सुनकर यह न समझिये कि पिता कुछ भी नहीं है, जो कुछ है सो माँ है। यद्यपि माँ के स्थान पर माँ ही है, किंतु सन्तान पर उपकार की दृष्टि से, सन्तान के जीवन-विकास की दृष्टि से पिता का भी उसमे महत्त्वपूर्ण देय होता है। माता सन्तान मे सस्कारो के बीज डालती है, अकुरित करती है, पिता उनका सरक्षण और परिवर्धन करता है। इसलिए धर्मग्रन्थो मे माता को पृथ्वी रूपा और पिता को परमेश्वर का रूप कहा गया है। इस सम्बन्ध मे एक पौराणिक अनुश्रुति है, जो बडी रोचक और तथ्य का महत्त्व बताने वाली है।

एक बार देवताओ मे विवाद छिड गया—कि सब मे प्रथम पूज्य कौन है ? इन्द्र ने अपनी प्रथम पूज्यता का दावा किया, बृहस्पति ने अपनी श्रेष्ठता बताई, वरुण ने अपना गौरव सुनाया और गणेश जी ने अपनी बुद्धिमत्ता का बखान किया। आखिर सब देवता ब्रह्मा के पास गये और कहा—परम पिता ! इस विवाद का निपटारा कीजिए, सब मे प्रथम पूजा किसकी होनी चाहिए ?"

ब्रह्मा ने कहा—"तुम सब एक साथ यहाँ से निकलो और पृथ्वी की तीन प्रदक्षिणा करके आओ ! जो सबसे पहले आयेगा, वही सबसे प्रथम पूज्य होगा।"

इन्द्र अपने ऐरावत पर चढ़कर दौडा, कार्तिकेय मयूर पर, सरस्वती हस पर, वरुण मेढ़े पर और यो प्रत्येक देवता अपने-अपने वाहन पर चढकर तेज गति से पृथ्वी की प्रदक्षिणा के लिए निकल पडे। अब पीछे बैठे रहे बिचारे गणेश ! चूहे का वाहन इन तेज वाहनो की बराबरी कैसे करे ? उदास गणेश जी नारद जी के पास गये—"महाराज ! अब मैं क्या करूँ ? मैं तो सबसे पीछे रह गया ?"

---

१ मनुस्मृति २।१४५

नारद जी ने हँसकर कहा—"आप जैसे बुद्धि के देवता सबसे पीछे उदास बैठे रहे यह कैसे हो सकता है ? शास्त्रो मे माता को पृथ्वी और पिता को परमेश्वर कहा है, आप भूल गये ?"

गणेश जी प्रसन्न हो तुरन्त दौडे और जहाँ उनके माता-पिता शकर-पार्वती बैठे थे वहाँ आये, तुरन्त तीन प्रदक्षिणा की, और सबसे प्रथम ब्रह्मा के समक्ष आकर बैठ गये । देवता दौडकर आये और ब्रह्मा का फैसला सुनना चाहा—ब्रह्मा ने गणेश को प्रथम पूज्य घोपित करते हुए कहा—"तुम केवल शक्ति के उपासक हो, जवकि गणेश मे श्रद्धा सयुक्त अपार बुद्धिवल है, इसने माता-पिता की प्रदक्षिणा की है, और माता-पिता ही समस्त सृष्टि का मूल है ।"

वन्धुओ ! आप कथा की पौराणिकता को मत देखिये उसकी भावना देखिये जो कि हमारी भारतीय सस्कृति का मूलाधार है ! भारतीय सस्कृति मे माता-पिता को किस गौरवपूर्ण दृष्टि से देखा गया है ? कितनी श्रद्धा और उच्च-भावना से उनका मूल्याकन किया गया है ? और यह गौरव इसीलिए है कि मानव के जीवन पर उनके असीम उपकार हैं, जिनका वदला सहज मे नही चुकाया जा सकता ।

ऋण-मुक्ति के उपाय

अव प्रश्न यह है कि सन्तान पर माता-पिता का इतना उपकार है तो सन्तान किस प्रकार उनके ऋण से मुक्त हो सकती है ? शास्त्रो मे इस प्रश्न पर विचार किया गया है, और ऋण-मुक्ति का उपाय भी वताया गया है ?

सामान्य नीति ग्रन्थो मे ऋण-मुक्ति के तीन उपाय वताये गये हैं ।

१ माता-पिता को सेवा द्वारा सदा प्रसन्न रखे,
२ माता-पिता के यश-गौरव की वृद्धि करे,
३. उनके आध्यात्मिक जीवन की उन्नति मे सहयोग देवे ।

सन्तान का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह माता-पिता की प्रसन्नता का सदा ध्यान रखे । अपने व्यवहार और वार्तालाप से माता-पिता के मन को चोट न पहुंचे, उनको किसी प्रकार की पीडा न हो, उनकी सेवा, शुश्रुपा यथासमय उचित रीति से होती रहे—इस वात का ध्यान रखे यह सन्तान का प्रथम कर्त्तव्य है ।

माता-पिता को प्रसन्न रखने वाला पुत्र इस वात से भी सदा सजग रहे कि उसका व्यवहार, वर्तन, लेखन और वाणी कभी इस प्रकार की न हो कि उसमे माता-पिता के गौरव पर कोई आंच आए । सन्तान के कारण माँ-वाप पर कोई अंगुली न उठाये—कि "यह अमुक का पुत्र है, ऐसा कर रहा है ।" माता-पिता

ने अपने कुल की जिस कीर्ति और यश-गाथा को ससार मे फैलाया है, उसमे किसी प्रकार का धब्बा न लगे, किन्तु कुछ न कुछ वृद्धि हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

स्थानाग सूत्र (४।४) मे चार प्रकार के पुत्र बतलाए है :—

१. अतिजात—माता-पिता के यश मे चार-चाँद लगाने वाले। बाप से बेटे सवाये—कहावत को चरितार्थ कर उनकी यश, कीर्ति, समृद्धि आदि मे वृद्धि कर उनसे भी बढकर निकलने वाले पुत्र अतिजात पुत्र कहलाते है, जैसे कि राम-लक्ष्मण।

२ अनुजात—यह पुत्र की दूसरी श्रेणी है, माता-पिता ने ससार मे जो गौरव, समृद्धि एव प्रतिष्ठा का कीर्ति-स्तम्भ खडा किया है, पुत्र यदि उस पर शिखर न लगा सके तो कम से कम उसकी नीव हिलाने वाला तो न हो। पिता के सप्राप्त यश, समृद्धि आदि मे वृद्धि न कर सके तो कम से कम उसका सरक्षण तो करे—ऐसा पुत्र अनुजात पुत्र कहलाता है।

३ अवजात—पुत्र की यह तीसरी श्रेणी है। अर्थात् इस श्रेणी के पुत्र थर्ड क्लास पुत्र है। पिता ने अपनी बुद्धि, श्रम एव भाग्य के बल से पूर्वजो की जिस प्रतिष्ठा, सम्पत्ति एव कीर्ति की विरासत का सरक्षण किया, वृद्धि की। वह विरासत जब अपने पुत्र के हाथो मे सौंपी तो पुत्र ने उन पर पानी फेर दिया, पूर्वजो की ख्याति और प्रतिष्ठा को धब्बा लगा दिया तो ससार मे वह पुत्र क्या कहलायेगा ? सुपुत्र या कुपुत्र ? माँ-बाप के नाम पर धूल उछालने वाले कबर-साब—इस तीसरी श्रेणी मे आते हैं।

४ पुत्र की चौथी श्रेणी है—कुलागार ! वास्तव मे इस श्रेणी मे आने वाले पुत्र भी पुत्र कहलाने के हकदार नही होते। उन्हें सीधी भाषा मे 'पेट का कीडा' कहा जा सकता है। शास्त्र मे भी उन्हे कुल रूपी गृह को भस्म करने वाला अगारा कहा है। ऐसे पुत्रो मे, दुनियाँ के दुर्गुण घर किये रहते हैं। द्यूत, शराब, दुष्टता, व्यभिचार आदि समस्त बुराइयो की जड उनमे होती हैं। वे स्वय तो अपने दुराचारो से डूबते ही हैं, पर साथ मे कुल एव वश की नाव भी डुबो देते हैं। जैसा राष्ट्र कवि ने कहा है—"ले डूबता है एक पापी नाव को मझधार मे"—ऐसे पापी और निकृष्ट दर्जे की सन्तान को कुलागार कहा है।

आप अपना नाम किस श्रेणी मे लिखाना चाहते हैं ? शायद लिखाना चाहना और बात है, पर किस श्रेणी की योग्यता है, यह विचार करना है, और यह स्वय मे ही करना है। मुझसे या किसी दूसरे से इसका निर्णय मत पूछिए। यदि आप प्रथम श्रेणी की योग्यता रखते है तो निश्चित ही आप पितृ-ऋण से मुक्त

होने के योग्य हैं। यदि द्वितीय श्रेणी की योग्यता है तब भी आप प्रयत्न करके ऋण-मुक्त हो सकते हैं। ऋण-मुक्ति के नीतिशास्त्रसम्मत दो उपाय मैंने आपको बताये हैं, तीसरा उपाय भी बताद्रूँ। उसका समर्थन धर्मशास्त्र भी करते हैं। स्थानाग[1] सूत्र मे तीन का उपकार चुकाना कठिन बताया है। उस वर्णन मे प्रथम स्थान माता-पिता का है। माता-पिता के उपकार का बदला वही व्यक्ति उतार सकता है, जो उनके जीवन मे आध्यात्मिक सहयोग दे। सन्तान का कर्त्तव्य है कि वह स्वय जब घर का भार सँभालने योग्य हो जाता है तो माता-पिता को उस भार से मुक्त कर दे। उसकी दृष्टि होनी चाहिए कि—"मैं अब माता-पिता से जाकर कहूँ—आपको अब ससार की चिन्ताओ मे पडने की जरूरत नही है। आपने मेरी सँभाल करके मुझे घर सँभालने योग्य बना दिया है। अब आप अपने जीवन को ईश्वर-आराधना एव धर्म-साधना मे लगाइए। आप आध्यात्मिक शाति प्राप्त कीजिए। घर, परिवार और सतति के प्रति जो ममत्व है उसको व्यापक बनाकर समस्त ससार के प्रति असीम प्रेम और सौहार्द्र का दान कीजिए।" इस भावना को जो व्यक्ति अपने जीवन मे साकार रूप देता है, माता-पिता के जीवन को धार्मिकता से आप्लावित करने का प्रयत्न करता है, उन्हे हर प्रकार से मानसिक शाति प्रदान करने की चेष्टा करता है, वह माता-पिता के अपरिमित उपकार का बदला चुकाने मे समर्थ हो सकता है।

आदर और श्रद्धा

माता-पिता के उपकार का बदला चुकाने की भावना मनुष्य के हृदय मे कब जग सकती है? जबकि माता-पिता के प्रति सन्तान के मन मे आदर एव श्रद्धा का भाव हो। जब तक माता-पिता के प्रति आपके मन मे श्रद्धा नही होगी, आदर नही होगा तब तक उनके उपकार का मूल्याकन करने की दृष्टि भी आपके जीवन मे नही जगेगी। फिर आप कैसे उनकी सेवा, शुश्रूषा कर पायेंगे? कैसे उन्हे आर्त्तध्यान से मुक्त कर सकेंगे?

वृद्ध माता-पिता जब सन्तो के पास आते हैं तो सन्त उन्हे कहते हैं—"अब आपको धर्मध्यान मे समय बिताना चाहिए। पुत्र और परिवार की तो सेवा बहुत की है, अब धर्म एव समाज की सेवा करनी चाहिए।"

तो पुत्रो से परेशान माता-पिता क्या सोचते होंगे—"महाराज साहब तो कहते हैं धर्मध्यान की बात, यहां तो रात-दिन आर्त्तध्यान मे बीतता है, महाराज

---

1 स्थानाग ३।३

साहव को क्या पता, पुत्र कैसे विनीत हैं ? बुढापा आगया, तब भी हाय-हाय करना पडता है ? हमने पाँच-सात पुत्रो का पालन-पोषण किया, पर अव वे पाँच-सात मिलकर भी दो माता-पिता का पालन-पोषण नही कर सकते। माँ-वाप को पूछते तक नही, सुख-दु ख की कोई फिकर भी नही लेते ? तो धर्म-ध्यान कैसे करें ?"

नीतिशास्त्र कहता है कि—"पुत्र का कर्त्तव्य है कि कोई भी काम करे, तो पहले माता-पिता की सलाह लेवे। कुछ भी कमाए तो आकर पहले माता-पिता के चरणो मे अर्पण करे—कोई भी सत्कर्म करे तो आकर उनके समक्ष निवेदन करे—यह सब मैंने आपके आशीर्वाद से प्राप्त किया है, आपके शुभाशीष का ही यह सब शुभ फल है।" इस प्रकार से आचरण करने वाले पुत्र के, विद्या, धन और सत्कर्म सफल होते हैं। माता-पिता प्रसन्न होकर जिस पुत्र के मस्तक पर हाथ रखते हैं, भाग्य और लक्ष्मी भी उसके ऊपर वरदहस्त रखते हैं।

कल्पसूत्र[1] मे भगवान महावीर स्वामी का जीवन चरित्र आता है। भगवान गर्भ मे भी तीन ज्ञान से युक्त थे। उन्होने सोचा—"मेरे गर्भ मे हलन-चलन से माता को कष्ट होता होगा, अत माता को कष्ट न हो इसलिए वे हलन-चलन बन्द करके स्थिर हो गए। इधर गर्भ की खुशियाँ मनाई जा रही थी, मगल-गीत गाये जा रहे थे, पर ज्यो ही गर्भ का हलन-चलन बन्द हुआ, त्रिशला रानी चिन्तित होकर विलाप करने लग गई। गीत रुक गए, वाजे वजने वन्द हो गए, हर्ष की जगह शोक छा गया। माता त्रिशला सोचने लगी—"हो न हो, गर्भ को कुछ न कुछ हो गया है ? हाय ! हाय ! मैं कैसी हतभागिनी हूँ।"

माता का विलाप जव गर्भस्थ वालक ने सुना तो सोचा—"यह तो उलटा हो गया ? मैंने माता की साता के लिए हिलना बन्द किया, पर यहाँ तो कुहराम मच गया !" माता का मेरे प्रति कितना मोह है ? कितना स्नेह और अनुराग है ? थोडा सा हिलना वन्द करने पर भी यह हालत है, तो मैं जव घर त्याग कर दीक्षा लेने की आज्ञा माँगूंगा तो उसके मन पर क्या वीतेगी ? उसके हृदय को कितनी पीडा होगी ? कितनी गहरी चोट पहुँचेगी ? अत माता के सुख और प्रसन्नता के लिए जव तक माता-पिता जीवित रहेगे, दीक्षा नही लूंगा, ताकि उनके मन को किसी भी तरह की पीडा न हो।"—भगवान ने यह सोचा और पुन. हिलना प्रारम्भ कर दिया। घर मे फिर से उत्सव मनाया जाने लगा, गीतो की गुजार होने लगी, चहल-पहल शुरू हो गई।

---

१ कल्पसूत्र

शास्त्र कहते हैं—इसी प्रतिज्ञा के कारण जब तक माता-पिता जीवित रहे, भगवान ने दीक्षा की बात मुँह से नहीं निकाली। जब भगवान अट्ठाईस वर्ष के हुए तो माता-पिता का देहांत हो गया, उसके बाद उन्होंने भाई नन्दीवर्धन से दीक्षा की आज्ञा माँगी, तो बडे भाई ने उदास होकर कहा—"अभी-अभी तो माता-पिता के स्वर्गवास से दिल मे एक गहरी चोट लगी है, अब तुम्हारी दीक्षा की बात से फिर चोट पर चोट! भाई! मुझसे इतनी नाराजगी क्या है?"

बडे भाई का दुख देखकर भगवान ने फिर अपने निश्चय को आगे बढाया। सोचा "अट्ठाईस वर्ष माता-पिता की प्रसन्नता के लिए रुका, तो दो वर्ष बडे भाई की प्रसन्नता के लिए भी रुकना चाहिए, बडे भाई भी आखिर पिता के तुल्य हैं, उनके दिल को भी चोट भी नहीं पहुँचनी चाहिए"—और दो वर्ष तक फिर भगवान घर मे रुके रहे।

यह एक आदर्श है हमारे सामने तीर्थंकर महापुरुषो का! जिनके जीवन का क्षण-क्षण मूल्यवान है और प्रत्येक पल अप्रमत्त रहने का उपदेश करते हैं—"वे भी माता-पिता के स्नेह एव अनुराग के कारण जीवन के अट्ठाईस वर्ष गृहस्थावास मे बिताते है, सिर्फ इसलिए कि माँ के मन को किसी प्रकार की पीडा न हो।" यह माता-पिता के प्रति उत्कृष्ट आदर एव श्रद्धा का उदाहरण है। बडे भाई के प्रति भी उनका पिता के समान आदर-भाव भारतीय सस्कृति के इस सूत्र का प्रतीक है जिसमे बडे भाई को भी पिता के समान महत्त्व दिया गया है। वाल्मीकि रामायण मे कहा है—

ज्येष्ठो भ्राता पिता वाऽपि यश्च विद्या प्रयच्छति।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिन ॥[1]

बडा भाई, जन्म देने वाला जनक, और विद्या देने वाला गुरु—धर्म-मार्ग मे चलने वाला इन तीनो को पिता के समान समझे।

हमारी सस्कृति के श्रेष्ठतम महापुरुष तीर्थङ्करो ने भी अपने माता-पिता और बड़े भाई का इतना आदर एव सम्मान रखा है तो क्या हमारे जीवन मे उनके सस्कार नहीं जगेंगे? हम भी उनकी सतान हैं, उनके आदर्श और उपदेश ही हमारे जीवन की दिशा है, तो फिर माता-पिता के प्रति हमारे मन मे अनादर, उपेक्षा एव अश्रद्धा का भाव आखिर क्यो है? आज समाज मे ऐसे उदाहरण क्यो उपस्थित हो रहे हैं—जहाँ माता-पिता को गाली दी जा रही

---

१ वाल्मीकि रामायण, १८।१३

है, उनका अपमान किया जा रहा है। पुत्र चैन से एयर-कडीशन कमरो मे बैठे हैं, माँ-बाप को टूटी टपरी भी नसीब नही है ? माँ-बाप फटेहाल दाने-दाने को तरस रहे हैं और बेटे गुलछर्रे उडाते हैं। क्या माँ-बाप की ऐसी दुर्दशा पर पुत्रो का सिर नीचे नही झुक जाता ? उनका पुत्रत्व शर्म नही खाता ? ऐसे पुत्रो को भी हमने देखा है—जो माँ-बाप के खर्च का, उनके खाने-पीने का पाई-पाई हिसाब जोडते हैं ? और स्वय फिजूलखर्ची मे पैसे को पानी की तरह बहाते रहते है ? ये भावनाएँ और व्यवहार तभी आते हैं जब पुत्र के दिल मे माता-पिता के प्रति आदर भाव नही रहता, अपने पर किये उपकार का उनके मन मे कोई ख्याल नही होता।

श्रीकृष्ण का मातृ-स्नेह

श्रीकृष्ण के जीवन की एक घटना है। श्रीकृष्ण बहुत बड़े मातृभक्त थे। राम की ख्याति जिस प्रकार पितृभक्त के रूप मे है, श्रीकृष्ण की मातृभक्त के रूप मे उतनी ही ख्याति है। एक बार जब वे गोकुल मे थे और बलभद्र उनके साथ-साथ उनकी रक्षा के लिए रहते थे, तब की घटना है। कस ने सत्यभामा का स्वयवर किया। श्रीकृष्ण ने बलराम से स्वयवर मे चलने का आग्रह किया। बलराम और श्रीकृष्ण घर पर आये, आँगन मे यशोदा बैठी थी, श्रीकृष्ण बोले—"मैया ! आज हम कस की बहन सत्यभामा के स्वयवर मे जायेंगे, जल्दी से गर्म पानी कर, नहालें, फिर खाना बना दे, भोजन करके तैयार होकर चले जायें !" यशोदा नटखट कृष्ण की बातो से तग आ गई थी, वह जरा झल्लाकर बोली—"मैं तो तुम्हारे से परेशान हो गई, कभी यह काम करो, कभी वह काम करो, मेरे से नही होता।"

बलभद्र जी को यशोदा की बात बहुत अखरी ! "यशोदा तो आखिर हमारी दासी है ? श्रीकृष्ण की सेवा और सँभाल का काम इसे सौंपा गया है, और दासी आज ऐसी बात कह रही है ?"[१] बलभद्र से रहा नहीं गया, बोले—"तू हमारी ग्वालिन और दासी होकर ऐसी बात कह रही है ? तुझे शर्म नही आती ?"

बलभद्र की बात पर श्रीकृष्ण लाल हो गए, वे क्रोध मे आकर बोले—"भैया ! तुम क्या कह रहे हो ? मेरी माँ को दासी ? चुप रहो, वर्ना मैं पहले

---

१ जैन कथाओ के अनुसार वसुदेव जी को गोकुल दहेज मे दिया गया था, अत गोकुलवासी सभी गोप-गोपियाँ उनके दास-दासी की गणना में आते थे।

तुमसे झगड लूँगा ? मेरी माँ के लिए ऐसे शब्द मैं नही सुन सकता। मेरा खून जल उठा है।"

बलभद्र श्रीकृष्ण को एकात मे ले गये, समझाया—"तुझे अभी तक पता नही है, अपनी माँ कौन है और दासी कौन ?" बलभद्र ने पिछली घटनाएँ सुनाईं। फिर भी श्रीकृष्ण के मन को शाति नही हुई। बोले—"मैं तो यशोदा को ही माँ मानता आया हूँ, तुमने दासी कहकर मेरी माँ का अपमान किया है, उसे चोट पहुँचाई है, उससे क्षमा माँगो, तब ही मैं तुम्हारे से बोलूँगा।"

घटना लबी है, पर मैं आपसे इतना ही बताना चाहता हूँ कि सत्पुत्र अपनी माता का अपमान कभी बर्दाश्त नही कर सकता। वह माता-पिता को दुखी नहीं देख सकता ?

उपासक दशाग[1] सूत्र में चुलनीपिता श्रावक का वर्णन आता है। एक बार जब वह पोषध करके धर्म-जागरण कर रहा है तो एक देव उसकी परीक्षा के लिए आता है। अँधेरी रात मे एक विकराल दैत्य उससे कहता है—"या तो तुम अपना धर्म-कर्म छोड दो, वर्ना तुम्हारा सब धन उठाकर ले जाता हूँ।"

आप जानते हैं, धन को ससार मे ग्यारहवाँ प्राण कहा जाता है। इसके लिए मनुष्य अपने दस प्राणो की भी परवाह नही करता, पर श्रावक फिर भी अपने धर्मध्यान मे अचल बैठा है—देवता उसके सामने ही समस्त वैभव को उठाकर ले जाता है। फिर उसके तीनो पुत्रों को सामने लाकर खडा करता है और कहता है—"अब भी धर्म छोड दो। वर्ना इन तीनो को तुम्हारे सामने ही टुकडे-टुकड़े कर फैक दूगा।" श्रावक फिर भी अविचल रहा। आखिर उसकी विलाप करती हुई पत्नी को सामने लाता है, "ढोगी श्रावक ! देख ! धन चला गया, पुत्र चले गये, अब यह पत्नी भी चली जा रही है, इसे बचाना हो तो धर्म छोड दे ! नही तो इसके भी टुकडे तेरे सामने कर रहा हूँ।" रोती-बिलखती पत्नी को देखकर उसका रोमाच हो उठता है, किंतु फिर भी वह अपनी साधना से विचलित नही होता है। आखिर चौथी बार मे उसकी माँ को सामने खडा किया जाता है। माँ रक्षा के लिए पुकार रही है, इधर दैत्य की तलवार उसके सिर पर नाच रही है—"देख, माँ को बचाना है तो खडा हो जा।"

चुलनीपिता का धैर्य डोल उठा। उसने धन का नाश बर्दाश्त किया।

---

1 उपासक दशा, 3

पुत्रो की और पत्नी की हत्या पर भी उसका मन डिगा नही, पर माँ को रोती देखकर वह रुक नही सका, उसका पुत्रत्व जाग गया, और माँ की रक्षा के लिए चिल्लाता हुआ दौड पडा। माँ-माँ पुकारता हुआ वह एक खभे से टकराया और गिर पडा। यह कोलाहल सुनकर माँ दौडी आई—"बेटा! क्या हुआ ?"

"माँ! अभी कोई दुष्ट तुम्हे पकडकर मारने जा रहा था, मैं उसे पकडने ज्योही दौडा, वह दुष्ट भाग गया और मैं खभे से टकरा कर गिर पडा।"—चुलनीपिता ने कहा।

"बेटा! मैं तो अपनी शय्या पर आराम से सोई थी, किसी ने तुम्हारी परीक्षा ली होगी, तुम अपनी साधना से विचलित क्यो हो गए ?" माँ ने कहा।

तो यह है मातृ-स्नेह का उद्रेक! जो दृढधर्मी श्रावक वैभव नष्ट होते देखकर भी चचल नही बना, पुत्रो और पत्नी का विलाप तथा हत्या देखकर भी अपने आसन से नही डिगा, वह माता का क्रन्दन सुनकर उसे बचाने के लिए अपनी स्थिति को भूल गया। यह घटना बताती है कि माता का स्नेह और अनुराग धन, पुत्र एव पत्नी से भी बढकर होता है। माता के प्रति जिसके हृदय मे आदर एव श्रद्धा का भाव होता है, उसके लिए माँ से बढकर ससार मे कुछ नही है।

शास्त्रो मे माता का स्थान देव-गुरु के तुल्य बताया गया है—"देव-गुरु-समा माया।" इसका अर्थ है—माता की देव के समान श्रद्धा करनी चाहिए, गुरु के समान आदर देना चाहिए।

पितृ-भक्त राम और भीष्म

आप यह न सोचिए कि महाराज ने बस माँ की सेवा और आदर करने की बात कही है, पिताजी को अब क्या पूछना है ? हमारी सस्कृति मे माता-पिता दोनो को ही देवता तुल्य माना है। मातृभक्तो के, उदाहरण ही नही, पितृभक्तो के उदाहरण से भी हमारा इतिहास जगमगा रहा है। राम ने पिता के वचन की रक्षा के लिए अपने जीवन की समस्त सुख-सुविधाएँ त्याग दी, वन-वन भटकना स्वीकार कर लिया और यहाँ तक कहा कि—पिता की प्रसन्नता के लिए मैं विषपान कर सकता हूँ, जलती हुई अग्नि मे कूद सकता हूँ।

अह हि वचनाद् राज्ञ पतेयमपि पावके।
भक्षयेय विष तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ॥[1]

---

१ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाड, १८।२९

यह पितृभक्ति का एक उच्चतम आदर्श है। बेटे जहाँ पैसे के लिए माँ-बाप की हत्या करने को तैयार हो जाते हैं, वहाँ राम पिता के वचन के लिए सिंहासन छोडकर जगल मे चले गये ! और अग्नि-स्नान करने को भी तैयार हो गये !

रामायण के बाद महाभारत भी उठा लीजिए। भीष्म का त्याग कितना महान है ! पिता शान्तनु नाविक की कन्या पर मुग्ध हो जाता है, पर नाविक उसे कन्या नही दे रहा है, चूँकि उसके पुत्रो को राज्य मिलने की कोई शर्त नहीं है। आखिर गागेय पिता के लिए, राज्य का हक छोड रहे हैं, तब भी नाविक तैयार नही होता और कहता है—"आपकी सतान तो राज्य का हक माँगेगी, उसके लिए लड़ेगी ?" इस बात पर गागेय एक भीष्म प्रतिज्ञा करते हैं—"मैं आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा तो फिर सतान भी नहीं होगी, और राज्य-लोभ के लिए कोई झगडा भी नही होगा, न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी !"

तो पिता की खुशी के लिए इतना बडा त्याग ! इतना बडा बलिदान ! अपनी समस्त सुख-सुविधाओ का त्याग ! कितना महान आदर्श है यह पितृ-भक्ति का ?

श्रवण कुमार तो भारतीय इतिहास की एक अमर गाथा बन ही चुका है, जिसने अधे माता-पिता को कधो पर बिठाकर तीर्थ-तीर्थ पर घुमाया और उनके मन को प्रसन्न रखा।

ये सब घटनाएँ, यह इतिहास, हमारी इस उज्ज्वल परम्परा के द्योतक है, कि सद्गृहस्थ चाहे वह सामान्य जन हो, विशिष्ट महापुरुष हो, या तीर्थंकर हो—माता-पिता की भक्ति उसकी नस-नस मे जमी रही है। माता-पिता का आदर, सेवा और उनके प्रति सदा कृतज्ञ रहना—यह उनके जीवन-आदर्शों का मुख्य स्रोत रहा है। अपनी सस्कृति के इसी अमरस्रोत को प्रवाहित रखने के लिए आचार्य ने सद्गृहस्थ को "मातापित्रोश्चपूजक" की ओर एक सकेत किया है।

१४

सुखी जीवन का रहस्य

आचार्य हेमचन्द्र के गृहस्थधर्म के दसवें वोल मे एक सूत्र कहा है—"त्यजन्नुपप्लुतं स्थान"—गृहस्थ को उपद्रवग्रस्त देश एव नगर का त्याग कर निरुपद्रव एव शात स्थान मे निवास करना चाहिए।

देखने-सुनने मे यह वात एक सामान्य-सी प्रतीत होती है, परन्तु इसके पीछे जीवन की अनेक समस्याएँ गम्भीरता के साथ जुडी हुई हैं। जिस मोहल्ले, नगर, प्रान्त और देश मे आप निवास करते हैं, वहाँ की स्थिति कैसी है? वहाँ चोर-लुटेरे, बदमाशो से भय तो नही है? आपकी संस्कृति और धार्मिक जीवन के लिए वहाँ अनुकूलता है या नही? गृहस्थ को इन वातो पर विचार करके ही अपने निवास-स्थान का चुनाव करना चाहिए।

रायपसेणी सूत्र मे वर्णन आता है, जब चित्त मन्त्री केशीकुमारश्रमण से श्रावस्ती नगरी मे पधारने के लिए प्रार्थना करता है, तो उत्तर मे केशीस्वामी पूछते हैं—"मन्त्रीवर! एक वहुत सुन्दर उपवन है, उसमे विभिन्न जातियो के फलफूलो से लदे नाना प्रकार के वृक्ष लहरा रहे हैं। उस उपवन की शोभा और मधुर फलो की सुषमा देखकर किसी भी पक्षी का मन ललचा जाता है, किन्तु उस उपवन मे एक शिकारी धनुष पर बाण चढाये तैयार खडा है, तो क्या कोई भी पक्षी उस उपवन मे जाना चाहेगा?"

चित्त मन्त्री ने निवेदन किया—"महाराज! नही, मृत्यु को समक्ष खडी देखकर कौन मूर्ख पक्षी उस उपवन की ओर मुँह करेगा?"

केशीस्वामी बोले—"मन्त्रीवर! यही हाल आपकी नगरी का है, वहाँ आप सबकी धार्मिक भावना अच्छी है, जनता की भक्ति भी है, किन्तु वहाँ

आपका राजा वडा अधार्मिक, नास्तिक और क्रूर विचारो वाला है, तो उस नगरी मे साधुसतो का जाना क्या आपत्ति मोल लेना नहीं है ?"

केशीस्वामी के उत्तर से यह स्पष्ट होता है कि जिस नगर मे रहने से जिन्दगी को खतरा हो, या जहां जीवन की सुरक्षा का कोई भरोसा नही हो, वह नगर चाहे जितना सुन्दर क्यों न हो, रहने योग्य नहीं है।

आदर्श जनपद

प्राचीन ग्रन्थो में ऐसे नगरो और जनपदो का वर्णन आता है जहाँ के राजा अपने देश के जन-जीवन की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखते थे। धर्म, सस्कृति और सदाचार की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे। देश की प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट, भय और पीडा न हो—इसके लिए स्वय चिन्तित रहते थे। देश मे किसी प्रकार का अन्याय, उपद्रव और दुराचार न फैले इसके लिए कडी निगरानी रखते थे। छादोग्य उपनिषद् मे कैकेय देश के राजा अश्वपति का वर्णन आता है। उसका राज्य एक आदर्श जनपद कहलाता था। राजा को यह गौरव था कि उसके देश की प्रजा सर्वत सुखी, सदाचारी और निर्भय है। एक वार कुछ ऋषिगण यात्रा करते हुए कैकेय देश की सीमा से वाहर-वाहर ही निकलने लगे तो राजा अश्वपति को खवर लगी। राजा ऋषियो के पास गया और पूछा—"ऋषिवर! आप मेरे जनपद को स्पर्श किये विना ही क्यो जा रहे हैं? क्या मेरा देश आपके पवित्र चरण-स्पर्श के योग्य नही है?" राजा ने ऋषियो को अपने देश की स्थिति का परिचय देते हुए कहा—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्य्यो न च मद्यप।
नानाहिताग्निर्नाऽविद्वान् न स्वैरः स्वैरिणी कुतः?

"मेरे देश मे न तो चोर व शरावी है, न कजूस व कृपण है। न कोई मूर्ख है, और न कोई अपने कर्त्तव्य का त्याग करने वाला। कोई दुराचारी पुरुष ही नही है तो फिर दुराचारिणी स्त्री तो होगी ही कहाँ?"

तो यह है एक आदर्श जनपद का रूप! जहाँ मनुष्य का जीवन सुख व शाति के साथ व्यतीत हो सकता है। ऐसे राष्ट्र मे जनता निर्भय होकर अपने धार्मिक एव आध्यात्मिक आदर्शो का पालन कर सकती है।

आप पूछेंगे—ऐसा राष्ट्र आज कही है? ऐसा प्रात और नगर कोई है? और कोई मुहल्ला भी ऐसा है जिसमे चोर न हो, शरावी न हो, कोई मूर्ख न हो? कृपण-कंजूस और लोभी न हो, शायद एक घर भी पूरा ऐसा है या नही? जिसमे उपर्युक्त कोई बुराई न हो!

इसका उत्तर आप मुझसे नही, अपने आपसे लीजिए। क्या आपका जीवन तो ऐसा है, जिसमे ये कोई बुराई न हो ? जब आप स्वय ही अपने आदर्श से गिर रहे हैं, तो पूरे राष्ट्र की फिर क्या बात है ? व्यक्ति से परिवार बनता है, परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र। व्यक्ति यदि आदर्श का पालन करेगा, तो राष्ट्र भी अपने आदर्श पर स्थिर रह सकेगा ?

आचार्यों ने कहा—ऐसा आदर्श जनपद न भी मिले, तब भी कम से कम यह देखना तो जरूरी है कि आप जहाँ रह रहे हैं वहाँ जीवन को कोई खतरा नही हो, उपद्रव और अशाति का प्रतिपल भय नही हो।

उपद्रव के रूप

प्राचीन समय मे उपद्रव दो प्रकार के माने जाते थे। एक युद्धग्रस्त राज्य और दूसरा सक्रामक रोगग्रस्त वायुमण्डल।

जहाँ राज्यो मे परस्पर युद्ध एव सघर्ष चलता हो, वहाँ जनता का जीवन प्रतिक्षण भयाक्रान्त रहता है। शत्रु के हृदय मे प्रतिशोध की ज्वाला धधकती रहती है वह अपने विरोधी राज्य को, वहाँ की जनता को भयकर यत्रणा और उत्पीडन के साथ समाप्त कर देना चाहता है। कोई अपराधी हो या निरपराधी, दोनो पर ही शत्रु राष्ट्र का वार होता है और युद्ध की ज्वालाओ मे हजारो निरपराधी बालक, रोगी और स्त्रियो का विनाश हो जाता है।

दूसरा उपद्रव है रोग-ग्रस्त वायुमण्डल। या ऐसा प्रदेश जहाँ का जलवायु स्वास्थ्य को चौपट कर देता हो, शरीर को रोगी बना देता हो, जहाँ पर कोई सक्रामक बीमारी फैली हो। उस स्थान को उपद्रव-ग्रस्त स्थान कहा जाता है।

वह धन क्या काम का !

पुराने जमाने मे बडे अपराध पर दो प्रकार के दड दिये जाते थे। कोई भयकर अपराधी होता तो उसे या तो मृत्युदण्ड दिया जाता, जिससे तत्क्षण उसकी मृत्यु हो जाती, या फिर उसे कालापानी दिया जाता अर्थात् ऐसे प्रदेश मे अपराधी को भेजा जाता जहाँ के रोगीले जलवायु मे रहकर वह तिल-तिल घुटता रहता। जितने दिन अपराधी वहाँ जीवित रहता प्रतिक्षण दण्ड भोगता रहता। अनेक प्रकार के रोगो से, जन्तुओ से उसका शरीर गलता कटता रहता और बिचारा घुट-घुट कर मर जाता।

तो ऐसे उपद्रवग्रस्त प्रदेशो मे जहाँ परस्पर वैर-विरोध चलता हो, रोग-

ग्रस्त जलवायु हो, कौन रहता है ? या तो युद्ध करने वाले सैनिक एव अपराध का दण्ड भोगने वाले अपराधी अथवा धनार्थी ! जिन्हे धन कमाने का लालच हो वे ऐसे क्षेत्रो मे जान हथेली मे रखकर भी धन के लिए डटे रहते है। एक भाई जो पाकिस्तान मे व्यापार करते थे, वे ,एक बार बता रहे थे कि "महाराज ! पैसे के लिए स्वास्थ्य और जान का सौदा खेल रहे हैं। एक तो आसाम और बगाल साइड का पानी ही इतना खराब है कि कभी मलेरिया से पिंड नही छूटता, दाद-खाज से रात-दिन बेचैन रहते हैं, और दूसरे वहाँ पग-पग पर मौत खडी हैं। किस समय हिन्दू के घर पर हमला हो जाये, दुकान लूट कर जलादे कोई पता नही। देश से जाकर जब तक वापस नहीं आ जाते तब तक एक-एक मिनट भय और आशका मे बीतता है।"

मैंने मन मे सोचा—मनुष्य धन किस लिए कमाता है ? सुख-चैन से जीने के लिए ! आनन्द के लिए ! और उस धन के लिए जान से खेलता है, मौत के साये मे सोता है, शरीर और स्वास्थ्य को चौपट कर देता है, तो फिर वह धन किस काम आयेगा ?

अपने राजस्थानी मे एक कहावत है—बिल्ली ने एक बिल मे छुपे हुए चूहे से कहा—

इस बिल केरा ऊंदरा ! इस बिल मे आ जाय।
लाख टका द्यू रोकड़ा, बैठो-बैठो खाय ॥

"भानजा भाई ! उस बिल को छोड़ कर इस बिल मे आ जाओ, इतनी सी मेहनत के लिए तुम्हे लाख रुपये रोकडी दूंगी, बस जिन्दगी भर बैठे-बैठे खाना।"

बिल मे ही छुपे चूहे ने उत्तर दिया—

भूं थोडी, भाडो घणो, जीवन जोखा मांय।
बिच मे ही गटको हुवै, कहो मासी ! कुण खाय ?

"मौसी जी ! इस उदारता के लिए लाख-लाख धन्यवाद है आपको ! जो इतनी थोड़ी-सी जमीन का इतना भारी भाडा देने को तैयार हो, इधर से उधर जाने मे तो जान पर ही जोखिम है, बीच ही मे कोई गटका कर जायेगा तो फिर धन किस के काम आयेगा ?"

मैं सोचता हूँ उन मनुष्यो की हालत भी उस चूहे की सी है जिसे पैसे के लिए रोज इस बिल से उस बिल मे जाना पडता है और बीच में मौत की नगी तलवार लटकी रहती है। यदि बीच मे मौत आ गई तो पैसा कौन खायेगा वह धन क्या काम आयेगा ?

जैनधर्म का यह आदर्श नही है कि तुम चाहे जैसा सकट झेल कर, अन्याय करके, जीवन को जोखम मे डाल कर भी धन कमाओ। वह तो कहता है—"धन के बिना गृहस्थ की गाडी नही चलती तो कोई बात नही, गृहस्थ धन भी कमाये, पर अन्याय से, रात-दिन मौत की छाया मे चलकर, प्रतिक्षण भय, आशका और पीडा से हाय-हाय करते हुए कमाया हुआ धन क्या काम का ? शाति से, न्याय-नीति से, प्रसन्नता और निर्भयतापूर्वक जो धन मिलता है वही धन शाति और प्रसन्नता दे सकता है ? उसी धन से धन कमाने का उद्देश्य सफल हो सकता है। इसी दृष्टि से आचार्यो ने कहा है—सद्गृहस्थ को उपद्रव रहित स्थान मे निवास करना चाहिए।

निरुपद्रव-क्षेत्र कहाँ ?

वैसे तो आज के जमाने मे यदि कोई निरुपद्रव क्षेत्र की खोज करने चले तो शायद ही कही मिलेगा। अपना घर भी आज कहाँ निरुपद्रव रहा है ? आज कौन सा देश है जिनमे परस्पर द्वेष एव सघर्ष की चिगारियाँ नही उछल रही हैं ? कही गर्म युद्ध तो कही शीत युद्ध ! हर देश मे जासूसो और देश-द्रोहियो का जाल बिछा है। देशद्रोही अपने ही देश मे कही चलती रेलगाडियाँ उडाने की करतूतें कर रहे हैं, कही पुलो के नीचे बम रखे मिलते हैं, कही पानी की टकियो और तालावो मे जहर मिलाने की साजिशें करते पकडे जाते हैं और कही सडको और सिनेमाघरो मे ही बम विस्फोट हो जाते हैं, तो ऐसी स्थिति मे मनुष्य का जीवन कहाँ सुरक्षित है ? और कौन-सा क्षेत्र उपद्रवरहित कहा जा सकता है ?

और शुद्ध जलवायु भी आज कहाँ सुलभ है ? बड़े-बडे नगरो से लेकर छोटे-छोटे शहरो तक का हवा-पानी कितना दूषित और विषाक्त हो रहा है ?

भारत के शहरो की गलियो मे घूमने का तो सौभाग्य आपको मिलता ही होगा ? वहाँ कितनी बदबू और गन्दगी रहती है ? खुली नालियो मे कही टट्टी-पेशाब बह रहा है, कही कूडे के ढेर सड रहे हैं पास से निकलते ही जी मिचलाने लगता है। और स्थान-स्थान पर मोटरो, ट्रको की गैस, मीलो की चिमनियो से निकला दूषित विषाक्त धुआँ इससे चारो ओर का वायुमण्डल ही दूषित हो जाता है। तो ऐसे नगरो मे शुद्ध हवा कहाँ से आयेगी ? और पानी ? बड़े-बड़े नगरो मे नदियो का पानी पीने के लिए आता है, और उस पानी मे मीलो का कितना विषाक्त गन्दा पानी मिलता होगा, शहरो के गटरो व नालियो का मैला सब उन्ही नदियो के प्रवाह मे मिल जाता है और फिर पानी को रोक कर साफ करके पीने के लिए शहरो मे दिया जाता है ? आप यदि बडे शहरो

के जल-प्रदाय केन्द्रो को देखेंगे तो शायद आपको विश्वास नहीं होगा कि इतना गन्दा व मैला पानी आपको पीने के लिए मिलता है ? शायद आप वह पानी न पीने की भी सौगन्ध खा लेंगे ?

तो इस प्रकार आज के युग मे न तो कही उपद्रवरहित सुरक्षित स्थान ही है, और न शुद्ध जलवायु ! इसी कारण जीवन मे अशाति, बेचैनी और बीमारियाँ घर कर रही हैं, जिन्दगी एक भार की तरह मनुष्य के सिर का बोझ बन रही है।

नियमित जीवनचर्या

प्रश्न हो सकता है—आज जब कही एक मिनट की सुरक्षा की भी गारन्टी नहीं है, शुद्ध जलवायु सुलभ नही है तो फिर 'उपद्रवरहित क्षेत्र' मे रहने के आदर्श की आज क्या उपयोगिता है ?

इस प्रश्न पर भी आचार्यो ने विचार किया है और समाधान दिया है। जब राष्ट्र मे सुरक्षा और शुद्धता की समस्या है तो फिर व्यक्ति को स्वय ही अपनी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी पडेगी और ऐसा मार्ग निकालना पडेगा कि वह अपने जीवन एव आचार-विचार को अधिक से अधिक सुरक्षित और शुद्ध रख सके। इसके लिए शास्त्रो मे बताया है कि व्यक्ति स्वय अपनी जीवन-चर्या को नियमित करे और इसकी साधना के लिए चार बातो पर विशेष ध्यान दे।

१ शुद्ध सात्विक भोजन

२ स्वच्छ जल

३ स्वच्छ शुद्ध वायु

४ शुद्ध विचार

एक ने पूछा—रोग की जड कहाँ है ?

उत्तर मिला—पेट मे !

और नीरोगता की जड़ ?

वह भी पेट मे !

जितने भी रोग है, उनमे प्राय पेट की खराबी ही मुख्य कारण मानी गई है। और पेट खराब क्यो होता है ? अशुद्ध भोजन मे ! अनियमित खान-पान मे ! आपका पेट आप स्वय खराब करते है, आप स्वय रोगो को निमन्त्रण देते हैं।

मैं देखता हूँ पुराने आदमी भोजन की शुद्धता का बहुत खयाल रखते थे। उनमे दो विशेषताएँ थी—एक, वे घर मे ही खाते थे, दूसरी, सादा भोजन करते थे। इसी कारण वे बीमार कम होते और दीर्घजीवी भी होते।

आजकल लोगो को बाजार मे चाट खाने की चाट लग गई है? घर के सादे भोजन से उन्हे तृप्ति नही होती इसलिए बाजारो मे, होटलो मे खट्टे-मीठे चर्परे पदार्थ खाकर जीभ का स्वाद लेना चाहते हैं।

आप जानते हैं बाजार मे शुद्ध भोजन कहाँ मिलेगा? कब का बासी रहता है, खुला पडा रहता है, कितनी मक्खियाँ, कितनी मिट्टी और कितने गन्दे हाथो का मैल उसमे जाता होगा? और फिर बाजार मे आप अकेले ही चट करते जाते हैं। घर मे बच्चे भी हैं, पत्नी भी है—उनका कोई हिस्सा उसमे नही हो सकता है। नीति का कथन है—बाँटकर खाना देवता का भोजन है, अकेले खाना राक्षसी-भोजन है। और फिर सभ्यता की दृष्टि से भी बाजार मे खाना ठीक नही है।

भोजन की शुद्धता के लिए पहली बात है—घर का सादा भोजन। ज्यादा मसालेदार गरिष्ठ भोजन पाचनक्रिया को बिगाडता है। पाचनक्रिया बिगडने से रोगो का आक्रमण होता है। अत नियमित जीवनचर्या के लिए पहला सूत्र है—'शुद्ध सात्विक भोजन!'

शुद्ध भोजन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है—शुद्ध स्वच्छ जल! पानी को सस्कृत मे 'जीवन' कहा है। अन्न के बिना आदमी दीर्घकाल तक जी सकता है, किन्तु पानी के बिना प्राण अधिक दिन नही टिक सकते। शरीर मे अन्न को पचाने के लिए जल की आवश्यकता होती है, रक्त आदि धातुओ के निर्माण मे भी जल का भाग अधिक होता है, इसलिए शरीर को स्वस्थ रखने मे शुद्ध व स्वच्छ जल की अधिक आवश्यकता है। यदि जल दूषित है, भारी है, या ऐसा है कि उसके पीने से शरीर रोगग्रस्त हो सकता है तो इस प्रकार का जल उल्टा 'प्राण लेवा' बन जाता है। अत खाये हुए अन्न को शीघ्र पचाने के लिए हल्का और स्वच्छ जल आवश्यक होता है। स्वच्छ, हलका और शीतल जल शरीर को घी से भी अधिक ताकत देता है। आप बतलाइए—घी मे अधिक ताकत है या जल मे? साधारणत दुनिया घी को ही ताकत देने वाला मानती है, इसीलिए कमजोर और दुर्बल आदमी घी खाकर मोटा होने की सोचते हैं। पर देखा जाये तो शरीर को घी से भी अधिक ताकत जल देता है। इसका एक छोटा-सा उदाहरण है—एक रोटी का टुकडा लीजिए और घी मे डाल दीजिए, और एक टुकडा जल मे? अब देखिए जल्दी कौन सा टुकडा गलता है? घी

के जल-प्रदाय केन्द्रो को देखेंगे तो शायद आपको विश्वास नही होगा कि इतना गन्दा व मैला पानी आपको पीने के लिए मिलता है ? शायद आप वह पानी न पीने की भी सौगन्ध खा लेंगे ?

तो इस प्रकार आज के युग मे न तो कही उपद्रवरहित सुरक्षित स्थान ही है, और न शुद्ध जलवायु ! इसी कारण जीवन मे अशाति, बेचैनी और बीमारियाँ घर कर रही हैं, जिन्दगी एक भार की तरह मनुष्य के सिर का बोझ बन रही है।

नियमित जीवनचर्या

प्रश्न हो सकता है—आज जब कही एक मिनट की सुरक्षा की भी गारन्टी नही है, शुद्ध जलवायु सुलभ नही है तो फिर 'उपद्रवरहित क्षेत्र' मे रहने के आदर्श की आज क्या उपयोगिता है ?

इस प्रश्न पर भी आचार्यों ने विचार किया है और समाधान दिया है। जब राष्ट्र मे सुरक्षा और शुद्धता की समस्या है तो फिर व्यक्ति को स्वय ही अपनी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी पडेगी और ऐसा मार्ग निकालना पडेगा कि वह अपने जीवन एव आचार-विचार को अधिक से अधिक सुरक्षित और शुद्ध रख सके। इसके लिए शास्त्रो मे बताया है कि व्यक्ति स्वय अपनी जीवन-चर्या को नियमित करे और इसकी साधना के लिए चार बातो पर विशेष ध्यान दे।

१ शुद्ध सात्विक भोजन

२ स्वच्छ जल

३ स्वच्छ शुद्ध वायु

४ शुद्ध विचार

एक ने पूछा—रोग की जड कहाँ है ?

उत्तर मिला—पेट मे !

और नीरोगता की जड़ ?

वह भी पेट मे !

जितने भी रोग हैं, उनमे प्राय पेट की खराबी ही मुख्य कारण मानी गई है। और पेट खराब क्यो होता है ? अशुद्ध भोजन से ! अनियमित खान-पान से ! आपका पेट आप स्वय खराब करते हैं, आप स्वय रोगो को निमन्त्रण देते हैं।

मैं देखता हूँ पुराने आदमी भोजन की शुद्धता का बहुत खयाल रखते थे। उनमे दो विशेषताएँ थी—एक, वे घर मे ही खाते थे, दूसरी, सादा भोजन करते थे। इसी कारण वे बीमार कम होते और दीर्घजीवी भी होते।

आजकल लोगो को बाजार मे चाट खाने की चाट लग गई है? घर के सादे भोजन से उन्हे तृप्ति नहीं होती इसलिए बाजारो मे, होटलो मे खट्टे-मीठे चर्परे पदार्थ खाकर जीभ का स्वाद लेना चाहते है।

आप जानते हैं बाजार मे शुद्ध भोजन कहाँ मिलेगा? कब का बासी रहता है, खुला पडा रहता है, कितनी मक्खियाँ, कितनी मिट्टी और कितने गन्दे हाथो का मैल उसमे जाता होगा? और फिर बाजार मे आप अकेले ही चट करते जाते हैं। घर मे बच्चे भी हैं, पत्नी भी है—उनका कोई हिस्सा उसमे नही हो सकता है। नीति का कथन है—बाँटकर खाना देवता का भोजन है, अकेले खाना राक्षसी-भोजन है। और फिर सभ्यता की दृष्टि से भी बाजार मे खाना ठीक नही है।

भोजन की शुद्धता के लिए पहली बात है—घर का सादा भोजन। ज्यादा मसालेदार गरिष्ठ भोजन पाचनक्रिया को बिगाडता है। पाचनक्रिया बिगडने से रोगो का आक्रमण होता है। अत नियमित जीवनचर्या के लिए पहला सूत्र है—'शुद्ध सात्विक भोजन।'

शुद्ध भोजन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है—शुद्ध स्वच्छ जल। पानी को सस्कृत मे 'जीवन' कहा है। अन्न के बिना आदमी दीर्घकाल तक जी सकता है, किन्तु पानी के बिना प्राण अधिक दिन नही टिक सकते। शरीर मे अन्न को पचाने के लिए जल की आवश्यकता होती है, रक्त आदि धातुओ के निर्माण मे भी जल का भाग अधिक होता है, इसलिए शरीर को स्वस्थ रखने मे शुद्ध व स्वच्छ जल की अधिक आवश्यकता है। यदि जल दूषित है, भारी है, या ऐसा है कि उसके पीने से शरीर रोगग्रस्त हो सकता है तो इस प्रकार का जल उल्टा 'प्राण लेवा' बन जाता है। अत. खाये हुए अन्न को शीघ्र पचाने के लिए हल्का और स्वच्छ जल आवश्यक होता है। स्वच्छ, हलका और शीतल जल शरीर को घी से भी अधिक ताकत देता है। आप बतलाइए—घी मे अधिक ताकत है या जल मे? साधारणत दुनिया घी को ही ताकत देने वाला मानती है, इसीलिए कमजोर और दुर्बल आदमी घी खाकर मोटा होने की सोचते हैं। पर देखा जाये तो शरीर को घी से भी अधिक ताकत जल देता है। इसका एक छोटा-सा उदाहरण है—एक रोटी का टुकडा लीजिए और घी मे डाल दीजिए, और एक टुकडा जल मे? अब देखिए जल्दी कौन सा टुकडा गलता है? घी

मे पडा टुकडा नही गलेगा, जल मे पडा टुकडा शीघ्र ही गल जायेगा—इसका मतलव है अन्न को जल्दी पचाने की ताकत जल मे है। और पचा हुआ अन्न ही शरीर को ताकत देता है। इसलिए सादा शुद्ध भोजन और शुद्ध स्वच्छ जल स्वास्थ्य के लिए ये दो वातें सिद्ध हुई।

तीसरी वात है, शुद्ध वायु! आजकल शहरो मे शुद्ध वायु भी मिलनी कठिन है। आस-पास का वातावरण गटरो की गन्दगी और कूडे-कचरे से दूपित रहता है, और वायुमडल मीलो के घुओ से विपाक्त। ऐसी स्थिति मे शुद्ध वायु कहाँ से प्राप्त हो? और शुद्ध वायु के विना प्राण-प्रफुल्लित नही रह सकते। मनुष्य स्वस्थ नही रह सकता। इसीलिए शुद्ध वायु मे प्रात.काल का भ्रमण, शरीर के लिए आवश्यक वतलाया है। एक तो प्रात काल मे दूपित वायु शात रहती है, हवा मे शीतलता भी रहती है और स्वच्छता भी! ऐसी वायु मे मनुष्य भ्रमण करे, भ्रमण मे भी कहते हैं लम्वे-लम्वे सांस खींचकर शुद्ध वायु ग्रहण करे तो उससे शरीर को पोषण व ताजगी मिलती है।

स्वस्थता के लिए चौथी वात है—शुद्ध विचार! मनुष्य अच्छे से अच्छा भोजन करे, शुद्ध हवा मे घूमे, किन्तु यदि मन मे दूषित विचार घूम रहे है, मस्तिष्क अशुद्ध विचारो से दवा है तो वह सव वेकार है। शरीर की स्वस्थता मन की स्वस्थता पर टिकी है, और मन का निर्माण विचारो से होता है। क्रोध मे जलता हुआ मनुष्य कितनी ही शुद्ध हवा मे घूमे, शीतल जल पिये—उसे शान्ति अनुभव नही हो सकती। उसे रोम-रोम से आग निकलती हुई-सी प्रतीत होती है। उसका रक्त जलता रहता है। इसी प्रकार चिन्ता-शोक मे डूवे मनुष्य को पकवान और मिष्टान्न भी मिट्टी जैसे लगते हैं। भय, चिन्ता-शोक से मनुष्य का शरीर गलने लग जाता है।

हमारे यहाँ एक कहानी आती है। एक राजा ने एक मोटा-ताजा वकरा मँगाया, और एक गांव वालो को देते हुए कहा—"इसे खूव खिलाओ-पिलाओ, इसकी सँभाल रखो, पर ध्यान रखना आज जितना इसका वजन है उससे एक तोला भी न वढने पाये और न घटने!"

आप जानते हैं, खायेगा-पीयेगा तो वजन वढ़ेगा ही। यह कैसे हो, खूव खाये-पीये और शरीर का वजन नहीं वढ़े? है कोई ऐसी दवा?

गांव वाले चिन्तित हो गये। उस गांव मे रोहा नामक एक वुद्धिमान नट पुत्र रहता था। लोगो ने उससे पूछा। उसने वताया—"इसमे कौन-सी वडी वात है। इस वकरे के सामने एक सिंह को पिंजरे मे खडा कर दो, रात-दिन

उसी के सामने रखो, और खूब खिलाओ-पिलाओ ! खाया-पीया कुछ भी इसके शरीर को नही लगेगा।"

गाँव वालो ने पूछा—"क्यो ? इसका क्या कारण ?" रोहा ने बताया—"सिंह को सामने देखकर बकरा रात-दिन भयभीत रहेगा, डर से काँपता रहेगा, और जब मन मे भय होगा तो खाये-पिये का खून कहाँ से बनेगा ?"

गाँव वालो ने ऐसा ही किया और बकरा जैसा था वैसा का वैसा रहा।

ग्रन्थो मे इस कहानी का आगे विस्तार किया गया है, पर मुझे बताना यह है कि मन मे जब भय व चिन्ता रहेगी तो चाहे जो खायें उसका रस नही बनेगा ! इसी प्रकार शोक, वासना और लोभ के विचारो से भी मनुष्य का शरीर घटता जाता है। क्रोध के बारे मे तो कहावत ही है—"क्रोधी तो कुढ-कुढ मरे।" अखबारो मे एक घटना आई थी कि—एक माँ ने अपने बच्चे को दूध पिलाया और दूध पीते ही बच्चा खत्म हो गया। डाक्टरो ने उसकी जाँच की, पता लगाया कि माँ ने क्या खाया, क्या किया ? तो मालूम हुआ कि वह बाहर से अपनी पडौसिन के साथ जोरदार झगडा करके आई थी, क्रोध से उसकी छाती धक-धक कर रही थी, आँखें जलने लगी थी और सारा शरीर काँपने लग गया था, इसी हालत मे उसने बच्चे को स्तन का दूध पिलाया। डाक्टरो ने रक्त की जाँच की तो बच्चे की मृत्यु का कारण मिला—माँ का क्रोध ! क्रोध से माँ का दूध विषाक्त हो गया था और वही बच्चे की मृत्यु का कारण हो गया।

तो यह है शरीर पर विचारो का प्रभाव ! यदि मन मे बुरे विचार रहेगे तो निश्चित समझिए सौ-सौ उपाय करने पर भी आप स्वस्थ नही रह सकते।

चार डाक्टर

इस प्रकार आपके जीवन को सुखी, स्वस्थ और आनन्दमय रखने के लिए ये चार डाक्टर आपके साथ हमेशा रहने चाहिए।

एक बहुत बडे डाक्टर की मृत्यु के समय लोगो ने उससे पूछा—"आप अपने पीछे क्या विरासत छोड रहे हैं ?"

डाक्टर ने धीमे से उत्तर दिया—तीन डाक्टर !

लोगो ने पूछा—कौन से ?

डाक्टर ने कहा—"हवा, पानी और धूप ! ससार के ये तीन सबसे बड़े

डाक्टर हैं, और मैंने अपने जीवन मे लोगो को यही बात समझाने की कोशिश की है ।"

उक्त डाक्टर की बात को यदि हम अपने ढग से कहे तो यों कह सकते हैं—ससार मे ये चार वडे डाक्टर हैं—

१ शुद्ध भोजन
२. शुद्ध हवा
३ शुद्ध जल
४. शुद्ध विचार !

ये चार डाक्टर यदि आपके पास है तो फिर किसी भी वैद्यजी को, हकीम जी को या डाक्टर साहब को बुलाने की जरूरत नही, किसी का दरवाजा खट-खटाने की आवश्यकता नही ।

मारवाडी मे एक कहावत है—

ऊँडो सोवँ ऊनो खावँ, पाव कोस मेंदाने जावँ ।
चोखो सोचँ ठंडो न्हावँ, तिण घर वैद कदँ नहीं आवँ ।

जो व्यक्ति समय पर सोवे, समय पर जागे, सदा समय पर सादा और गर्म भोजन करे, घूमने व निवटने के लिए दूर जगल मे जाये, अच्छा विचार रखे, और ठण्डे पानी से सदा स्नान करे—इस तरह रहने वाले के घर वैद्यराज जी को कभी जाने की जरूरत ही नही पडती ।

आपको आराम की बीमारी है

एक गाँव मे मैंने देखा, एक वैद्यजी सन्तो को देखने के लिए आये । वहाँ एक सेठजी के घर भी वे गये । सेठानीजी को देखा, सेठजी ने कहा—"ये सदा बीमार रहती हैं, इनका इलाज करिए ।"

वैद्यजी ने देखा-भाला पर सेठानीजी को तो कोई बीमारी नही थी । अच्छा खाना-पीना, आराम से रहना, दिनभर गद्दी तकियो पर पडे-पड़े फूल रही थी । वैद्यजी ने कहा—इनको बीमारी कुछ भी नही है, सिर्फ चर्बी वढ रही है ।

सेठजी ने कहा—कुछ इलाज वताइए !

वैद्यराज बोले—सेठानी जी काम क्या करती हैं ?

सेठजी—काम तो कुछ नहीं ! सिर्फ घर मे बैठी रहती हैं । रसोई वाली खाना वनाती है, नौकर-नौकरानी सब काम कर लेते हैं । सेठानी को तो पानी पीने के लिए भी उठने की जरूरत नहीं !

वैद्यजी ने कहा—"सेठानीजी ! कुछ मेहनत किया करो, सुबह मील-दो मील घूमने जाओ ! हाथ से झाड़ू लगाओ, पाँच सेर आटा रोज पीसो तब चर्बी कम होगी तो अपने आप तबियत ठीक हो जायेगी।"

सेठानीजी ने कहा—वैद्यजी ! यह तो नही हो सकता, कोई दवा दो जिससे ठीक हो जाये।

अब वैद्यजी विचारे क्या दवा दें ! मोटापे की तो दवा यही है—घूमो-फिरो, मेहनत करो और सादा खाना खाओ ! गरिष्ठ मसालेदार भोजन, रात-दिन आराम और बन्द हवा मे रहना—बीमारी नही बढेगी तो और क्या होगा ? और जब बीमारी मे सडते रहे तो पास मे कितना धन हो, कितने ही मकान हो, कारें हो—जीवन का आनन्द कैसे मिलेगा ?

कहते हैं—अमेरिका का धन कुबेर हेनरी फोर्ड ससार का सबसे बडा रईस और धनी आदमी है। उसने एक बार अपने मोटर के कारखाने मे घूमते हुए मजदूरो को मस्ती के साथ खाना खाते देखा, तो वह रो पडा। उसने अपनी डायरी मे लिखा—काश ! मैं भी इन मजदूरो की तरह मस्ती से खाना खाता ! मैं एक कप चाय भी पूरी नही पी सकता, रात-दिन गोलियाँ खा-खा कर जीता हूँ और ये मजदूर बेफिक्री से मनचाहा खाना खाकर आनन्द ले रहे हैं।"

यह आनन्द क्या है ? जो हेनरी फोर्ड को तो नही मिल सका, और उसके मोटर मजदूरो को मिल रहा है ? यह है शुद्ध हवा, शुद्ध जल, सादा भोजन और सादे अच्छे विचारो का आनन्द ! भाइयो ! धन से रोटी मिल सकती है, किन्तु भूख नही ! औषधि मिल सकती है किन्तु स्वास्थ्य नही ! सुविधाएँ मिल सकती हैं, किन्तु आनन्द नही ! स्वस्थ और सुखी जीवन का आनन्द तो वही ले सकता है, जो शुद्ध हवा, शुद्ध जल, सादा भोजन और पवित्र विचारो मे जीवन बिताता है। और इसी बात के लिए यह कहा गया है—जहाँ जीवन मे ये चीजें सुलभ हो, वही पर सद्गृहस्थ को रहना चाहिए। वही वास्तव मे उपद्रवरहित क्षेत्र है, और वह चाहे गाँव हो या शहर—वहाँ रहने से गृहस्थ अपना जीवन सुख, शान्ति और निर्भयता के साथ बिता सकता है ?

☆☆

१५

निन्दनीय आचरण

गृहस्थधर्म के ग्यारहवें सूत्र पर विवेचन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—"अप्रवृत्तश्च गर्हिते"—सद्गृहस्थ ऐसा आचरण एव प्रवृत्ति न करे जिससे समाज मे निन्दा एव घृणा होती हो। जिस कर्म के करने से व्यक्ति की प्रतिष्ठा गिरती हो, जिस आचरण से लोग घृणा करते हों, निन्दा एव नफरत करते हो—ऐसे आचरण से व्यक्ति समाज मे निन्दनीय कहलाता है।

जितने भी धर्म एव नीति शास्त्र हैं, सब ने एक स्वर से इस बात का समर्थन किया है कि गर्हित आचरण नही करना चाहिए। समाज मे जो व्यक्ति रहता है, वह समाज से, अपने परिवार एवं मित्रवर्ग मे प्रशसा एव सम्मान की इच्छा रखता है, वह हर मुंह पर अपनी प्रशसा सुनना चाहता है। किंतु यह प्रशसा एव सन्मान कैसे प्राप्त होता है ? व्यक्ति के प्रशसनीय आचरण से। सुन्दर व्यवहार से। यदि आपका आचरण व व्यवहार अभद्र है, निन्दनीय है और आप चाहे कि लोग आपकी प्रशंसा करें—तो यह तो अमावस की रात मे चन्द्रमा देखने की लालसा जैसी बात हो गई !

विनोवा जी ने कहा है—"जनता थर्मामीटर है।" शरीर मे जितनी गर्मी होती है उतनी थर्मामीटर बता देता है, दूध मे जितना पानी होता है वह भी दूध के थर्मामीटर मे आ जाता है। इसी तरह व्यक्ति मे जैसे गुण होते हैं वह अपने आप जनता की नजर मे आ जाते हैं। जैसे कहा है—

नहि कस्तूरिका गंध शपथेनानुभाव्यते।

कस्तूरी की गध को बताने के लिए सौगध खाने की जरूरत नहीं होती, वह अपने आप प्रगट हो जाती है। और लहसुन-प्याज खाया हुआ हो तो ?

वह भी गध मुँह बद करने से छुप नही सकती ? चाहे कस्तूरी की गध हो या लहसुन की—हवा अपने आप उसे बता देती है, वैसे ही मनुष्य मे चाहे गुण हो या अवगुण—जनता की जबान अपने आप उसे व्यक्त कर देती है। यदि आप छुपकर भी निन्दनीय कर्म करते हैं, बुरा आचरण करते हैं, तो ध्यान रखिए, वह छुप नही सकेगा। अलार्म की घडी चाहे जहाँ रखी हो जब घटी बजेगी तो अपने आप पुकार लगा देगी "मैं कहाँ हूँ ?"

एक बार किसी बाहर गाँव से कुछ भाई आये, और वे एक सद्गृहस्थ के घर पर ठहरे। सद्गृहस्थ ने उनकी योग्य खातिरदारी की, सार्धमिकता के नाते उनका स्वागत-सत्कार किया। वे जिस कमरे मे ठहरे थे उस कमरे मे एक घडी रखी थी। वह गृहस्थ प्रात' चार बजे उठना इसलिए घडी मे चार बजे का अलार्म लगाया हुआ था।

अब जो सज्जन बाहर गाँव से आये थे, उनमे एक के मन मे पाप आ गया। रात सोते समय उसने घडी उठाकर अपनी सूटकेस मे छुपाली और सोचा—"सुबह दिन निकलने से पहले ही निकल जायेंगे, क्या पता चलेगा, किसने ली ?"

सुबह लोग उठे, समय देखने के लिए घडी की ओर ध्यान गया तो बोले—घडी कहाँ गई ? सभी एक-दूसरे के मुँह को ताकने लगे और सभी ने एक ही उत्तर दिया—"हमे क्या मालूम, कहाँ गई ?"

अब चार बजने वाले थे, सबने अपना-अपना सामान बाँधा और बिस्तर-सूटकेस उठाकर ज्योही चलने लगे घडी ने एलार्म लगाया—टन-टन-टन !

अब क्या था, चोर पकडा गया, और सबने उसे झिडका, "सतो के दर्शन करने आये और यह पाप कमा के जा रहे हो !" खैर ऐसे भी लोग होते हैं !

मैं बता रहा था—सूटकेस मे छिपी घडी ने जैसे चोर का भेद खोल दिया, वैसे ही बुराई, पाप-अन्याय चाहे जहाँ छुपकर किया जाये वह छुप नही सकता। और जब प्रकट होता है तो जनता मे अपने-आप उसकी निन्दा होती है, बदनामी होती है और लोग उससे घृणा एव नफरत करने लगते है। इसलिए आचार्य ने कहा है—सद्गृहस्थ को कभी भी ऐसा गर्हित आचरण नही करना चाहिए जिससे लोक उसकी निंदा एव बदनामी करें।

निद्य कर्म क्या है ?

अब आप पूछ सकते हैं कि निन्दनीय कर्म नही करें यह तो ठीक है, पर

निन्दनीय कर्म क्या है ? उसकी परिभाषा क्या है ? कौन से कार्य निंद्य हैं जिनका आचरण निषिद्ध है ?

उत्तर यह है कि इसकी कोई सपूर्ण सूची तो आज तक बन नही सकी कि कौन से काम अच्छे हैं और कौन से बुरे ! ससार मे न अच्छाइयो की पूरी गणना हो पाई है और न बुराइयो की ! और मैं समझता हूँ इसकी लिस्ट बनाने की कोई जरूरत भी नही। शास्त्र तो केवल सकेत भर दे देते हैं, इशारा कर देते हैं और बुद्धिमान को इशारा काफी होता है, फिर तो आप अपने विवेक से ही देखिए कि क्या अच्छा है, क्या बुरा ?

एक गाँव मे एक आँखो का डाक्टर आया। कई व्यक्तियो की आँखें उसने ठीक की। एक अधा आदमी उसके पास आया और बोला—"डाक्टर साहब ! मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ ?"

डाक्टर बोला—पूछिए !

अधा—"आप सब घरो मे जाते हैं, हर आदमी को देखते हैं, इसलिए आप यह बताइए कि हमारे गाँव मे अधे कितने हैं, काने कितने हैं और कावरे कितने हैं ?"

डाक्टर को अधे की बात पर हँसी भी आई, और रोष भी। उसने कहा—"मेरा काम अधो को आँखें देना है, अधो की लिस्ट तैयार करना नही मैं तुम्हारी भी आँख ठीक किये देता हूँ, भाई ! यह काम तुम्ही पूरा करलो !"

तो शास्त्र का काम यह नही है कि वह आपको बुराइयो और भलाइयो की लिस्ट बनाकर देवें। वह तो आपको विवेक एव ज्ञान की आँख दे देगा, फिर आप स्वय ही अपने जीवन मे इसका विवेक कीजिए कि किस कर्म के करने से ससार मे बुराई होती है और किस कर्म के करने से भलाई ! कौन-सी वृत्तियाँ हैं जो आपको रावण के सिंहासन पर बिठाती हैं, आपको राक्षस कोटि मे ले जाती हैं और कौन-सी वृत्तियाँ है जो आपको राम के रूप मे उपस्थित करती हैं, आपको देवता की श्रेणी मे बिठाती हैं ? शास्त्रो मे सकेत के रूप मे केवल उनके उल्लेख एव सूचना मात्र अवश्य मिलती है।

छह दुष्ट वृत्तियां

अथर्ववेद (८।४।२२) का एक प्रसिद्ध श्लोक है जिसमे मनुष्य की छह अन्तरवृत्तियो को राक्षस के रूप मे बताया है—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं
जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं
दृषदेव प्रमृण ! रक्ष इन्द्र !

हे पुरुष !—इन छह दुष्ट वृत्तियो के राक्षसो को पत्थर मार-मारकर दूर भगा दे। वह पहली वृत्ति है—उलूकवृत्ति—उल्लू को जैसे अन्धकार प्रिय लगता है, वह अँधेरे मे ही सदा रहना चाहता है, वैसे ही ज्ञान से दूर भागना, शास्त्रो की निंदा करना एव विद्वानो का अपमान करना—यह उलूकवृत्ति का लक्षण है।

दूसरी वृत्ति है—भेडिये की ! भेडिया बहुत क्रूर और दगाबाज होता है। छोटे-छोटे प्राणियो पर वह घात लगाता रहता है और मौका पाते ही झपट कर उन्हें समाप्त कर डालता है। मनुष्य के अन्दर इस प्रकार की जो क्रूर, विश्वासघाती और नृशस भावनाएँ हैं, वे भेडियावृत्ति के चिन्ह हैं।

तीसरी श्वानवृत्ति है। कुत्ते मे दो बुराइयां हैं—मत्सरता और चापलूसी। वह अपने जाति भाइयो से झगडता है, किसी दूसरे मुहल्ले के कुत्ते को अपने मुहल्ले मे आया देखकर उस पर गुर्राता है, झपटता है। इसलिए एक कहावत है "पडितो पडितं दृष्ट्वा श्वानवद् गुरगुरायते"—ईर्ष्यालु पडित दूसरे पडित को देखकर ऐसा गुर्राता है जैसे कुत्ता कुत्ते को देखकर।

कुत्ता चापलूसी मे भी प्रसिद्ध है। थोडा-सा रोटी का टुकड़ा किसी ने दिया तो उसके पांव चाटने लग जाता है, पूँछ हिला-हिला कर उसके इशारो पर नाचने लग जाता है। तो मत्सरता, ईर्ष्या, जाति-विद्वेष एव चापलूसी यह श्वानवृत्ति के लक्षण हैं।

चौथी चकोरवृत्ति है। चकवा की जाति प्रेम एव कामाकुलता के लिए प्रसिद्ध है। अत्यधिक कामासक्ति, विषय-वासना, रूप और सौंदर्य को देखकर मारे-मारे फिरना, इश्क पर फिदा होने का नाटक करना—चकोरवृत्ति के चिन्ह हैं।

पाँचवी है—गरुडवृत्ति ! गरुड की गणना अहकारी पक्षियो मे की जाती है। गरुड को अपनी तेज गति की ऊँची उडान का बहुत ज्यादा घमड होता है और वह दूसरे पक्षियों को अपने से बहुत हीन समझता है। धन, बल एव विद्या आदि का अहकार करना, दूसरो को तुच्छ समझकर उनका अपमान करना, अपने मे ही मशगूल रहना—गरुड की मनोवृत्ति कहलाती है।

छठी वृत्ति— **गृध्रवृत्ति** है। गीध ससार मे सबसे लालची पक्षी माना जाता है। कहते हैं उसकी दृष्टि बडी तेज होती है, पर उससे देखता क्या है? दूर-दूर तक उडते हुए शिकार की टोह मे दृष्टि दौडाता रहता है, या जगलो मे, श्मशानो मे पड़े मांस-पिंडो पर दृष्टि गडाये इधर-उधर भटकता है। कोई आदमी किसी के धन पर ललचाता है तो लोग कहते हैं गीध की तरह देख रहा है। लालच, लोभ, दूसरो की सम्पत्ति को हडपने की आदत, दूसरो का भाग छीनने की चेष्टा और अपनी पेटी भरने के लिए दूसरो का विनाश करना ये सब गृध्रवृत्ति के उदाहरण हैं।

मन की ये जो दुष्ट वृत्तियाँ हैं, इन्हें राक्षस कहा गया है। और राक्षस क्यो कहलाए? देव योनि पाकर भी वे राक्षस क्यो कहे जाते हैं? रावण इतना बडा नीतिज्ञ विद्वान होकर भी राक्षस क्यो कहलाया? अपनी दुष्टता के कारण! दुर्वृत्तियो के कारण! वाल्मीकि रामायण मे बताया है—तीन दोष मनुष्य की कीर्ति को नष्ट कर देते हैं और कीर्ति नष्ट होने पर मनुष्य स्वय नष्ट हो जाता है। वे तीन दोष है—

परस्वाना च हरणं, परदाराभिमर्शन।
सुहृदामतिशंका च त्रयो दोषा क्षयावहाः॥

—वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ८७।२४

—दूसरो का धन चुराना, दूसरो की स्त्रियो पर ताक लगाना और अपने मित्रो के प्रति अविश्वास करना—ये तीन दोष मनुष्य को नष्ट कर देते हैं। रावण मे दूसरा एक ही दोष था, जिसके कारण आज भी ससार उसके नाम से घृणा करता है। आज भी रावण का पुतला जलाया जाता है? और कोई माँ अपने पुत्र का 'रावण' नाम रखने को भी तैयार नही है। इसका कारण एक ही है कि उसकी वृत्तियाँ निन्दनीय थी, उसके आचरण गर्हित थे। और आश्चर्य है कि उसमे एक ही बुराई की प्रबलता थी, जिसके कारण ही वह ससार मे इतना बदनाम हो गया, तो जिसमे उपर्युक्त छह दुष्ट वृत्तियाँ हो, वह मनुष्य ससार मे कितना निन्दनीय एव गर्हणीय माना जायेगा?

छह दोष

मैं समझता हूँ इन छह दुष्ट वृत्तियो मे मनुष्य के अन्तःकरण की समस्त दुर्वृत्तियो का सक्षिप्त निदर्शन हो गया है। वैसे ग्रन्थो मे विभिन्न प्रकार से निन्दनीय कर्मों की गणना करके बताया गया है। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे चोरी

को साधुजनो द्वारा निन्दनीय बताया है—"अदत्तादाण साहु गरहणिज्जं।"[1] दशवैकालिक मे कहा है—विश्व के सभी सत्पुरुषो ने असत्य भाषण की निन्दा की है—"मुसावाओ य लोगम्मि सव्वसाहूहिं गरहिओ।"[2] इस प्रकार अनेक स्थानो पर अनेक प्रकार के दुर्गुण बताये गये हैं और कहा है उनसे मनुष्य ससार मे निन्दनीय होता है।

तथागत बुद्ध से किसी ने पूछा—"मनुष्य तो ससार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, फिर वह निन्दनीय एव निकृष्ट क्यो कहलाता है?" बुद्ध ने उत्तर मे कहा—मनुष्य को बर्बाद करने वाले ससार मे छह दोष हैं—

उस्सूरसेय्या, परदारसेवा
वेरप्पसवो च अनत्यता च।
पापा च मित्ता सुकदरियता च
एते छ ठाना पुरिस धसयन्ति॥[3]

बहुत अधिक निद्रा, परस्त्रीगमन, छोटी-छोटी बातो के लिए लडना-झगडना, अन्याय करना, बुरे लोगो के साथ मैत्री करना और धन होते हुए भी कृपणता—ये छह दोष ऐसे हैं जिनसे मनुष्य निन्दनीय हो जाता है।

वस्तुत देखा जाय तो बुराइयो का कोई अन्त नही है, और न उनकी गणना हो सकती है। यह तो मनुष्य के विवेक पर ही निर्भर है कि सर्वत्र विवेक से विचार करे कि उसके लिए कौनसा मार्ग अच्छा है और कौनसा बुरा? एक आचार्य ने कहा है—

पाप किया ज्यु नरक है धर्म किया ज्यु सग्ग।
दोनों मार्ग बताविया आछो ह्वै सो लग्ग॥

भाई! तेरे सामने दोनो रास्ते खुले हैं, एक रास्ता स्वर्ग जाने का, धर्म का, भलाई, सत्य, सेवा, करुणा, सरलता आदि का और एक रास्ता है नरक जाने का, पाप का, बुराई, कुटिलता, चोरी, विश्वासघात, क्रोध, लोभ आदि का। यदि तुझे स्वर्ग पसन्द हो तो स्वर्ग का रास्ता पकड ले, यदि नरक पसन्द हो तो नरक का रास्ता भी खुला पडा है।

कोई कहे कि हम शास्त्रो की इतनी बातें नही जानते—हमे तो सीधी-सी

---

१ प्रश्नव्याकरण १।३
२ दशवैकालिक ६।१३
३ दीघनिकाय ३।८।२

वात वताइये कि कौनसे रास्ते पर चलना चाहिए ? इसके लिए भी एक प्राचीन उक्ति है—"**महाजनो येन गतः स पन्था**"—जिस मार्ग से महापुरुष चले हैं, वही धर्म का मार्ग है। अव आप इसी सूत्र को पकड लीजिए। महापुरुषो ने चोरी नही की, आप भी चोरी मत करिए। महापुरुषो ने किसी को धोखा नही दिया, किसी के साथ जालसाजी नही की, अन्याय और अत्याचार नहीं किया। वस आप भी इनसे दूर रहिये। महापुरुषो ने कभी आग्रह, कदाग्रह और विग्रह नहीं किया। न उन्होंने कभी अपने विचारो का आग्रह किया, न अपने सम्प्रदाय और पथ के लिए विग्रह खडा किया। और आज आप क्या कर रहे हैं ? जरा देखिये अपने घर को, अपने मन को और अपनी आत्मा को। जो सम्प्रदाय, धर्मस्थान एव मन्दिर आदि धर्म के आलम्वनभूत वने थे, वे ही आज झगडे और सघर्ष की जड वन रहे हैं। लोग कही सम्प्रदाय को लेकर झगडते हैं, धर्मस्थान और मन्दिर को लेकर सिर फोडते हैं, और उनकी समझदारी कहूँ या वेवकूफी कि अपने धर्मस्थान का फैसला कोर्टों मे करवाते हैं, जहाँ ससार धार्मिकता का उपहास करता है ! क्या यह आपके महापुरुषो का आचरित मार्ग है ? क्या इनसे आपके धर्म एव समाज की वदनामी नही होती है ? लोग कहते हैं—"भगवान तो मन्दिर मे वैठे हैं और भक्तो को कचहरी मे लडा रहे हैं। साधुजी तो मुँह वाँधकर चुप वैठे हैं और श्रावक परस्पर सिर फोड रहे हैं।" अहिंसा और अनेकान्त का कैसा मजाक कर रहे हैं, आप लोग ? क्या यही महापुरुषो का कृत्य है। वस्तुत इन आचरणो से धर्म एव धर्म-गुरुओ की भी वदनामी होती है। निन्दनीय आचरण का अर्थ यही नही है कि चोरी-जारी न करें, किन्तु जिस आचरण से व्यक्ति, समाज, धर्म और राष्ट्र की अपकीर्ति हो, वदनामी होती हो वे सभी आचरण निन्दनीय और त्याज्य हैं।

पिछले दिनो समाचार-पत्र मे एक घटना पढी थी। भारत का एक छात्र विदेश गया था। उसने लन्दन की किसी लाइब्रेरी मे अध्ययन करने के लिए कुछ पुस्तकें ली। उन पुस्तको मे से कुछ महत्त्वपूर्ण चित्र उसने फाड लिये। जव वहाँ के अधिकारियो को इस वात का पता चला तो उन्हें वहुत रोष आया और किसी भी हिन्दुस्तानी को पुस्तक देना वन्द कर दिया। तो एक व्यक्ति के इस आचरण से समूचे देश व राष्ट्र के प्रति एक गलत धारणा वन गई कि हिन्दुस्तानी चोर होते हैं। इसी प्रकार जैनो के प्रति लोगो मे कुछ गलत धारणाएँ वनी हुई हैं—जैन कायर होते हैं, लालची होते हैं। चीटियो की तो दया पालते हैं और मनुष्यों का खून चूस लेते हैं। हो सकता है कि किसी एक जैन के आचरण से लोगो मे इस प्रकार की गलत प्रतिक्रिया हुई हो, पर इस प्रतिक्रिया ने समूचे जैन-समाज को वदनाम कर दिया।

इसलिए व्यक्ति को निरन्तर यह ध्यान रखना चाहिए कि वह ऐसा निन्दित आचरण न करे, ऐसा कुत्सित कर्म न करे जिससे समाज मे उसे नीचा देखना पडे, उसके कारण समाज व धर्म की वदनामी हो, राष्ट्र की कीर्ति पर काला धब्बा लगे। यही उसका धार्मिक आदर्श है, नैतिक कर्त्तव्य है और राष्ट्रीय धर्म है। इसी आदर्श को आचार्य ने गृहस्थधर्म के ग्यारहवें बोल के रूप मे प्रस्तुत किया है।



१६

तेते पाँव पसारिए

सरोवर मे जिस प्रकार जल आने के मार्ग होते है उसी प्रकार जल के निकलने के भी मार्ग होते हैं। यदि किसी सरोवर मे जल आता तो रहे, परन्तु जाने का कोई मार्ग न हो तो सरोवर की क्या स्थिति होगी ? पाल टूट जायेगी, तट टूट जायेंगे और जल ऊपर से बह निकलेगा। और यदि जल बहता-ही-बहता रहे, आने के रास्ते बन्द हो गये हो तो ? तो धीरे-धीरे सरोवर सूख जायेगा।

गृहस्थ-जीवन भी एक सरोवर है। जल की तरह उसमे भी धन आने-जाने के रास्ते बने होते है, जिन्हें 'आय' और 'व्यय' कहते हैं। यदि केवल आय-ही-आय हो, धन आता रहे, पर व्यय का कोई समुचित मार्ग न हो तो गृहस्थ-जीवन की मर्यादा टूट जायेगी, और यदि व्यय-ही-व्यय होता रहे, आय का द्वार बन्द हो गया हो तब भी जीवन का सरोवर सूख जायेगा, दरिद्रता छा जायेगी। इस प्रकार गृहस्थ-जीवन मे आय और व्यय के दोनो मार्ग समुचित रूप से चलते रहने चाहिए। आय के अनुसार व्यय और व्यय के अनुकूल आय यह दोनो स्रोत जब व्यवस्थित रहते हैं तो जीवन का सरोवर सदा हरा-भरा और परिपूर्ण रहता है। इस सिद्धान्त को आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने जो स्वय एक महान नीतिज्ञ आचार्य थे, इस प्रकार व्यक्त किया है—

"व्ययमायोचित कुर्वन् वेष वित्तानुसारतः"

गृहस्थ आय के अनुसार व्यय करता हुआ, और वैभव के अनुरूप रहन-सहन रखता हुआ सुखी होता है।

चार पुरुषार्थो की जीवन-दृष्टि

सद्‌गृहस्थ की मर्यादा को बताने वाले ये दो सूत्र—जीवन की आर्थिक नीति

के आधार-स्तम्भ कहे जा सकते हैं। जीवन मे चार प्रकार के पुरुषार्थ बताये गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म सबसे पहला पुरुषार्थ है, जीवन के अभ्युदय एव निश्रेयस् का वह मूल आधार है। धर्म की व्याख्या ही आचार्यों ने की है—"यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म "[1]—जिससे जीवन का भौतिक, नैतिक एव आध्यात्मिक विकास हो, वह धर्म है। धर्म के बाद जीवन मे अर्थ का महत्त्व है। इसमे भी दो दृष्टियाँ हैं—पहली दृष्टि यह है कि अर्थ से ही जीवन के व्यावहारिक कार्य सिद्ध होते है। अर्थ गृहस्थ-जीवन की धुरा है, इसी के आधार पर सब व्यवस्थाएँ, सब व्यवहार बनते हैं और चलते हैं। आचार्य सोमदेव ने अर्थ की परिभाषा करते हुए कहा है—

यत सर्वप्रयोजन् सिद्धि· सोऽर्थः[2]

जिससे सब अर्थों (प्रयोजनो) की सिद्धि हो सकती हो, वह है अर्थ। अर्थ के बिना सब व्यर्थ है। इसलिए भौतिक जगत् मे अर्थ का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है, जैसा कि आध्यात्मिक जगत मे धर्म का है। इसलिए धर्म के बाद अर्थ को महत्त्व दिया है।

दूसरी दृष्टि यह है—कि जीवन मे अर्थ का महत्त्व तो है, किन्तु अर्थ ही सब कुछ नही है। अर्थ वही सार्थ (सफल) है जो धर्म से प्राप्त हो, जो न्याय-नीति एव मर्यादा के अनुसार प्राप्त हो सके वही अर्थ जीवन मे सुख एव आनन्द दे सकता है। इसलिए धर्म के बाद अर्थ को रखने का अभिप्राय है धर्म से अनुबधित अर्थ। धर्मरहित अर्थ—अनर्थ होता है—"अर्थोह्यनर्थमूल"—जैसा शकराचार्य ने कहा है, वह उसी धर्म-भावना रहित अर्थ के लिए कहा है।

अर्थ के बाद 'काम' बताया गया है, इसका भी भाव यही है कि अर्थ जब होगा तभी तो 'काम' होगा। काम का अर्थ है, इन्द्रियो की तृप्ति।—सर्वेन्द्रिय-प्रीति. स काम·[3] समस्त इन्द्रियो की प्रीति-प्रसन्नता, वस्तुओ के उपभोग से प्राप्त तृप्ति—यह है काम। अर्थ के बिना काम सध नही सकता। पास मे पैसा होगा तभी मनुष्य उसका उपभोग कर सकेगा। पास मे फूटी कौडी न हो, ठन-ठनपाल गोपाल हो और रोज रबडी रसगुल्ला उडाना चाहे तो? कोई हलवाई काका-मामा है जो मुफ्त मे देता रहे! बिना पैसे के मनुष्य इच्छापूर्ति नही कर सकता, इसलिए अर्थ के बाद 'काम' पुरुषार्थ बताया गया है। आचार्यों ने कहा है—'अर्थ' धर्म के अनुकूल रहना चाहिए और काम—धर्म एव अर्थ दोनो के अनुकूल

---

१ वैशेषिकदर्शन सूत्र १ २ नीतिवाक्यामृत (अर्थ समुद्देश, १)
३ नीतिवाक्यामृत (काम समुद्देश,१)

होना चाहिए—"धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत, तत सुखीस्यात्"[१]—धर्म एव अर्थ को ध्यान मे रखकर जो 'काम' सेवन करता है, वह जीवन मे कभी दु.खी नही होता।

मोक्ष अन्तिम पुरुषार्थ है, वह तीनो पुरुषार्थ का अन्तिम प्राप्तव्य है, मजिल है। तीनो पुरुषार्थ जब इस मन्जिल की ओर बढते हैं, तभी वे महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि—मोक्ष के अभिमुख चलने वाले धर्म, अर्थ एव काम—परस्पर विरोधी नहीं, किन्तु सहयोगी हो सकते हैं और जिन शासन मे उनका निषेध नही है।[२]

धर्म का विवेचन पहले किया जा चुका है, और मोक्ष का विवेचन आगे आयेगा। और वैसे तो प्रत्येक सूत्र मे धर्म एव मोक्ष अनुस्यूत है—जैसे मनकों मे धागा। रत्नहार मे जैसे स्वर्णसूत्र पिरोया रहता है वैसे प्रत्येक आचरण के साथ धर्म एव मोक्ष की भावना जुडी रहनी चाहिए। किन्तु विशेष रूप से प्रस्तुत दो सूत्रो मे आचार्य ने गृहस्थ-जीवन की धुरा अर्थ एव काम—इन दो पुरुषार्थों पर विवेचन किया है, और कहा है—आय के अनुसार व्यय और धन के अनुसार रहन-सहन, भोग-उपभोग करना चाहिए।

धन-प्राप्ति के उपाय

आय का अर्थ है, लाभ! कमाई! और व्यय का अर्थ है खर्च! गृहस्थ का अर्थ है—घर मे रहने वाला। घर एक व्यक्ति से नही बनता—पति, पत्नी, पुत्र, परिवार आदि मिलकर घर कहलाता है। घर-गृहस्थी को चलाने के लिए धन की जरूरत होती है और धन मिलता है कमाई से। इस प्रकार गृहस्थी मे आय-व्यय का चक्र चलता रहता है। आय हो, और व्यय न करे तो भी गृहस्थी नहीं चल सकती, और व्यय हो, रोज का खर्चा हो और आमदनी न हो तब भी गृहस्थी की गाडी नही चल सकती। इसलिए आय के साथ व्यय और व्यय के साथ आय—इसी से गृहस्थ-जीवन सन्तुलित एव मर्यादित रूप मे चल सकता है।

आय कैसी हो ? आमदनी के तरीके कैसे हो ? धन-प्राप्ति के उपाय क्या हो ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और गृहस्थ को इस विषय पर गम्भीरता के

---

१ नीतिवाक्यामृत (काम समुद्देश २)

२ धम्मो अत्थो कामो भिन्नेते पिंडिया पडिसवत्ता।
जिणवयण मि उ तिन्ना असवत्ता होंति नायव्वा॥
—दशवैकालिक निर्युक्ति २६२

साथ सोचना पडता है। सामान्यत अर्थशास्त्र मे धन कमाने के दो मुख्य साधन बताये हैं—बुद्धि और पुरुषार्थ। कोरे बुद्धिमान भी भूखे रहते हैं और कोरे पुरुषार्थी भी फटे-हाल फिरते है—बुद्धि, समझदारी, चतुरता, समयज्ञता ये सब बौद्धिक गुण हैं, और इनके साथ मेहनत, श्रम, पुरुषार्थ, उद्योग आदि के शारीरिक गुण जब मिलते हैं तो मनुष्य को लक्ष्मी प्राप्त होती है।

लक्ष्मी से किसी ने पूछा—"तुम विद्वान से डाह करती हो, और आलसी से दूर भागती हो, तो फिर किसके पास रहती हो?"

लक्ष्मी ने उत्तर दिया—"मैं विद्वान से नही, किन्तु अकेली विद्या से डाह करती हूं। दो अकेली स्त्रियां साथ नही रह सकती, किन्तु एक पुरुष के साथ दोनो स्त्रियां प्रेमपूर्वक रह सकती हैं। अत मैं ऐसे पुरुष का वरण करती हूँ जो विद्वान एव पुरुषार्थी हो। और पुरुषार्थी से आलस्य दूर भाग ही जाता है।"

इसका अर्थ है—"जो बुद्धिमान और उद्योगी होता है—लक्ष्मी स्वय उसका आश्रय ग्रहण करती है—जैसे लता वृक्ष का आश्रय लेती है—"**उद्योगिन पुरुषसिहमुपैति लक्ष्मी**"—उद्योगी पुरुषसिह के पास लक्ष्मी स्वय चली आती है। इस प्रकार धन कमाने के ये दो मुख्य साधन माने गये हैं। बाकी समझदारी, चतुरता, बातचीत की कुशलता, व्यवहार-दक्षता, वचन की पाबन्दी, प्रामाणिकता, अथक प्रयत्नशीलता, सहिष्णुता, जागरुकता आदि इन्ही गुणो की सन्तान है। वैसे एक सूक्ति है कि—"धनवान बनने के लिए मनुष्य को चार गुण सीखने चाहिए। भैंसे (गेंडे) सरीखी खाल, ऊँट के समान भोजन, गधे के समान काम और कुत्ते के समान सोना।" गेंडे की खाल पर चाहे जितनी चोटें पडें, गोलियो की बोछारें हो, पर उस पर कोई असर नही होता, वैसे ही धनार्थी मे कष्टो की चाहे जितनी चोटें पडें, उन्हें बर्दाश्त करने की क्षमता होनी चाहिए। ऊँट भोजन के लिए कभी कही रुकता नही, रास्ते चलते जहां भी कोई झाडी या खेजडी आई, एक मुंह मार लिया और अपनी मजिल की ओर चल पडा। धन इच्छुक व्यक्ति को भी खाने-पीने की फिकर छोडनी पडती है, जहां भी जैसा खाना मिला, पेट को सहारा दिया और अपने काम मे जुट गया। मैंने सुना है कि कई पुराने सेठ लोग जब शुरू-शुरू मे कलकत्ता और मद्रास की तरफ धन कमाने गये थे तो उनको खाने-पीने की भयकर तकलीफें देखनी पडी थी। कही एक मुट्ठी भर चावल और कही मुट्ठी भर सत्तू पर ही दिन निकालना पडता था। पर वे सब कुछ सहते गये तो आज उनकी क्या स्थिति है आप देख रहे हैं।

तीसरा गुण है—गधे जैसा काम। गधा भले ही निकृष्ट प्राणी कहलाता है, पर काम करते हुए कभी थकता नही। उस पर चाहे जितना बोझ लाद दो,

चाहे जितनी देर काम लो, चाहे सर्दी हो, वर्षा हो, या चिलचिलाती धूप हो विचारा कभी मालिक को काम करने से इनकार नही करता। धनार्थी पुरुष में भी काम करने की ऐसी लगन होनी चाहिए। तथागत बुद्ध ने एक बार कहा था—

अतिसीतं अतिउण्हं अतिसायमिदं अहु।
इति विस्सट्ठ कम्मन्ते अत्था अच्चेन्ति माणवे॥[1]

आज बहुत सर्दी है, आज बहुत गर्मी है, अभी बहुत सवेरा है, अभी बहुत सध्या-रात हो गई—इस प्रकार का बहाना करके जो आदमी काम से जी चुराता है, वह दरिद्र हो जाता है ऐसा आदमी घर-गृहस्थी भी नहीं चला सकता।

चौथा गुण है—कुत्ते के समान सोना। कुत्ते की नीद बहुत हलकी होती है। धीमी-सी आहट पाकर सावधान हो जाता है, वैसे ही धनार्थी कभी गहरी नीद नही सोता। कई आदमी ऐसे सोते है कि नगाड़े बजाने पर भी नहीं जागते। सोये हो और घर मे पीछे से कोई कुछ भी कर जाये, कितने ही हल्ले हो, पर आँख ही नही खुले तो ऐसे आदमी धन की रक्षा नही कर सकते और न समय पर अपना काम ही कर सकते है।

इस प्रकार धन कमाने के अनेक उपाय नीतिशास्त्रो मे बताये हैं, और मुझसे ज्यादा शायद आप लोग जानते भी हैं। हमने तो सिर्फ पढ़े है, आप के रात-दिन व्यवहार मे आ रहे हैं। किन्तु इन सभी प्रयत्नो के मूल मे एक बात ध्यान रखनी है जो आचार्य ने पहले बोल मे ही बताई थी—न्यायोपात्त विभवः—न्याय-नीतिपूर्वक धन कमाना चाहिए। भगवान महावीर स्वामी ने अपनी अन्तिम देशना मे एक शिक्षा वाक्य कहा है—

जे पाव कम्मेहि धणं मणूसा समाययन्ती अमइ गहाय।
पहाय ते पास पयट्टिए नरे वेराणु बद्धा नरय उवेन्ति॥[2]

—जो मूढ मनुष्य धन को अमृत मानकर तरह-तरह के पापकर्मों के द्वारा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं वे म[illegible] में
मे तड़फते हुए प्राण गँवाकर नरक में दुःख पा[illegible]

अथर्ववेद का तो यह प्रसिद्ध सूक्त है—

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापी[illegible]

---

१ दीघनिकाय ३।८।२ २ [illegible]
३ अथर्ववेद ७।११५।४

—शुभ कार्य से कमाया हुआ धन आनन्द देता है और पाप की लक्ष्मी मनुष्य को नष्ट कर देती है।

यहाँ इस सम्बन्ध मे अधिक विस्तार की जरूरत नही है। पहले प्रवचन मे काफी विस्तार से आपको बताया जा चुका है, यहाँ तो सिर्फ इसी बात को दुहरा देता हूँ—

धन जीवन का ध्येय नहीं है, केवल है जीने का साधन,
नीतिनिपुणता, शुचिता से ही, अर्जित धन, जग मे सच्चा धन।

धन का नियोजन

अब प्रश्न यह है कि नीतिपूर्वक कमाये हुए धन का नियोजन किस प्रकार करें कि आय-व्यय का सतुलन बना रहे और जीवन की गाडी मे रुकावट न आये।

कौटिलीय अर्थशास्त्र और प्राचीन सूत्रो आदि मे भी इस विषय का वर्णन मिलता है कि गृहस्थ सर्वप्रथम अपनी आय पर विचार करे कि वह कितना कमाता है ? और कैसे कमाता है ? अन्याय से कमाया हुआ एक पैसा भी उसके पवित्र धन मे मिलना नही चाहिए, नहीं तो जैसे मनभर दूध को काँजी की एक बूंद फाड डालती है वैसे ही समस्त धन दूषित हो जाता है।

कमाई के शुद्ध उपायो पर विचार करके फिर यह सोचना चाहिए कि जितना वह कमा रहा है उससे उसके परिवार का भरण-पोषण किस प्रकार हो ? धर्म एव परोपकार के कार्य कैसे सध सकें ? घर पर आये अतिथि की सेवा कैसे हो, व्यापार आदि का सचालन किस प्रकार करे ? और भविष्य मे समय पर काम आने के लिए कुछ बचाकर कैसे रखे ? इन सब व्यवस्थाओ को सोच-कर समुचित प्रबन्ध करना ही अर्थ का उचित नियोजन कहलाता है। प्राचीन समय मे अर्थ का नियोजन चार प्रकार से किया जाता था।[1]

१. धन का एक भाग व्यापार मे लगा रहता था।

२ एक भाग से घर की व्यवस्था, अतिथि-सेवा तथा दान आदि कार्य किये जाते थे।

३ एक भाग अपने आश्रित व्यक्तियो के भरण-पोषण मे लगाया जाता था।

४ एक भाग भविष्य के लिए, निधि रूप मे भूमि मे सुरक्षित रखा जाता था।

---

१ देखिए उपासकदशा १ व रायपसेणी सूत्र

चाहे जितनी देर काम लो, चाहे सर्दी हो, वर्षा हो, या चिलचिलाती धूप हो विचारा कभी मालिक को काम करने से इनकार नही करता। धनार्थी पुरुष मे भी काम करने की ऐसी लगन होनी चाहिए। तथागत बुद्ध ने एक बार कहा था—

अतिसीतं अतिउण्हं अतिसायमिदं अहु।
इति विस्सट्ठ कम्मन्ते अत्था अच्चेन्ति माणवे ॥[1]

आज बहुत सर्दी है, आज बहुत गर्मी है, अभी बहुत सवेरा है, अभी बहुत सध्या-रात हो गई—इस प्रकार का बहाना करके जो आदमी काम से जी चुराता है, वह दरिद्र हो जाता है ऐसा आदमी घर-गृहस्थी भी नही चला सकता।

चौथा गुण है—कुत्ते के समान सोना! कुत्ते की नीद बहुत हलकी होती है। धीमी-सी आहट पाकर सावधान हो जाता है, वैसे ही धनार्थी कभी गहरी नीद नही सोता। कई आदमी ऐसे सोते है कि नगाड़े बजाने पर भी नही जागते। सोये हो और घर मे पीछे से कोई कुछ भी कर जाये, कितने ही हल्ले हो, पर आँख ही नही खुले तो ऐसे आदमी धन की रक्षा नही कर सकते और न समय पर अपना काम ही कर सकते हैं।

इस प्रकार धन कमाने के अनेक उपाय नीतिशास्त्रो मे बताये हैं, और मुझसे ज्यादा शायद आप लोग जानते भी हैं। हमने तो सिर्फ पढ़े हैं, आप के रात-दिन व्यवहार मे आ रहे हैं। किन्तु इन सभी प्रयत्नो के मूल मे एक बात ध्यान रखनी है जो आचार्य ने पहले बोल मे ही बताई थी—**न्यायोपात्त विभवः**— न्याय-नीतिपूर्वक धन कमाना चाहिए। भगवान महावीर स्वामी ने अपनी अन्तिम देशना मे एक शिक्षा वाक्य कहा है—

जे पाव कम्मेहिं धणं मणूसा समाययन्ती अमइं गहाय।
पहाय ते पास पयट्टिए नरे वेराणु बद्धा नरयं उवेन्ति ॥[2]

—जो मूढ मनुष्य धन को अमृत मानकर तरह-तरह के पापकर्म व अन्याय द्वारा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं वे ममता के जाल मे फँसे हुए आखिर मे तडफते हुए प्राण गँवाकर नरक मे दुःख पाते हैं।

अथर्ववेद का तो यह प्रसिद्ध सूक्त है—

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।[3]

---

१ दीघनिकाय ३।८।२ २ उत्तराध्ययन ४।२
३ अथर्ववेद ७।११५।४

—शुभ कार्य से कमाया हुआ धन आनन्द देता है और पाप की लक्ष्मी मनुष्य को नष्ट कर देती है।

यहाँ इस सम्बन्ध मे अधिक विस्तार की जरूरत नही है। पहले प्रवचन मे काफी विस्तार से आपको बताया जा चुका है, यहाँ तो सिर्फ इसी बात को दुहरा देता हूँ—

धन जीवन का ध्येय नहीं है, केवल है जीने का साधन,
नीतिनिपुणता, शुचिता से ही, अर्जित धन, जग मे सच्चा धन।

धन का नियोजन

अब प्रश्न यह है कि नीतिपूर्वक कमाये हुए धन का नियोजन किस प्रकार करें कि आय-व्यय का सतुलन बना रहे और जीवन की गाडी मे रुकावट न आये।

कौटिलीय अर्थशास्त्र और प्राचीन सूत्रो आदि मे भी इस विषय का वर्णन मिलता है कि गृहस्थ सर्वप्रथम अपनी आय पर विचार करे कि वह कितना कमाता है? और कैसे कमाता है? अन्याय से कमाया हुआ एक पैसा भी उसके पवित्र धन मे मिलना नही चाहिए, नही तो जैसे मनभर दूध को काँजी की एक बूंद फाड डालती है वैसे ही समस्त धन दूषित हो जाता है।

कमाई के शुद्ध उपायो पर विचार करके फिर यह सोचना चाहिए कि जितना वह कमा रहा है उससे उसके परिवार का भरण-पोषण किस प्रकार हो? धर्म एव परोपकार के कार्य कैसे सध सकें? घर पर आये अतिथि की सेवा कैसे हो, व्यापार आदि का सचालन किस प्रकार करे? और भविष्य मे समय पर काम आने के लिए कुछ बचाकर कैसे रखे? इन सब व्यवस्थाओ को सोचकर समुचित प्रबन्ध करना ही अर्थ का उचित नियोजन कहलाता है। प्राचीन समय मे अर्थ का नियोजन चार प्रकार से किया जाता था।[1]

१ धन का एक भाग व्यापार मे लगा रहता था।

२ एक भाग से घर की व्यवस्था, अतिथि-सेवा तथा दान आदि कार्य किये जाते थे।

३ एक भाग अपने आश्रित व्यक्तियो के भरण-पोषण मे लगाया जाता था।

४ एक भाग भविष्य के लिए, निधि रूप मे भूमि मे सुरक्षित रखा जाता था।

---

१ देखिए उपासकदशा १ व रायपसेणी सूत्र

कही-कही इसी से मिलते-जुलते तीन क्षेत्रो मे धन लगाने का भी वर्णन आता है—

ऐकेन भोगे भुञ्जेय्य द्वीहि कम्म पयोजयो।
चतुर्थं च निधापेय्य आपदासु भविस्सति।[१]

—गृहस्थ धन का एक भाग अपने स्वय के खर्च के लिए उपयोग करे, दो भाग व्यापार आदि कर्म क्षेत्र मे लगाये, तथा चौथा भाग भविष्य मे विपत्ति आदि मे काम आने के लिए सुरक्षित रख छोड़े।

भगवान महावीर के दस श्रावको मे आनन्द श्रावक सबसे प्रथम था। उसका जीवन वास्तव मे ही आनन्दमय था। उसके पास बारह क्रोड की सम्पत्ति थी। आनन्द की सम्पत्ति के वर्णन से आज आपको आश्चर्य भी हो सकता है किन्तु यह कोई बडी बात नही है। एक समय था जब भारतवर्ष सोने की चिडिया कहलाता था। आज जो स्थिति अमेरिका की है, उससे भी अधिक अच्छी स्थिति भारत की थी। यहाँ वैभव-सम्पत्ति की कमी नही थी। देश मे आज जो गरीबी आई है, वह देशवासियो की फूट और विदेशियो की लूट की देन है। हाँ, गरीबी को स्वीकार करना दूसरी बात है, किन्तु गरीबी सिर पर आ पड़े यह सचमुच दुर्भाग्य की बात है। कहते हैं, अमेरिका आज जो धनकुबेर बना है, वह किसके बल पर ? काका कालेलकर ने एक जगह लिखा है—"आज की अमेरिकन सभ्यता, संस्कृति और सम्पत्ति की बुनियाद क्या है ? भारतवर्ष की सम्पत्ति, आदिवासियो की भूमि और काले अफ्रीकियो की मेहनत—इन तीनो के आधार पर टिकी है अमरीका की सभ्यता, सस्कृति एव सम्पत्ति ?"

हाँ तो वह एक समय था जब भारत की भूमि सोने से पीली हो रही थी। राजमहल, और मन्दिर हीरे-मोती से चमचमा रहे थे। उस समय मे बारह करोड स्वर्णमुद्रा कोई आश्चर्यकारी बात नही थी। आनन्द श्रावक ने अपनी इस सम्पत्ति का तीन भागो मे बटवारा कर रखा था। चार करोड सौनेय भूमि मे सुरक्षित रखे थे। चार करोड व्यापार मे लगे हुए थे और चार करोड घर-बिखेरा, भूमि, आभूषण, जायदाद आदि मे बिखरे हुए थे। इस प्रकार उसने अपनी सम्पत्ति का नियोजन एक सुन्दर तथा व्यवस्थित रीति से कर रखा था। व्यापार मे जब कभी उसे आवश्यकता होती तो दूसरो से माँगने की या कर्ज लेने की जरूरत नही थी। भूमि मे सुरक्षित धन का उपयोग यही था कि वह

१ दीघनिकाय ३।८।४

समय पर काम आ सके। आज जो काम वैंको से लिया जा रहा है, किसी समय मे वही काम भूमिगत धन से लिया जाता था। जव आवश्यकता हुई उपभोग किया, जव आवश्यकता नही रही, भूमि मे डाल दिया। पुराने लोगो की व्यापारिक वुद्धि वडी तीक्ष्ण थी। वे नफे-नुकसान के लिए सदा सावधान और उसे वर्दाश्त करने की तैयारी रखते थे। कहा जाता है—व्यापार समुद्र की यात्रा के समान है। उसमे कव कोई झोका आ जाये और नाव को डगमगा दे, कुछ पता नही चलता। समुद्रयात्री अपनी मंजिल पर पहुंचकर मालामाल हो सकता है पर वीच मे उसे हमेशा सावधान और खतरे का सामना करने को तैयार रहना पडता है। यही स्थिति व्यापार की है। उसमे लाभ की आशा रहती है पर हानि के लिए भी अपने को तैयार रखना पडता है। नुकसान मे घवरा जाने वाला, थोडे से घाटे मे दिवाला निकालने वाला सच्चा व्यापारी नही हो सकता।

व्यापार-नीति

तो पुराने जमाने मे व्यापारिक हानि-लाभ के थपेडो को सहने के लिए गृहस्थ अपनी शक्ति को सुरक्षित (रिजर्व) रखते थे। वे जितना धन व्यापार मे लगाते उतना ही पास मे सुरक्षित रखते थे। यह नही कि जो था सव लगा दिया, अव जरूरत पडी तो या तो कर्ज लो, या दिवाला निकालो। कहा जाता है—"ओछी पूंजी धणी ने खावे"। व्यापार मे वस्तुत वही सफल हो पाता है जिसमे लाभ को पचाने की शक्ति हो और हानि को हजम करने की ताकत हो।

नीतिकारो ने वताया है—व्यापारी दो प्रकार के होते हैं। कुछ व्यापारी वड वृक्ष के समान होते हैं और कुछ एरड के समान। वड वृक्ष धीरे-धीरे वढता हुआ सैंकडो-हजारो शाखाएँ फैलाकर महावृक्ष का रूप धारण कर लेता है। हजारो वर्षों तक सर्दी, गर्मी, वर्षा और आंधी तूफान मे खडा रहता है। आज भी मद्रास व मालवा मे ऐसे विशाल वड वताये जाते हैं जिनका सम्वन्ध रामचन्द्रजी के साथ जुडा हुआ वताते है। तो वड इतना विशाल होकर भी दीर्घजीवी होता है इसका क्या रहस्य है? सुना है वह वाहर मे जितना विशाल होता है उसकी जडें भूमि मे उतनी ही गहरी होती है।

वड की तरह कुछ व्यापारी होते हैं—वाहर मे उनके व्यापार का जितना फैलाव होता है, भीतर मे उनकी आर्थिक नीव उतनी ही मजवूत होती है। सैंकडो-हजारो वर्षों की प्रतिष्ठा और पूंजी उनकी गहराई मे जमी रहती है। वाजार के जवर्दस्त उतार-चढाव और हानि-लाभ मे भी उनकी नीवें हिलती नही, हर आंधी-तूफान का मुकावला करने की शक्ति होती है उनमे।

एरड का वृक्ष भी आपने देखा होगा ? जितना जल्दी तैयार होता है ? आज वीज डाला और चार महीने मे लहलहाने लग गया। साल भर मे तो उनकी कतारें तैयार हो जाती हैं। और समाप्त होने मे भी कितना समय लगता है ? एक हवा का तेज झोका आया, थोडी जोरदार गर्मी पडी और एरडिया का नामोनिशान भी नही रहता ! ऐसा क्यो होता है ? कहते हैं एरड वाहर मे तो काफी फैल जाता है, किन्तु जमीन के अन्दर उसकी नीव नही होती। और जिसकी जड ही नही, वह ससार मे कितने दिन टिकेगा ?

कुछ व्यापारी—काले-धौले करके, हाथफेरी और वेइमानी करके वहुत जल्दी ही वढ जाते हैं, वाहर मे वडा भारी दिखावा करते हैं। पूंजी हजार की और शान करोड की। परन्तु उनकी नीव कितनी होती है ? वरसाती मेढक की तरह आज जो टर्र-टर्र कर रहे है, थोडी धूप निकलते ही उनका कही पता नही चलता ? जिन्हें वनते देर नही लगती, उन्हे विगडते भी क्या देर लगेगी ? और इतनी जल्दी वे कैसे बनते हैं ? न्याय की कमाई वरकत जरूर करती है, किन्तु वाढ के पानी की तरह रातोरात नहीं वढती। जिन्हें रातोरात लखपति वनने की हवश होती है वे अन्याय करते हैं, गलत रास्तो से धन कमाने की चेष्टा करते हैं, उनके सामने न्याय-नीति का महत्त्व नही होता, केवल पैसे का महत्त्व होता है। किन्तु आप जानते हैं अन्याय का पैसा जैसे आता है वैसे ही चला जाता है।

मैंने एक कहानी पढी थी। एक लोमडी किसी वगीचे के पास से निकली। वगीचें मे सेव, दाडिम, अगूर आदि देखकर उसके मुंह मे पानी छूट आया। वगीचे की तार की वाड थी, उसमें से घुसने की कोशिश की, किन्तु शरीर मोटा-ताजा था इसलिए घुस नहीं सकी। लोमडी ने सोचा—शरीर को कुछ पतला करके इसमें घुसूं और फिर मनमाने फल खालूं। तो वह तीन दिन तक वहाँ भूखी-प्यासी पडी रही, पेट कुछ पतला हुआ तो तार मे घुसकर वगीचे मे चली गई।

लोमडी ने वगीचे मे खूब फल खाए। पहले से भी ज्यादा मोटी हो गई। अव वाहर निकलने के लिए तार में घुसी तो फिर फँस गई। विचारी छटपटाई पर कोई रास्ता नही था, अव फिर तीन-चार दिन भूखी रही और कुछ दुवली हुई तो वाहर निकल सकी।

तो लोमडी का फल खाना क्या भाव पडा ? पाप की कमाई भी इसी तरह की है। वह एक वार दिखावा लाती है, पर कुछ ही दिन मे व्याज सहित वापस जाने मे भी देर नही लगाती।

खर्च की व्यवस्था

मैं वता रहा था—गृहस्थ-जीवन मे आय का स्रोत सवसे महत्त्वपूर्ण है, वह जितना शुद्ध और सुदृढ होगा उतना ही वह धन चिरस्थायी होगा। इसलिए व्यापार-नीति भी शुद्ध होनी चाहिए, विवेकपूर्ण होनी चाहिए। खरी कमाई सदा वरकत करती है और खोटी कमाई तकलीफदेह होती है।

आय का स्रोत शुद्ध होने के वाद गृहस्थ अपने व्यय के स्रोत पर भी विचार करता है। व्यय के सम्वन्ध मे सवसे पहली वात तो वह यह सोचता है कि मेरी आय से व्यय कम होना चाहिए। जैसा कि पहले वताया है—आय का एक भाग भविष्य के लिए सुरक्षित रखना चाहिए। नीति का कथन है—**आपदर्थं धन रक्षेत्**—आपत्ति काल के लिए कुछ धन वचाकर रखना चाहिए। गृहस्थ के पीछे परिवार है, माता-पिता, पत्नी-पुत्र और नौकर-चाकर आदि अनेक व्यक्तियो का सम्वन्ध उसके साथ जुडा रहता है। वीमारी, विवाह, शिक्षा आदि अनेक ऐसे आकस्मिक प्रसग आते हैं जिन पर उसे एक साथ अधिक खर्च करना पडता है। अव यदि उसके पास कुछ सुरक्षित निधि नही है, थोडी-वहुत पूंजी जमा नही है तो क्या हालत होती है आप जानते ही हैं।

भविष्य के लिए वचाने के वाद जो वचता है, उसी मे से गृहस्थ अपने चालू खर्च की व्यवस्था करता है। यदि खर्च कम और आमदनी अधिक है तव तो कोई चिन्ता की वात नही, किन्तु यदि इससे उलटा है तव अवश्य ही चिन्ता की वात है। नीति का कहना है—**आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रमणोऽपि श्रमणायते**—आय का विचार किये विना अर्थात् आय से अधिक व्यय करने पर तो कुवेर भी भिखारी वन जाता है, कारूं का खजाना भी खाली हो जाता है तो साधारण गृहस्थ की क्या वात? राजस्थानी मे एक कहावत है—

दीवालो काढ़े तीन जणा, हुण्डी, चिट्ठी विणज घणा।
तू क्यूं रोवे चोया जणा? म्हारे आमद कम, खर्चा घणा।

हुण्डी, चिट्ठी और ज्यादा व्यापार वाले तीन आदमी फिकर मे घूम रहे थे, उन्होंने जव एक चौथे आदमी को मुंह लटकाये वैठे देखा तो पूछा—"भाई! क्या वात है, हम तो रोए-तो-रोए, तू क्यो रोता है?"

उसने कहा—"भाई! क्या करूं? मेरे खर्च तो ज्यादा है आमदनी कम है। वस, इसी फिकर मे रात-दिन रोना आता है।"

इस तरह आमदनी से ज्यादा खर्च वाला हमेशा चिंतित रहता है। इसलिए पुराने संत कहा करते हैं—

"ते ते पाँव पसारिए जेती लांबी सौड"

अर्थात् जितनी लम्बी रजाई हो उतने ही पाँव फैलाने चाहिए। रजाई छोटी हो, और पैर रात मे इधर-उधर बाहर निकालोगे तो सर्दी मे ठिठुर कर ठाकुर बन जाओगे। इसी प्रकार आमदनी कम हो, और खर्चा ज्यादा करोगे तो गाडी चल नहीं सकेगी।

कंजूसी नहीं, किफायतसारी

मैं देखता हूँ आज के युग मे साधारण परिवारो की स्थिति बडी नाजुक है। अर्थशास्त्रियो का कहना है कि ससार मे भारत के आदमी की प्रतिव्यक्ति औसतन आय सबसे कम है। अमेरिका का एक व्यक्ति जहाँ दस रुपये रोज कमाता है वहाँ भारत का एक व्यक्ति प्रतिदिन दो आने से आठ आने तक औसतन कमाता है। यह आँकडा अवश्य ही भारतीयो की कम आय का सूचक है, किन्तु यह भी तो बात है कि भारतवासियो का जीवन-स्तर या रहन-सहन का खर्च भी ससार मे शायद सबसे कम है। आय मे जितना अन्तर है, उतना ही रहन-सहन के स्तर मे भी अन्तर है, इस कारण यह विषमता इतनी दुखदायी भी नही है। फिर ससार के अन्य देशो मे आज जितनी फैशन और फिजूलखर्ची बढी है, भारत मे अब भी उतनी नही है। हाँ, अब भारत मे भी धीरे-धीरे फैशन और फिजूलखर्ची का रोग बढ रहा है, और इसी कारण सामान्य गृहस्थ का जीवन अस्तव्यस्त हो रहा है।

गाधीजी ने एक जगह लिखा है—"मनुष्य अर्थ की कमी के कारण उतना परेशान नही है जितना आर्थिक अव्यवस्था के कारण।" वास्तव में यह एक सही तथ्य है। मनुष्य अपनी आमदनी के अनुसार व्यवस्था रखे, ठीक से बजट बनाकर चले तो वह अनेक परेशानियो और फिजूलखर्चियो से बच सकता है। यह ठीक है कि खर्च-वर्च में कजूसी करना भी बुरा है, रहन-सहन का स्तर नीचा रखना भी उचित नहीं और अपनी इज्जत, प्रतिष्ठा एव पद के अनुसार उसे समय पर खर्च करना भी पडता है, पर आप जानते हैं—कजूसी और चीज है, किफायतसारी और चीज! कजूसी बुराई है, किफायतसारी गुण है। इसी प्रकार फैशन और फिजूलखर्ची दुर्गुण हैं, किन्तु सफाई, स्वच्छता तथा उदारता सद्गुण हैं। आज के युग मे आप लोग कहते है—"मँहगाई से परेशान हो गये।" किन्तु मैं सोचता हूँ वास्तव मे लोग मँहगाई से उतने परेशान नही है, जितने कि फिजूलखर्ची से। खाने-पीने मे, रहन-सहन मे, शादी-विवाह मे जिस प्रकार

अव्यवस्थित एव अनावश्यक खर्च किये जाते हैं उन पर यदि सोचा जाय और कुछ नियन्त्रण किया जाय तो सम्भव है मंहगाई की पीडा इतनी नही सताए ।

घर फूँक तमाशा

एक कहावत है—'फटे कपडे मत देखो, घर दिल्ली है'—अर्थात् आज हमारी क्या हालत है इसको मत देखो, हमारे वाप दादे ऐसे हुए हैं—यह एक प्रकार का झूठा अहकार है जो मनुष्य को बर्बाद कर देता है। अपने पुराने गौरव को सुरक्षित रखना एक बात है और उसका झूठा दभ करना दूसरी बात है। जब दुर्भाग्य से आप उस गौरव को सुरक्षित नही रख सके, तो लीक के फकीर के बनने से क्या फायदा ? किन्तु मैं देखता हूँ लोग, बाप-दादो के नाम पर अपने झूठे अहकार का दिखावा करना चाहते है, योग्यता नही होने पर भी प्रदर्शन के चक्कर मे फँसकर घरबार को बर्बाद कर डालते हैं। एक जगह मैंने देखा—एक होस्टल मे दो विद्यार्थी थे। एक दिन एक विद्यार्थी के हाथ मे एक बडल देखकर दूसरे दोस्त ने पूछा—"आज हाथ मे क्या लाये हो ?"

पहले विद्यार्थी ने जरा मुंह फैलाकर कहा—"यार ! पिताजी ने मेरे लिए पैंतीस रुपये भेजे हैं, उनका एक टेरेलिन का कपडा खरीद लाया, शर्ट बनवाऊँगा।"

यह सुनकर दोस्त ने कहा—"तुम्हारे रुपये तो सब कपडा खरीदने मे खर्च हो गये, अब महीने भर खाओगे क्या ?"

हँसकर उसने कहा—"यार ! ऐसी बात है ? महीने भर तो चने चबाकर ही निकाल दूंगा किन्तु दोस्तो मे कुछ लगूँगा तो सही—टेरेलिन का बुशशर्ट पहनकर !"

यह है प्रदर्शन का रोग, और सक्रामक रोग से भी अधिक खतरनाक है यह ! जिधर देखो—आज यही रोग है। व्यक्ति चाहे दो सौ-तीन सौ मासिक कमाता है, पर खुद बढ़िया टेरेलीन का सूट पहनेगा, मित्रो के साथ होटलो मे घूमेगा, सिनेमा देखेगा और बढिया से बढिया सिगरेट पीयेगा, घर मे चाहे बच्चे फटेहाल बैठे हो, पत्नी की साडी फटी हो, पर अपनी टीप-टाप अच्छी होनी चाहिए। और पत्नियाँ भी फैशन मे कहाँ कम हैं ? घर मे सूखी रोटी खायेगी, बच्चो को दूध न पिलायेगी, पर नई फैशन की साडी तो जरूर लायेगी ? और फिर सखी-सहेलियो मे दिखाने घर-घर घूमेगी, उसे फिकर नही, घर मे बूढ़े सास-ससुर बीमार पडे हैं, वे दवाई-पानी के इन्तजार मे बैठे हैं और बहूजी

रानी वनी घूम रही हैं ? फैशन की यह वीमारी केवल वेष-भूषा मे नही, हर वात मे दिखाई पडती है। मनुष्य यह नही सोचता कि घर मे जव पेट भर खाने को नही है, तो संसार को शान दिखाने से क्या फायदा है ? घर फूंक कर तमाशा देखना कैसी बेवकूफी है ?

पुराने सत खाडे पापड की कहानी सुनाते थे। सेठ ने केवल अपने अहकार के लिए, मैं भी कुछ कम नही, वस इसी वात के लिए सारा घरवार वेचकर विरादरी को जिमाया और आखिर उस सेठ को जिसने लापरवाही मे उसे पापड का टुकडा परोस दिया था, जानवूझ कर खाडा पापड परोस कर मूंछ पर ताव लगाया—कि मैंने भी अपना वदला ले लिया ? वदला क्या लिया, तू तो वर्वाद हो गया ? घर-वार विक गया ? पर इसको कौन सोचे ? वस, हमने अपने मन के अहंकार को तृप्त कर लिया, लोगो मे वाह-वाही हो गई !

एक पुरानी कहानी है—किसी गाँव मे एक सेठानी ने 'चन्दरवाई का चूडा' पहना। उस जमाने मे यह चूडा वहुत नामी होता था और कोई खास सेठानियाँ ही पहनती थी। गाँव मे सभी औरतें सेठानी का चूडा देखने गईं और सेठानी की वाह-वाही करने लगीं।

एक डोमनी भी उस गाँव मे रहती थी। उसने सोचा—"सेठानी ने चूडा पहना तो गाँव की सव औरतें उसे देखने गईं, यदि मैं पहनूं तो मेरे घर भी सव ऐसे ही देखने आयेंगी।" यह सोच उसने भी घर का सामान वेचकर चूडा पहना, और पीढा लगाकर झोपडी के वाहर बैठ गई, औरतों के आने की इन्तजार मे। पर दोपहर हो गई कोई चिडिया भी देखने नही आई तो डोमनी को वडा क्रोध आया—"मेरा चूडा देखने कोई भी नही आया ? लोगो को दिखाना तो जरूर है, पर कैसे दिखाऊँ ?" आखिर उसने अपनी झोपड़ी को आग लगाई—और दूर टीले पर खडी होकर चिल्लाई—"आओ आओ ! पर वचाओ।"

लोग भाग-दौड़कर आये, डोमनी ने हाथ ऊपर उठाकर चिल्लाना शुरू किया—"अरे मेरी झोपडी जल गई ?" लोगों ने उसके हाथ मे चूडा देखा तो पूछा—"ऐ डोमनी ! तूने यह चन्दरवाई का चूडा कव पहन लिया ?"

डोमनी ने सिर पीट कर कहा—"वीरा ! पहले ही आकर पूछ लेते तो झोपडी तो नही जलती ?"

आश्चर्यपूर्वक लोगो ने पूछा—"तो, क्या चूडा दिखाने के लिए ही झोपड़ी जलाई है ?"

डोमनी की यह मनोवृत्ति आज समाज मे जिधर नजर उठाओ, उधर ही दिखाई पडेगी। यहाँ तक देखा-सुना है कि एक जँवाई ससुराल जाते समय कान मे इतर का फुआ लगाना भूल गया। अब सोचा इतर है नही, और लोग देखेंगे तो कहेंगे कान में कुछ इतर-वितर नही है, तो लोगो को दिखाने के लिए रुई का एक फुआ पानी मे भिगोकर ही साहब ने कान मे डाल लिया। घर वेचकर, पत्नी का जेवर वेचकर, जीमन करने वाले तो कई मिलेंगे, पर हमने यहाँ तक सुना है कि एक बाबू ने पत्नी का जेवर बेचकर फियेट गाडी खरीदी—इसलिए कि लोग उनकी शान मानेंगे! इससे भी बढ कर वेवकूफी यह है कि लोग कर्ज करके जीमन करते हैं, दिखावा करते हैं और फिर खुद ही नहीं, वेटे-पोते तक कर्जदारी की चक्की मे पीढियो तक घुन की तरह पिसते रहते हैं ? लगता है लोगो मे नास्तिको के इस सिद्धान्त की भावना बढ रही है—ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्—ऋण करते जाओ, और शान दिखाते जाओ ! पर वे यह नही सोचते कि यह शान कितनी मँहगी पडती है ? अपनी हैसियत से वाहर पैर रखने वाले जिन्दगी मे किस तरह दुःखी, सतप्त होकर दर-दर की ठोकरें खाते हैं। आचार्यों ने कहा है—अपनी ताकत से अधिक काम करने वाला, आय से अधिक खर्च करने वाला, और भूख से अधिक खाने वाला—रोगी होता है, दु:खी होता है और शीघ्र मर जाता है।

आय से अधिक व्यय करने वाले में अक्सर चोरी की वृत्ति जग जाती है। आज भी कहा जाता है, जिसकी आमदनी सौ की और खर्च दो सौ का है, वह उस खड्डे को कैसे भरेगा ? या तो चोरी करेगा या कर्ज करेगा, या भीख मांगेगा ? और भी न जाने कितने-कितने अन्याय के रास्ते उसे देखने पडेंगे ? शास्त्रो में एक प्रश्न पूछा गया है कि—"मनुष्य चोरी क्यो करता है ?"

उत्तर मे कहा गया है—

अतित्तिलोहेण दुही परस्स
लोभाविले आययइ अदत्तं।[1]

मनुष्य प्राप्त धन से जब अतृप्त रहता है, तब वह धन की लालसा से चोरी की ओर प्रवृत्त होता है ? चोरी पकडी न जाये इसके लिए झूठ बोलता है, धीरे-धीरे हत्याएँ करना भी सीख जाता है और इस प्रकार चोर-डाकू वन जाता है। हत्यारा और समाजद्रोही वन जाता है। तो इन सब बुराइयो

१ उत्तराध्ययन ३२

की जड क्या है ? आचार्यों ने कहा है—"इन्ही दो बातो मे इन सब पापो की जड है—आय से अधिक खर्च करना, धन से अधिक दिखावा करना।"

बात लम्बी हो गई है, पर मैं समझता हूँ यह बात समाज की मूल बीमारी को पकडने वाली है। आज आपका समाज व परिवार और खास कर मध्यम श्रेणी के परिवार, जिन परेशानी, तगी और तकलीफो से गुजर रहे हैं उनका खास कारण भी यही दो प्रश्न हैं। अतः आप लोगो को, बुजुर्गों को, खासतौर से इस विषय पर चिंतन करना चाहिए, कि वे अपने परिवार को, पत्नियाँ अपने पति को अधिक खर्च एव दिखावे के लिए, फैशन-परस्ती एव मौजशौक के लिए कभी परेशान न करें, अपितु उन्हे इन बीमारियो से बचाकर सयम, सादगी और किफायतसारी से रहने की आदत डालें—इसमे व्यक्ति का, परिवार का और समाज का, सभी का भला है।

१७

श्रावक बनाम आदर्श श्रोता

ससार मे तीन प्रकार के वल वताये गये हैं—

१ वुद्धिवल
२ शरीरवल
३. धनवल

तीनो वलो मे वुद्धिवल सवसे उत्तम तथा शरीरवल एव धनवल क्रमश उससे निकृष्ट माने गये हैं। महाभारत मे भी कहा है—**दीर्घौ वुद्धिमतो वाहू"** वुद्धिमान की भुजाएँ वहुत लवी होती है, वह दूर वैठा ही अपने कार्यों का वुद्धिवल से सरलतापूर्वक सपादन कर लेता है।

शरीरवल पशुता का प्रतीक है, जवकि वुद्धिवल—मनुष्यता का। वुद्धि ही मनुष्य की श्रेष्ठता का कारण है। इसलिए मनुष्य के मस्तिष्क को 'हिरण्यमयकोप' कहा गया है। जिस मनुष्य मे वुद्धिवल नही, उसमे और पशु मे क्या अन्तर है ? जहाँ धनवल और शरीरवल हार जाते हैं, वहाँ वुद्धिवल सफलता के साथ आगे वढ जाता है। कोई धनी सोचे कि मुझ मे वुद्धिवल की कमी है तो क्या, धन से गाडी चला लूँगा, 'मुट्ठी खोली दुनियाँ भोली।' पर अनुभव वताता है कि यह धारणा गलत है। हजारो धनिको पर एक वुद्धिमान शासन कर सकता है। इसलिए नीतिकार ने कहा है—

वुद्धिर्यस्य वलं तस्य निर्वुद्धेस्तु कुतोवलम्

ससार मे जिसके पास वुद्धि है, वही वलवान है, वही शक्तिशाली है, जिसके पास वुद्धि नही, वह विचारा वलवान होते हुए भी दीन है, अशक्त है।

आठ बुद्धियां

आचार्य हेमचन्द्र ने सद्‌गृहस्थ के जीवन की अन्य धर्म-विधियो का वर्णन करते हुए कहा है—"गृहस्थ को आठ प्रकार की बुद्धियो से युक्त होना चाहिए" —

अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः

सामान्यत' बुद्धि दो प्रकार की होती है—एक जन्मजात और दूसरी प्रयत्नजन्य। जन्मजात बुद्धि मनुष्य मे सहज होती है, किंतु प्रयत्न से उसका विकास और विस्तार किया जा सकता है। अनुभव से उसको वढाया जा सकता है। जैनसूत्रो मे चार प्रकार की बुद्धि का वर्णन आता है, औत्पातिकी, वैनयकी, कार्मिकी और पारिणामिकी।

औत्पातिकी बुद्धि मस्तिष्क की सहज स्फुरणा होती है, समय पर अपने आप कोई बात सूझ आना, प्रसग आते ही बुद्धि मे स्फुरणा हो जाना औत्पातिकी या उत्पत्तिया बुद्धि है।

वैनयिकी बुद्धि गुरु आदि की विनय एव सेवा करने से प्राप्त होती है।

कार्मिकी बुद्धि—कार्य करते-करते आती है। काम करने से मनुष्य को अनुभव होता है, अनुभव से बुद्धि का विकास होता है। कहावत है—'गाव कोतवाली सिखा देता है' अर्थात् काम करने पर अपने आप अनुभव आ जाते हैं और मनुष्य होशियार हो जाता है। अमेरिका के प्रसिद्ध उद्योगपति कारनेगी से एक बार किसी ने पूछा—'आपकी सफलता का रहस्य क्या है ?'

कारनेगी ने कहा—'समय पर सही निर्णय।'
"और सही निर्णय आप कैसे कर पाते है ?" प्रश्नकर्ता ने पुन पूछा।
कारनेगी ने उत्तर दिया—'अनुभव के आधार पर ?'
"और अनुभव किस आधार पर प्राप्त किये ?"

"गलत निर्णयो के आधार पर"—कारनेगी ने स्पष्टतापूर्वक उत्तर दिया।

मनुष्य ठोकरें खाकर अनुभवी वनता है और अनुभव से वुद्धिमान्। वुद्धि के आधार पर वह जीवन मे सफल हो सकता है। किसी विद्वान ने कहा है—पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभव का ज्ञान अधिक उपयोगी होती है, किन्तु वह कडवा होता है, ठोकरें खाने के वाद ही मिलता है। तो तीसरी वुद्धि है कार्मिकी। और चौथी वुद्धि है—पारिणामिकी। आयु के विकास एव परिपक्वता

के साथ-साथ बुद्धि भी सहजतया स्वत विकसित होती जाती है। वचपन से यौवन मे अधिक विकास होता है, और यौवन से बुढापे मे बुद्धि की अधिक परिपक्वता आती है। यह आयु परिणाम के साथ स्वत होने के कारण पारिणामिकी बुद्धि कहलाती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अन्य रूप मे बुद्धि के आठ भेद किये हैं। उनके नाम हैं—सुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारणा, विज्ञान, ऊहा, अपोह और तत्वाभिनिवेश।

ज्ञान का मूल : जिज्ञासा

आठ वुद्धियो मे सवसे प्रथम है—शुश्रूषा। अर्थात् सुनने की प्रवल इच्छा, जिज्ञासा।

ज्ञान के चार साधन माने गये है—देखना, सुनना, पढना और अनुभव करना। मनुष्य सवसे पहले देखकर ज्ञान प्राप्त करता है। वालक दूसरो को देखकर चलना, वोलना, खाना आदि क्रियाएँ सीखता है। थोडा विकास होने पर वह सुन-सुन कर ज्ञान प्राप्त करने लगता है। किसी को 'माँ' वोलते देखकर खुद भी 'माँ' वोलता है, 'पापा' वोलते देखकर पापा वोलता है, अर्थात् जैसे शब्द सुनता है, उनका अर्थ नही समझे तव भी वैसे ही वोलने लगता है। सुनने के कारण उसके ज्ञान का अधिक विकास होता है। उसके वाद पढने से, अध्ययन से, एवं फिर अनुभव से ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

तो ज्ञान के चार साधनो मे सुनना एक मुख्य साधन है। वहुत से जन्म-अन्ध व्यक्ति विद्वान वन जाते हैं, कैसे? वे आपकी तरह पढ तो नही सकते? और उनकी सकेत लिपि का भी विकास अभी हुआ है? फिर कैसे वे विद्वान् वन जाते थे? श्रवण करके ही तो! प्राय देखा गया है, जिसकी चक्षु-इन्द्रिय लुप्त हो जाती है उसकी श्रोत्रेन्द्रिय शक्ति वडी तीव्र हो जाती है, वह सुन-सुनकर वडे-वडे शास्त्रो को याद कर लेता है। जैनसमाज मे प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलाल जी चोटी के विद्वान माने जाते हैं। सैकडो-हजारो ग्रन्थो के स्थल ससन्दर्भ उन्हे याद वताये जाते हैं? कहते हैं वचपन मे ही उनकी दृष्टि लुप्त हो गई थी, फिर इतने शास्त्रो का ज्ञान कैसे प्राप्त किया, सुन-सुन कर ही तो। और सुनना तव होता है जव मन मे सुनने की जिज्ञासा—अर्थात् शुश्रूषा हो। विना सुनने की इच्छा के कान में चाहे जितने मन्त्र भर दिये जायें, उनका कोई असर नही होता। इसलिए सद्गृहस्थ का पहला कर्त्तव्य है कि वह सुनने की जिज्ञासा वाला हो।

शुश्रूषा का यह अर्थ नही है कि सिर्फ धर्म ही सुनने की इच्छा हो। किन्तु

जीवन में कही भी, कुछ भी ज्ञानवर्धक चीज सुनने को मिले, उसे ध्यानपूर्वक सुने। उसमे सुनने का धैर्य और जिज्ञासा होनी चाहिए। जहाँ कही सभाएँ होती हैं, विचार-चर्चाएँ होती हो, वे चाहे राजनैतिक हो, सामाजिक हो, धार्मिक हो, व्यक्ति के हृदय मे उन्हे सुनने की भावना होनी चाहिए। जिज्ञासा होनी चाहिए कि किस प्रकार के विचार, किस प्रकार के तर्क-वितर्क वहाँ चल रहे हैं। प्रवक्ता जीवन एव जगत के सम्बन्ध मे किस ढग से सोचते हैं। उनकी विचार-धारा से परिचय प्राप्त करना चाहिए और उसमे जो ज्ञानवर्धक, ग्रहण करने योग्य मिले उसे अपनाना चाहिए लेकिन यह तभी सम्भव है जब सुनने की इच्छा जागृत हो।

सुनना : एक कला

आजकल प्राय देखा जाता है लोगो मे श्रोता कम, वक्ता अधिक मिलते है। सभाओ मे, मीटिंगो मे कभी-कभी भाषण देने वालो की सख्या सुनने वालो से भी ज्यादा हो जाती है। लोग प्राय सुनना नही चाहते, सुनाना चाहते हैं। उनमे ज्ञान प्राप्त करने की, जानकारी लेने की भावना कम रहती है, अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने की, अपनी विद्वत्ता की छाप लगाने की अहवृत्ति अधिक रहती है। इस तरह लोगो मे सुनने की आदत कम हो रही है, सुनाने की ज्यादा। परन्तु आचार्य ने कहा है—तुम अपने अन्दर सुनने की जिज्ञासा पैदा करो, धर्म को भी सुनो, नीति को भी सुनो, राजनीति को भी सुनो, किसी दु खी और सतप्त की दु खभरी कहानी भी सुनो, सुनने से तुम्हारा ज्ञान बढ़ेगा, कहने वाले का मन प्रसन्न होगा कि मेरी बात को सुनने और समझने वाला कोई है, इसलिए वह और अधिक ज्ञान की बातें तुम्हे सुनाएगा और सहज मे ही तुम्हारे ज्ञान की सीमा बढती चली जायेगी।

पुराने जमाने मे चतुरता के पाँच अग माने जाते थे, उनमे एक मुख्य अग था—'राज्यसभा प्रवेश।' राजाओ की सभाओ मे देश-विदेश के विद्वान बुलाये जाते थे। धर्म, राजनीति, समाजनीति, अर्थ, काम आदि हर एक विषय पर बडी-बडी चर्चाएँ होती थी, तर्क-वितर्क होते थे। विभिन्न पहलुओ से हर विषय पर विचार किया जाता था और उन्हे सुनने के लिए नगर के सभ्रान्त जनो को राजा लोग आमन्त्रित करते थे। हजारो नागरिक उनमे भाग लेते थे। उन चर्चाओ को सुनने से देश-विदेश के नीति, व्यवहार एव चिन्तन की जानकारी प्राप्त होती। उन्हे सुनने से मनुष्य चतुर बनता है और विभिन्न प्रकार से सोचने-विचारने की कला सीखता है। इसलिए सुनने की जिज्ञासा एक महत्त्वपूर्ण गुण है और समझदारी एव चतुरता प्राप्त करने का सबसे बडा 'गुर' है।

दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—

"सोच्चा जाणइ कल्लाण सोच्चा जाणइ पावग" !

मनुष्य भलाई और बुराई का निर्णय कैसे कर सकता है ? तो कहा है—सुनकर ! सुनकर वह पुण्य का भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है और पाप का भी। क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए इसका विवेक सुनने से ही आ सकता है। अत सबसे पहले सुनने की आदत अर्थात् सुनने की जिज्ञासा पैदा करनी चाहिए।

सुनना एक कला है। श्रोता मे सुनने की कला होनी चाहिए। वह अपने ज्ञान को वाणी द्वारा आपके समक्ष व्यक्त कर रहा है, अपने अनुभवो का अमूल्य पिटारा खोल रहा है, अब यदि आप अनमनेभाव से उसे सुन रहे है, कान तो लगे हैं, पर मन नही लगा है, आपका ध्यान सुनने मे नही है, कही इधर-उधर देख रहे हैं, ऊँघ रहे हैं, या बातें कर रहे हैं, या कोई पुस्तक या अखबार सामने रखकर पढ रहे हैं तो यह सब बातें आपकी अरसिकता की सूचक है। इनसे पता लगता है कि आप मे सुनने की जिज्ञासा नही है। वक्ता की बात के प्रति रस नही है। और जिस श्रोता मे रस नही हो, वह वक्ता विचारा क्या अपनी बात कहेगा, उसे भी रस नही आयेगा और इस प्रकार सारा वातावरण नीरस ही बना रह जायेगा।

एक कवि ने कहा है—"हे विधे ! तू चाहे मुझे वन-वन भटका कर भूखो मार दे, पर्वत शिखर से नीचे पटक दे, या सिंहो से चिरवा दे, अग्नि-ज्वालाओ में भस्म करदें, समुद्र मे बहादे ये सब मुझे मजूर है, पर एक बात मेरे भाग्य मे मत लिखना ? क्या ?

अरसिकेषु रसस्य निवेदनं
शिरसि मा लिख ! मा लिख, मा लिख !

अरसिक को रस भरी बातें सुनाने का कार्य मेरी तकदीर मे कभी मत लिखना, कभी मत लिखना।"

जिसमे रस नहीं, सुनने की जिज्ञासा नही, वह यदि सभाओ मे आकर कुतूहलवश बैठ भी जाय, लोगो को अपनी शकल बताने के लिए या 'हम भी सुनने को आते हैं' यह जताने के लिये आजाये तो उससे क्या लाभ है ? वह तो कोरी भीड हैं, वैसी तो चाहे जितनी ईंट और पत्थर की मूर्तियां रखदो, उससे न वक्ता को आनन्द आता है और न श्रोता को कुछ लाभ होता है। जिज्ञासु

भले ही हजार न आयें, दो-चार ही आयें पर वे उन हजार श्रोताओ से अच्छे हैं जो केवल भीड करने को आते है।

जान रस्किन का नाम आपने सुना होगा ? वह वहुत वडा विद्वान और आधुनिक सर्वोदय विचारधारा का मूल उत्स कहा जाता है। गाधीजी ने उसी की पुस्तक 'अटु दि लास्ट' से सर्वोदय की भावना ग्रहण कर उसका विस्तार किया था। एक वार जान रस्किन किसी विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर नियुक्त हुए। उनका भाषण सुनने को हजारो विद्यार्थियो की भीड जमा हो गई। रस्किन ने घोषणा करवादी—"भाषण कल के चिए स्थगित कर दिया गया है।" विचारे विद्यार्थी निराश होकर लौट गये। दूसरे दिन फिर भीड जमा हुई, मगर पहले दिन से कुछ कम। फिर घोषणा हुई, "भाषण कल के लिए स्थगित किया गया है।" तीसरे दिन उससे भी कम भीड आई किन्तु फिर भी उन्हे उसी प्रकार निराश लौटना पडा। चौथे दिन भी कुछ लोग आये मगर फिर भी अगले दिन के लिए भाषण स्थगित कर दिया गया। आखिर पाँचवे दिन कुल दस-वारह विद्यार्थी आये। रस्किन भाषण देने आये, मच पर खड़े होकर वोले—"मित्रो! श्रोताओ की काफी छटाई हो गई है, अव जो रहे हैं वे सच्चे श्रोता हैं, आओ हम अपनी विचार-चर्चा शुरू करें।"

तो जिसमे सुनने की सच्ची लगन होती है, जिज्ञासा होती है वह न आँधी मे रुकता है और न वर्षा मे। उसकी जिज्ञासा, सुश्रूषा अपने आप उसे वक्ता तक पहुँचा देगी, जैसे रसग्रहण की लिप्सा भवरो को फूलो तक पहुँचाती है।

इसलिए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है, गृहस्थ मे सुश्रूषा—अर्थात् सुनने की इच्छा होनी चाहिए। श्रवणेच्छा एक प्रकार की वुद्धि है, वौद्धिक विकास का मुख्य द्वार है।

श्रोताओं के वर्ग

दूसरी वुद्धि वताई है—'श्रवण' सुनना। सुनने की इच्छा तो हुई, पर सुनने को कहीं गये ही नही, किसी की वात सुनी नही तो फिर सुनने की इच्छा का लाभ क्या हुआ ? किसी श्रावक से साधुजी ने कहा—"भाई! क्या वात है आज कल दीखते नहीं ? व्याख्यान आदि सुना करो।" श्रावक ने उत्तर दिया—"महाराज! सुनने की इच्छा तो वहुत है, पर क्या करूँ फुर्सत ही नही मिलती।"

तो यह कोई वात है, सुनने की इच्छा हुई और फुर्सत न मिले ? खाने की इच्छा होते ही खाना खा लेते हैं, आराम करने की इच्छा हुई तो आराम भी

कर लेते हैं, अपनी हर इच्छा पूरी कर सकते हैं तो क्या सुनने की इच्छा पूरी नही कर सकते ? वात यह है कि सच्ची इच्छा पैदा ही नही हुई है ? सच्ची इच्छा जग गई तो फिर कौन रोकने वाला है ? इसलिए श्रवणेच्छा जगना पहली वात है उसके वाद दूसरी वात है—सुनना ।

आप लोग 'श्रावक' कहलाते हैं । श्रावक का क्या अर्थ है—सुनने वाला । वैसे श्रावक के लिए मुख्य शब्द 'उपासक' है, जो नियमो की, व्रतो की और देव गुरुधर्म की उपासना करता है वह 'उपासक' कहलाता है । और जो धर्म को सुनता है—वह 'श्रावक' कहलाता है । 'उपासक' के लिए नियमो की विशेष विधि हैं । साधना की प्रणालियाँ हैं । पर श्रावक के लिए तो सिर्फ धर्म सुनने की वात है । जो भी धर्म सुनता है वह 'श्रावक' कहला सकता है । अर्थात् जिसमे सुनने की इच्छा होती है और जो सुनता भी है वह 'श्रावक' कहलाता है, श्रोता भी कहलाता है ।

स्थानागसूत्र मे श्रावक के चार भेद वताये है । आदर्श या शीशे के समान—जो वक्ता के विचारो का सही प्रतिविम्व ग्रहण करता है । पताका के समान—जो सुनता तो है, पर उस पर स्थिर नही रह सकता । स्तम्भ या स्थाणु के समान—जो धर्म सुनने को तो आता है पर अहकार मे तना रहता है, खम्भे की तरह या सूखे ठूंठ के समान अकडा रहता है । और चौथा है, खरकटक—तीखे कांटे के समान । चलते-चलते जैसे रास्ते मे तीखा कांटा पैर मे चुभकर दर्द पैदा कर देता है वैसे ही प्रवचन सुनते-सुनते वीच मे ही ऐसी वेतुकी और तीखी वातें कह देता है कि वक्ता और अन्य श्रोताओ के मन मे पीडा उत्पन्न हो जाती है । तो ये चार भेद श्रावक के वताये हैं वे श्रोता की दृष्टि से वताये गये हैं ।

श्रोता के चौदह गुण

ग्रन्थो मे श्रोता के गुणो का वर्णन किया गया है । श्रोता कैसा हो ? उसमे क्या विशेषताएँ हो ? उसे किस प्रकार सुनना चाहिये ? यह सव वातें विस्तार के साथ वताई गई हैं । जैसा मैंने पहले कहा—सुनना भी एक कला है । वक्ता को वक्तृत्व-कला जैसे सीखनी होती है, वैसे श्रोता को भी सुनने की कला सीखनी पडती है । सुनने की इस कला का विस्तृत रूप हमे श्रोता के चौदह गुणो मे मिलता है, जिन पर सक्षेप मे मैं आपके सामने विचार कर रहा हूँ—

१ भक्तिमान—श्रोता का पहला गुण है । वक्ता के प्रति श्रद्धा भक्ति होनी चाहिये । जिससे सुनने को मिल रहा है उसके प्रति आदर एव सम्मान की भावना होनी चाहिये ।

२. **मिष्टभाषी**—यह दूसरा गुण है। वक्ता कभी अपनी बात को मधुर शब्दो मे और कभी कडवे शब्दो मे भी रखता है, किन्तु श्रोता को हमेशा उसका उत्तर मधुर शब्दो मे देना चाहिये। कहावत है—**फौज में नगारो, बात मे हुंकारो**' तो हमारे यहाँ व्याख्यान मे हुँकारा दिया जाता है, वाणी झेली जाती है। उसका यही अर्थ है कि श्रोता वक्ता की बात को आदरपूर्वक सुन रहा है। हुँकारे मे अपने यहाँ 'खमाघणी' कहा जाता है। यह दरबारी शब्द है, राजाओ के लिए इसका प्रयोग होता है, साधुओ के लिए नही होना चाहिये। राजा जब सभा मे जाते थे तो लोग उनका अभिवादन करते हुए—'खमाघणी' बोलते, जिसका भाव है, हमारे ऊपर कृपा, क्षमा रखिये। अपनी सस्कृति मे इसके लिए एक शब्द है—"तहत्" अर्थात् "तथास्तु"—आपने जो कहा, वह ठीक है। यह श्रोता की आदरसूचक भावना है, जो वह बीच-बीच मे वक्ता के प्रति व्यक्त करता जाता है।

३. **अहंकाररहित**—यह तीसरा गुण है। श्रोता को यह अहकार नही होना चाहिये कि मैं वक्ता से अधिक ज्ञानी हूँ, वक्ता से ज्यादा तो मैं ही जानता हूँ। अधिक ज्ञानी को भी अहकाररहित होकर दूसरो की बात सुननी चाहिये।

४ **श्रवणरुचि**—श्रोता का चौथा गुण है। जो बात सुने, वह रुचि तथा दिलचस्पी पूर्वक सुननी चाहिये। 'मित्र बनाने की कला' नामक एक प्रसिद्ध पुस्तक मे डेल कारनेगी ने कुछ सूत्र लिखे हैं कि लोगो को अपना कैसे बनाया जाय ? उसमे एक सूत्र है—दूसरो की बात दिलचस्पीपूर्वक सुनिए। सुनते समय बोलने वाले की मुखमुद्रा एव हाथो के सकेतों की ओर देखिये ताकि उसकी बात का सही तात्पर्य आप शीघ्र ही सरलतापूर्वक समझ सकें, और इससे वक्ता की दिलचस्पी भी आप मे जुड जायेगी। अत. 'श्रवणरुचि' सुनने की कला का चौथा सूत्र है।

५. **सुस्थिर आसन**—यह पाँचवाँ गुण है। सुनते समय बहुत से लोग आसन बदलते रहते हैं, कभी यहाँ बैठे, थोडी देर मे उठकर उधर जा बैठे, कभी पालथी मार कर बैठे, कभी पाँव फैला दिये, कभी दाँत-कान कुरेदने लगे, कभी भूमि कुरेदने लगे—यह सब सभा की अशिष्टता है। इन बातो से न केवल अपनी असभ्यता जाहिर होती है, किन्तु दूसरे श्रोताओ को भी बुरा लगता है। अत सभा मे स्थिर आसन से बैठकर सुनना चाहिए।

६ **एकचित्त होकर सुनना**—श्रोता का छठा गुण है। यदि सुनते समय मन इधर-उधर डोलता रहा, तो वक्ता क्या कहता है, पहले क्या कहा, पीछे क्या कहा—इसका कोई पता नही चलता। चचलचित्त से सुनने पर न तो

वक्ता की बात श्रोता के पल्ले पडती है, और न कुछ समझ मे ही आ सकता है। सुनते समय एकाग्र होकर सुनना चाहिये। ऐसे आदमियो को आपने देखा होगा। उनकी चर्चाएँ सुनी होगी जो एक साथ सैकडो बातें सुनते हैं, और उन्हें बराबर याद रख लेते हैं। कई सन्तो मे यह विशेषता देखने मे आती है कि वे जिस गाँव मे गये, वहाँ नये श्रावक आते हैं, तो एक बार उनका नाम पूछते हैं, फिर दस-बीस वर्ष बाद भी यदि वह श्रावक कही मिलता है तो उसका नाम तुरन्त यो बता देते हैं जैसे अभी-अभी पूछा हो! इसका रहस्य क्या है? यही कि सुनने के समय स्थिरचित्त होकर सुनते हैं। स्थिरचित्त से सुनी गई बात सीधी स्मृति मे जम जाती है और वर्षों तक याद रहती है। इसलिए श्रोता का गुण बताया है कि वह सुनते समय एकाग्रचित्त होकर सुने।

कई व्यक्तियो को देखते हैं, किसी का नाम पूछते हैं—भाई, तुम्हारा नाम क्या है? सामने वाला नाम बताता है, एक मिनट नही हुआ कि फिर पूछते हैं—'नाम क्या है?' पाँच-सात बार पूछने पर भी उन्हे नाम याद नही होता। इसका भी मनोवैज्ञानिक कारण यही है कि नाम सुनते समय उनमे एकाग्रता और दिलचस्पी की कमी होती है। चित्त चचल रहता है, और चचलता से स्मृतिभ्रश—स्मरण शक्ति नष्ट होती है।

७ **यथाश्रुत वक्ता**—यह सातवाँ गुण है। जैसा सुना वैसा ही कहे। नन्दी-सूत्र की टीका मे बताया है—बहुत से श्रोता बिल्ली के साथी होते हैं। बिल्ली बर्तन मे से सीधा दूध नही पीती जमीन पर गिरा कर पीती है। वैसे ही कुछ लोग वक्ता तक सीधे नही पहुँचते। जो सुनकर आते है उनसे पूछते हैं—अरे, महाराज साहब ने आज क्या व्याख्यान दिया? क्या बात कही? श्रोता को, जिसमे जिज्ञासा है, चाहिये कि वक्ता से साक्षात् सुने। साक्षात् सुनने मे जो आनन्द मिलता है, वह दूसरो से पूछने मे थोडा ही मिलेगा? यदि साक्षात् सुनने का अवसर नही मिले तो जो साक्षात् सुनने वाला है, उसे चाहिये कि वह वक्ता ने जैसा कहा, वैसा ही दूसरो को बताये। अपनी ओर से उसमे काँट-छाँट न करे, न मिर्च-मसाले लगाएँ और न उसे धो-पोंछ कर रखे। अपनी ओर से बढाने मे कभी-कभी अर्थ का अनर्थ हो जाता है, और सब बात व्यर्थ हो जाती है।

अपने यहाँ एक कहानी आती है—एक सेठजी ने बाजार से सामान खरीदा। घर पर लाने के लिए मजूर किया तो उसकी मजूरी पूछी—अरे, क्या लेगा? घर तक सामान ले चलना है?

मजूर ने कहा—मालिक! एक रुपया।

सेठ जी तो हरएक वात मे काट-कसर करने वाले ठहरे। वोले—"चार आना देंगे।"

मजूर ने कहा—"सेठ जी वहुत कम है, चलो आठ आना देना।" 'सेठ जी घर तक आये, घर वहुत दूर निकला, मजूर ने सामान रखकर मजूरी मांगी। सेठ जी ने पर्चा लिख दिया—'जा दुकान से ले ले।' मजूर ने पूछा—सेठ जी! क्या लिखा है ?

सेठ जी ने कहा—'आठ आना।' मजूर गिडगिडाने लगा, 'सेठ जी वजन वहुत था, घर भी वहुत दूर निकला, गरीव हूँ, कुछ तो महरवानी करो।' सेठ जी ने कहा—'जा, जा वारह आना ले लेना, और पर्चे मे आठ आने की दो पाई की जगह तीन पाई कर दी। मजूर पर्चा लेकर चला। सोचा—"सेठ जी ने कुछ नही किया, सिर्फ एक लकीर वढादी जिसमे चार आना वढ गया, यदि मैं एक लकीर और वढा दूँ तो रुपया पूरा हो जायेगा। उसने कोयले से उसी के भीतर एक लकीर और वढादी और पर्चा दुकान पर मुनीम जी को दिया। मुनीम जी ने पर्चा देखा—उसमे पाई चार थी, वोले—"क्या लिखा है ? इसमे तो कुछ नही लिखा ?"

मजूर वोला—एक रुपया लिखा है न ?

मुनीम जी—"नही, एक रुपया कहाँ, इसमे तो कुछ नही।" मजूर ने अपनी एक लकीर पर हाथ रखकर पूछा—"अव क्या है ?" मुनीम जी ने कहा—"अव तो वारह आने हो गये।" मजूर वोला—"वस, सेठ जी ने तो यही लिखा है, यह एक फांकडी तो मैंने अपनी ओर से वढादी थी।"

तो अपनी ओर से एक फांकडी वढी तो वारह आने की भी कीमत चली गई। सव वेकार हो गया, तो इसी प्रकार किसी वात मे, अपनी ओर से न घटाना चाहिए, न वढाना।

सूत्रो मे आता है—सुधर्मास्वामी से जवूस्वामी पूछते हैं—"भगवान ने अमुक सूत्र मे क्या वर्णन किया है, आप मुझे कृपा कर वतलाइये।"

सुधर्मास्वासी उत्तर मे प्रतिज्ञा के साथ कहते हैं—आयुष्मन्! मैंने जैसा सुना है वैसा ही मैं तुम्हे कह रहा हूँ—अहासुयं वूहि जहा णिसत।

—(सूत्रकृताग ५।२)

भगवान के कहे हुए मे न मैंने अपनी ओर से एक अक्षर वढाया है और न एक अक्षर घटाया है। तो यह है सच्चे श्रोता का आदर्श! वक्ता से जैसा सुना, उसके पूर्वापर सम्वन्ध को वताते हुए पूरी वात पूछने वाले को वताये।

८ **प्रश्न को समझने वाला**—श्रोता का आठवाँ गुण है। वक्ता अपने प्रवचन के बीच मे कभी-कभी श्रोताओ से प्रश्न करता है, या कुछ प्रश्न खड़े करके फिर उनका समाधान देता है। यह प्रवचन की एक शैली है। अब श्रोता यदि वक्ता के प्रश्न की पृष्ठभूमि न समझे, प्रश्न की रूपरेखा न समझे, व यह और ले उडे कि लो, महाराज साहब को भी ऐसी शका है, इनके मन में भी ऐसे प्रश्न हैं? ऐसी स्थिति मे बात का बतगड बन जाता है। शास्त्रो मे आता है—गौतमस्वामी प्रश्न करते हैं और भगवान महावीर स्वामी उत्तर देते हैं। किन्तु कही-कही गौतम या अन्य जिज्ञासुओ के प्रश्न पर भगवान उनसे प्रति-प्रश्न करते हैं, खुद भगवान उनसे पूछते हैं और फिर उनका उत्तर आने पर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। कोई इससे यह समझे कि क्या भगवान के मन मे भी सशय है? तो यह तो अक्ल का अजीर्ण होने वाली बात है। इसी प्रकार श्रोता इतना बुद्धिमान होना चाहिए कि वह वक्ता के प्रश्न की भूमिका और रूपरेखा को समझ सके।

✓ एक गाँव मे साधु जी व्याख्यान दे रहे थे। सबसे आगे वहाँ के नगर सेठ बैठते थे। वे ही बात-बात मे हुंकारा देते। पर सेठ इतने भोले शकर स्वभाव के थे कि साधु जी की कोई बात उनकी समझ मे आये या न आये पर जब साधु जी पूछते—"कहो सेठ जी! यह बात कैसे?" तो सेठ जी कहते—"बाप जी! आप ही फरमाइये। हम अज्ञानी क्या जानें?" साधु जी को बडा अखरता, यह कैसे श्रोता—जो बात का रग भी नही जमा सकते। साधु जी जरा मजाकी स्वभाव के थे। एक दिन बात ही बात मे पूछा—"कहो सेठ जी! भगवान महावीर के पिता का नाम क्या था?"

सेठ जी की तो आदत थी, बोले—"बापजी! आप ही फरमाइये, हम अज्ञानी क्या जानें?"

साधु जी ने लगते ही पूछा—"कहो सेठ जी! आपके पिता जी का नाम क्या था?"

आदत के अनुसार छूटते ही सेठ जी बोले—"बाप जी! आप ही फरमाइये, हम अज्ञानी क्या जानें?"

साधु जी ने कहा—"बाप आपके थे या मेरे?"

चारों ओर श्रोताओ मे हँसी फूट गई। सब सेठ जी की ओर देखने लग गये। ✓

तो वक्ता के सामने यदि ऐसे श्रोता जम जायें तो फिर व्याख्यान का रग कैसे जमे? इसलिए श्रोता ऐसा होना चाहिए जो वक्ता का प्रश्न समझ सके।

सेठ जी तो हरएक बात मे काट-कसर करने वाले ठहरे। बोले—"चार आना देंगे।"

मजूर ने कहा—"सेठ जी बहुत कम है, चलो आठ आना देना।" 'सेठ जी घर तक आये, घर बहुत दूर निकला, मजूर ने सामान रखकर मजूरी मांगी। सेठ जी ने पर्चा लिख दिया—'जा दुकान से ले ले।' मजूर ने पूछा—सेठ जी ! क्या लिखा है ?

सेठ जी ने कहा—'आठ आना।' मजूर गिडगिडाने लगा, 'सेठ जी वजन बहुत था, घर भी बहुत दूर निकला, गरीब हूँ, कुछ तो महरबानी करो।' सेठ जी ने कहा—'जा, जा बारह आना ले लेना, और पर्चे मे आठ आने की दो पाई की जगह तीन पाई कर दी। मजूर पर्चा लेकर चला। सोचा—"सेठ जी ने कुछ नही किया, सिर्फ एक लकीर बढादी जिसमे चार आना बढ गया, यदि मैं एक लकीर और बढ़ा दूं तो रुपया पूरा हो जायेगा। उसने कोयले से उसी के भीतर एक लकीर और बढादी और पर्चा दुकान पर मुनीम जी को दिया। मुनीम जी ने पर्चा देखा—उसमे पाई चार थी, बोले—"क्या लिखा है ? इसमे तो कुछ नही लिखा ?"

मजूर बोला—एक रुपया लिखा है न ?

मुनीम जी—"नही, एक रुपया कहाँ, इसमे तो कुछ नही।" मजूर ने अपनी एक लकीर पर हाथ रखकर पूछा—"अब क्या है ?" मुनीम जी ने कहा—"अब तो बारह आने हो गये।" मजूर बोला—"बस, सेठ जी ने तो यही लिखा है, यह एक फांकडी तो मैंने अपनी ओर से बढादी थी।"

तो अपनी ओर से एक फांकडी बढी तो बारह आने की भी कीमत चली गई। सब बेकार हो गया, तो इसी प्रकार किसी बात मे, अपनी ओर से न घटाना चाहिए, न बढाना।

सूत्रो में आता है—सुधर्मास्वामी से जबूस्वामी पूछते हैं—"भगवान ने अमुक सूत्र मे क्या वर्णन किया है, आप मुझे कृपा कर बतलाइये।"

सुधर्मास्वासी उत्तर मे प्रतिज्ञा के साथ कहते हैं—आयुष्मन् ! मैंने जैसा सुना है वैसा ही मैं तुम्हे कह रहा हूं—अहासुयं वूहि जहा णिसत।

—(सूत्रकृतांग ५।२)

भगवान के कहे हुए मे न मैंने अपनी ओर से एक अक्षर बढाया है और न एक अक्षर घटाया है। तो यह है सच्चे श्रोता का आदर्श ! वक्ता से जैसा सुना, उसके पूर्वापर सम्बन्ध को बताते हुए पूरी बात पूछने वाले को बताये।

८ **प्रश्न को समझने वाला**—श्रोता का आठवाँ गुण है। वक्ता अपने प्रवचन के बीच मे कभी-कभी श्रोताओ से प्रश्न करता है, या कुछ प्रश्न खड़े करके फिर उनका समाधान देता है। यह प्रवचन की एक शैली है। अब श्रोता यदि वक्ता के प्रश्न की पृष्ठभूमि न समझे, प्रश्न की रूपरेखा न समझे, व यह और ले उड़े कि लो, महाराज साहब को भी ऐसी शंका है, इनके मन मे भी ऐसे प्रश्न हैं ? ऐसी स्थिति मे बात का बतंगड बन जाता है। शास्त्रो मे आता है—गौतमस्वामी प्रश्न करते हैं और भगवान महावीर स्वामी उत्तर देते हैं। किन्तु कही-कहीं गौतम या अन्य जिज्ञासुओ के प्रश्न पर भगवान उनसे प्रति-प्रश्न करते हैं, खुद भगवान उनसे पूछते हैं और फिर उनका उत्तर आने पर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। कोई इससे यह समझे कि क्या भगवान के मन मे भी सशय है ? तो यह तो अक्ल का अजीर्ण होने वाली बात है। इसी प्रकार श्रोता इतना बुद्धिमान होना चाहिए कि वह वक्ता के प्रश्न की भूमिका और रूपरेखा को समझ सके।

✓ एक गाँव मे साधु जी व्याख्यान दे रहे थे। सबसे आगे वहाँ के नगर सेठ बैठते थे। वे ही बात-बात मे हुंकारा देते। पर सेठ इतने भोले शकर स्वभाव के थे कि साधु जी की कोई बात उनकी समझ मे आये या न आये पर जब साधु जी पूछते—"कहो सेठ जी! यह बात कैसे ?" तो सेठ जी कहते—"बाप जी! आप ही फरमाइये। हम अज्ञानी क्या जानें ?" साधु जी को बडा अखरता, यह कैसे श्रोता—जो बात का रग भी नही जमा सकते। साधु जी जरा मजाकी स्वभाव के थे। एक दिन बात ही बात मे पूछा—"कहो सेठ जी! भगवान महावीर के पिता का नाम क्या था ?"

सेठ जी की तो आदत थी, बोले—"बापजी! आप ही फरमाइये, हम अज्ञानी क्या जानें ?"

साधु जी ने लगते ही पूछा—"कहो सेठ जी! आपके पिता जी का नाम क्या था ?"

आदत के अनुसार छूटते ही सेठ जी बोले—"बाप जी! आप ही फरमाइये, हम अज्ञानी क्या जानें ?"

साधु जी ने कहा—"बाप आपके थे या मेरे ?"

चारो ओर श्रोताओ मे हँसी फूट गई। सब सेठ जी की ओर देखने लग गये। ✓

तो वक्ता के सामने यदि ऐसे श्रोता जम जायें तो फिर व्याख्यान का रग कैसे जमे ? इसलिए श्रोता ऐसा होना चाहिए जो वक्ता का प्रश्न समझ सके।

९. अर्थ समझने वाला—यह श्रोता का नौवाँ गुण है। वक्ता क्या कहना चाहता है, उसका आशय क्या है, पहले क्या बात कही है—उसका आगे क्या सम्बन्ध है—इस बात का परिज्ञान श्रोता को होना चाहिये। कभी-कभी ऐसा होता है, वक्ता कोई बात कहता है, कोई शब्द कहता है, पर श्रोता ऐसे भोले शकर मिल जाते हैं कि उस शब्द को सही रूप मे ग्रहण नही करते और उसका अनर्थ कर देते हैं।

एक जगह व्यास जी ने रामायण की कथा प्रारम्भ की। एक किसान भी वहाँ कथा सुनने आता। रामायण मे सीता-हरण के प्रसग में व्यासजी ने कहा–'सीता का हरण हो गया'। किसान ने समझा 'सीता का हिरण हो गया।' तीन महीने बाद जब कथा पूरी हुई तो किसान ने पूछा—"बाप जी! आपने कथा तो सुनाई, और मैंने बराबर सुनी, पर आपने यह तो बताया कि 'सीता का हिरण हो गया' पर वापस मनुष्य कब हुई यह नही बताया? फिर कथा पूरी कैसे हो गई?"

व्यास जी ने सिर पर हाथ पटका—"भाई? मैंने यह कब कहा?"

किसान—"बाप जी! आपने कहा और मैंने सुना है, अब आप भूल कैसे गये?"

व्यास जी ने सिर पीट कर कहा "सीता का हिरण नही हुआ, हिरण तो तेरी बुद्धि होगई।"

तो ऐसे श्रोता मिल जायें तो बिचारे वक्ता क्या समझाएँ? जो वक्ता के कथन का आशय नही समझे कहे 'अजमेर' और समझे 'आज मरे' तो? इसलिए जरूरी है कि श्रोता जागरूक होकर वक्ता के अभिप्राय को समझे।

१०. सत्कर्म मे आलस्य नहीं करे—यह दसवाँ गुण है और उदारचेता यह ग्यारहवाँ गुण है।

'उदार चेता' के दोनो अर्थ होते हैं—सुनी हुई बात को यदि कोई दूसरा पूछे तो उसमे कजूसी नही करे कि मैं बताऊँगा तो मेरी जानकारी इसको मिल जायेगी। ज्ञान का भडार तो ऐसा है कि ज्यो-ज्यो लुटाया जाता है त्यो-त्यो ही बढता जाता है। कहा है—

सुरसति के भंडार की बड़ी अपूरब बात।
ज्यो खर्चे त्यो-त्यो बढ़ै बिन खर्चे घटि जात॥

ज्ञान बिना बाँटे घटता है, बाँटने से बढता है, इसलिए अपनी सुनी हुई बात दूसरो को बताने-सुनाने मे कभी कजूसी नहीं करे। अपनी विद्या दूसरो को नही बताने की वृत्ति के कारण भारतवर्ष की अनेक चमत्कारी विद्याएँ लुप्त

हो गई। आप सोचिये आपके घर मे कही जमीन मे धन गढा है, या कही रखा है, पुत्र आदि को पता नही है, आप अन्तिम शय्या पर पड़े है तो क्या आप घर वालो को नही बतायेंगे ? बिना बताये चले गये तो वह धन भी वही खत्म हो गया। इसी प्रकार ज्ञान-दान मे हमेशा उदारता रखनी चाहिए।

और दूसरी बात है—सभा-सस्थाओ मे जहाँ हजारो श्रोता इकट्ठे होते हैं, वहाँ धार्मिक, सामाजिक कार्यों के लिए लोग दान की अपील करते हैं, चन्दा एकत्र करते हैं तो ऐसे समय पर वहाँ उपस्थित श्रोता अपनी-अपनी इच्छानुसार, शक्ति के अनुसार कुछ न कुछ सहयोग करते है। श्रोताओ की ऐसी वृत्ति नही होनी चाहिये कि घण्टा-दो-घण्टा सुनते रहें और जब देने की बात आई तो आसन उठाकर चुपके से खिसक गये। दाताओ से सभा का गौरव बढता है, कजूसो से सभा का गौरव घटता है।

कहते हैं, 'आइवनहो' के प्रख्यात लेखक, सर वाल्टर स्काट ने एक बार किसी शिक्षा फड के लिए एक सभा आयोजित की। फड के लिए उन्होंने सभा मे बडी मार्मिक अपील की। भाषण दिया, भाषण के उपरान्त चन्दा इकट्ठा करने के लिए उन्होंने अपना हैट श्रोताओ के सामने घुमाया। इस छोर से उस छोर तक घूम आने के बाद भी हैट मे किसी ने चन्दे के नाम पर एक पैसा नही डाला। यह देखकर खाली हैट को हाथ मे लेकर स्काट ने बडी शाति के साथ श्रोताओ से कहा—"मैं आप लोगो का बहुत आभारी हूँ कि आपने कम से कम मेरा हैट तो सकुशल वापस लौटा दिया, धन्यवाद।"

तो इस प्रकार के 'अनुदार श्रोता' दोनो दृष्टियो से ही निकृष्ट माने जाते हैं। इसलिए श्रोता मे उदारता का गुण होना चाहिये।

१२ गुणवान अर्थात् गुणग्राही होना, १३ निन्दक नहीं होना और १४ दोषरहित शुद्ध जीवन बिताना—ये क्रमश श्रोता के अन्तिम तीन गुण हैं। वैसे श्रोता के साथ-साथ 'ग्रहण' विषय से भी इसका सम्बन्ध है, अत इन तीनो गुणो पर अगले विषय के साथ विस्तार से चर्चा करेंगे।

हमने आज श्रावक की आठ बुद्धियो मे दो बुद्धियो 'सुश्रूषा,' और 'श्रवण' इन पर चर्चा की है। आशा है आप इन पर गहराई से सोचेंगे। यदि अपने मे कोई कमी है तो उसे दूर करने की चेष्टा करेंगे।

१८

तत्त्व लीजिए छान के

'सुश्रूषा और श्रवण'—इन दो विषयो पर कल आपके समक्ष चर्चा चली थी, आज उसके आगे के विषयो पर विस्तार से वर्णन करना है।

तीसरी बुद्धि है—'ग्रहण'। सुनने की इच्छा होने पर व्यक्ति सुनता है, और सुनने की रीति तथा कला के साथ सुनता है। सुनकर इस बात पर विचार किया जाता है कि यदि वह ग्रहण योग्य है, उससे जीवन को लाभ होने वाला हो तो उसे ग्रहण करना चाहिए। कानो तक लाकर उसे हृदय तक पहुँचाना चाहिए।

कौड़ियों की कीमत

एक कहानी है। राजा विक्रम के समक्ष एक मूर्तिकार धातु की तीन मूर्तियाँ लेकर उपस्थित हुआ। राजा से निवेदन किया—"महाराज! इनकी कीमत के विषय मे सही निर्णय चाहता हूँ।"

राजा ने देखा—तीनो मूर्तियाँ एक समान आकृति की थी, वजन आदि मे बिल्कुल समान थी। फिर इनके लिए मूल्य मे भी समानता ही रहनी चाहिए। राजा ने अपना विचार व्यक्त किया तो मूर्तिकार ने सिर हिलाया। अनेक व्यक्तियो ने मूर्ति की परीक्षा की, पर किसी के भी निर्णय से मूर्तिकार संतुष्ट नहीं हुआ। आखिर मूल्य निर्णय की जिम्मेदारी कालिदास को सौंपी गई।

कालिदास ने एक शलाका (सीक) ली। पहली मूर्ति के कान मे डाली तो दूसरे कान से निकल गई। दूसरी मूर्ति के कान मे सीक डाली तो वह मुँह से निकलकर बाहर आगई, और तीसरी मूर्ति के कान से सीक सीधी पेट मे उतर

गई। कालिदास ने अपना निर्णय दिया। पहली मूर्ति की कीमत है–तीन कौडी, दूसरी की एक मुद्रा और तीसरी की लक्ष स्वर्ण मुद्रा!

लोगो की जिज्ञासा देखकर राजा विक्रम ने कहा—"कविवर! इस अन्तर का कारण समझाइए।"

कालिदास ने गम्भीरता के साथ बताया—"यह मूर्तियाँ तीन प्रकार के मानव स्वभाव की प्रतीक हैं। एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देना निकृष्ट स्वभाव है, उसकी कीमत तीन कौडी से अधिक नही हो सकती। कान से सुनकर वक्ता की बात पर मुंह से प्रशसा के दो शब्द कहकर कर्त्तव्य-पूर्ति मान लेना—मध्यम स्वभाव है। उसका कुछ मूल्य है अत वह एक मुद्रा के योग्य माना जा सकता है। तीसरी मूर्ति मनुष्य के उस स्वभाव की प्रतीक है—जो कान से सुनकर तत्त्व को हृदय की गहराई मे उतार ले जाता है। इस उदात्त स्वभाव का मूल्य लक्ष स्वर्ण मुद्रा से भी अधिक हो सकता है।"

कालिदास के उत्तर से राजा विक्रम, मूर्तिकार एव समस्त प्रजाजन प्रसन्न हो गये। सभवत आपको भी सतोष हुआ होगा? मैं पूछना चाहता था कि आप अपना मूल्य कितना आंकते हैं? शायद तीन कौडी तो नहीं? एक मुद्रा भी नहीं! फिर लक्ष स्वर्ण मुद्रा? जरूर! शायद आपके जीवन मे भी इस गुण का विकास हुआ हो—सुनकर जीवन में उतारने की वृत्ति जगी हो, तो अवश्य ही आपका मूल्य लाख रुपयो से अधिक होगा। ✓

फूल चुनिए

श्रोता के गुणो मे तीन गुण बताये थे। गुणज्ञ होना, निंदक नही होना, और निर्दोष जीवन जीना। ये तीनो गुण हमारी वृत्ति से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। हम किस बात को सुनकर उसमे से गुण चुने? यह जरूरी नही कि वक्ता की सभी बातें आपके मन के व विचारो के अनुकूल ही हो। बहुत सी बातें शायद आपको नही जँचें। आपका मस्तिष्क भी चेतनावान है, इसमे भी तर्क व विचार की शक्ति है और वह स्वतन्त्र भी है। इसलिए यदि विचार-चिन्तन करने पर आपको वक्ता की कोई बात न जँचे तो उसे छोड देना चाहिए, उसकी निंदा या आलोचना नहीं करनी चाहिए। हाँ वक्ता से समाधान मांगना और बात है, पर वह भी तरीके मे मांगना चाहिए। सभा मे शोरगुल करना, सभा भग करने का प्रयत्न करना, वक्ता की अवहेलना करना—यह असभ्यता है, अशिष्ट तरीके है। आज सामान्य सभाओ की क्या हालत है, यह तो आप जानते ही हैं किन्तु लोकसभा जैसे सदनो मे भी कितनी अशिष्टता बरती जाती है किसी से छुपा नही! वक्ता पर व्यग्य कसना, जूते और चप्पलें फेंकना, कितनी शर्मनाक

प्रवृत्तियां हैं ? जहाँ देश के चुने हुए व्यक्ति भी ऐसा असभ्य व्यवहार करते है, वहाँ साधारण जन से क्या अपेक्षा की जा सकती है ? जिस प्रजातन्त्र मे विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है उस प्रजातन्त्र मे विचार व्यक्त करने वाली सभाओ मे फूलो की जगह पत्थर बरसें, विचारो की जगह जूते उछलें और बधाई के हाथ उठाने की जगह घूँसे-मुक्के चलें—पुलिस के पहरे लगें—क्या कहा जाय उस वैचारिक स्वतन्त्रता को ? इसका मतलब है आप मे न तो विचारो की स्वतन्त्रता का सम्मान है और न वैचारिक सहिष्णुता है। प्रजातन्त्र मे वैचारिक स्वतन्त्रता की जितनी महत्ता है उतनी ही वैचारिक सहिष्णुता की भी है। हमारे आचार्यों ने वैचारिक सहिष्णुता के ही इस एक पहलू पर विवेचन करते हुए कहा है—श्रोता को चाहिए कि वह दूसरो की बातें सुनकर उनसे गुण-गुण चुनलें, अच्छाइयां ले लें। मधुकर बनकर फूलो का रस ले लें, कांटो को छोड़दें।

शास्त्रो मे कहा है—"जं सेयं तं समायरे"—सुनने के बाद जो श्रेयस्कर हो, जिससे जीवन का कल्याण होता हो, उसे स्वीकार भी करना चाहिए। आपने प्रवचन मे तपस्या की महिमा सुनी, क्षमा और दया का उपदेश सुना। शास्त्रो की लम्बी-चौडी तत्त्वचर्चाएँ सुनी, आखिर इनका सार क्या है ? छेदवाले घड़े मे इधर पानी डाला और उधर से बह गया तो पानी डालने का सार क्या निकला ? अपने यहाँ कहावत है—

दीधी पण लागी नहीं रीतै चूल्हे फूंक।
गुरु बिचारा क्या करे, चेला माँहि चूक॥

चेले की यह चूक क्या है ? यही कि गुरु गला फाड-फाडकर थक गये पर चेले के कान मे जूँ भी नही रेंगी ?

भागवत सुणतां फूट्या कान।
तोही न आयो ब्रह्म ज्ञान।

तो ज्ञान, शास्त्र सुनने भर से नही आता, ग्रहण करने से आता है। इसलिए हमारे मे 'ग्रहण-वृद्धि' होनी चाहिए और 'ग्रहण-विधि' का भी ज्ञान होना चाहिए।

धारणा बनाइए

जो वस्तु सच्चे हृदय से ग्रहण की जाती है वह जीवन की धारणा बन जाती है। धारणा के दो अर्थ होते है—एक आस्था, विश्वास और दूसरा अर्थ सुदृढ़ स्मृति।

किसी विषय मे पूछा जाता है, आपकी क्या धारणा है ? इसका अर्थ है— आपका क्या विश्वास है ? आपकी आस्था किस प्रकार की है ? और दूसरा अर्थ स्मृतिपरक है। मतिज्ञान के पाँच भेदो मे 'धारणा' तीसरा भेद है, जिसका अर्थ है सुदृढ स्मृति, पक्की याददास्त !

सत्य का उपदेश सुनकर सत्य को ग्रहण करने की भावना होती है, आप सत्य को स्वीकार कर लेते हैं, सत्य बोलना शुरू कर देते हैं, किन्तु सत्य के प्रति आपकी धारणा क्या है ? विश्वास क्या है ? आदमी सत्य का लाभ सुनकर सत्य बोलता है, पर कभी प्रत्यक्ष मे सत्य बोलने से हानि हुई तो वह सत्य को छोडकर असत्य बोलना भी शुरू कर सकता है। किन्तु यदि सत्य के प्रति आपकी दृढ धारणा बन चुकी है कि वह जीवन का सही मार्ग है, उससे कभी भी हानि नही हो सकती, और हानि का प्रसग आये तब भी आप सत्य को नही छोडेंगे ? हरिश्चन्द्र के कदमो पर चलने को तैयार रहेंगे तो यह कहा जा सकता है कि सत्य पर आपका दृढ विश्वास है, आपकी दृढ धारणा है।

एक विचार से 'ग्रहण' आचार पक्ष है, वह धर्म है और धारणा विचार पक्ष है, अत वह दर्शन है। दर्शन के साथ धर्म, अर्थात् विचार के साथ आचार शास्त्रीय भाषा मे ज्ञान के साथ क्रिया—यही धारणा और ग्रहण का स्वरूप है।

विज्ञान : विशिष्ट चिन्तन

धारणा के बाद विज्ञान का नम्बर आता है। विज्ञान के पूर्व धारणा आने से यहाँ धारणा का अर्थ 'दृढ स्मृति' ही उपयुक्त बैठता है। तत्त्व के सम्बन्ध मे हमारी 'दृढ स्मृति' होने से हम उस विषय पर विशेष चिन्तन करने को प्रवृत्त होते हैं। ज्ञान का अर्थ है—सामान्य जानकारी और विज्ञान का अर्थ है विशेष जानकारी। वैसे आज प्राकृतिक व भौतिक ज्ञान को विज्ञान कहते हैं, किन्तु यह तो विज्ञान का एकपक्षीय अर्थ है। वास्तव मे जो भी ज्ञान, चिन्तन की दिशा मे उन्मुख होता है, विचारो की गहराई मे उतरता है वह विज्ञान कहलाता है।

हम जो कुछ सुनते हैं, जो ग्रहण करते है। धारणा बनाते है उस पर देखा-देखी ही नही चलना चाहिए, किन्तु अपने विवेक से, अपनी बुद्धि से निर्णय करना चाहिए कि यह उचित है या नही ? सुनने से ज्ञान तो मिल जाता है, किन्तु विज्ञान नही मिलता। विवेक नही मिलता, विवेक तो अपने भीतर से जगाना पडता है, वह मन की अन्तर् अनुभूति से प्राप्त होता है।

इतिहास पढ़कर आपको इतिहास का ज्ञान हो सकता है, किन्तु इतिहास

का निष्कर्ष, सार, वह तो आपके अन्तर् विवेक से ही स्फुरित होगा। यदि विवेक नही है, तो इतिहास आपके जीवन को गलत मोड दे सकता है, गलत शिक्षा दे सकता है।

एक किसान परिवार ने व्यास जी से महाभारत की कथा सुनी। महाभारत का पारायण पूरा करके व्यास जी ने पूछा—"चौधरी ! महाभारत सुन लिया ? क्या समझे ?"

चौधरी ने सिर पीटकर कहा—"हाँ, महाराज ! सुन तो लिया, और कुछ समझ भी लिया, पर कुछ देर हो गई ?"

व्यास जी ने चौंक कर पूछा—"क्या वात है, कैसे देर हो गई ? आखिर क्या समझे तुम उससे ?"

"महाराज ! मैं भी जुआ बहुत खेलता था, जुए मे अपने पास का सब कुछ दाँव पर लगा दिया था, पर दाँव हाथ से निकल गया था, यदि एक दाँव और खेलता तो हारी हुई वाजी जीत जाता, पर कमवख्त यह चौधराइन अपना एक भी जेवर देने से इन्कार कर गई। मेरे पास कुछ बचा नही था, आखिर सब हारना पडा। यदि युधिष्ठिर की वात पहले सुन लेता तो मैं भी द्रोपदी की तरह इस चौधराइन को मय जेवर के दाँव पर लगा देता।"

पडितजी ने अपना माथा ठोका, और चौधराइन से पूछा—"कहो, देवी ! तुमने क्या समझा ?"

चौधराइन ने कहा—"महाराज, अब क्या समझना है, अब तो बुढिया हो गई। द्रोपदी की वात पहले सुनी होती तो मैं भी पाँच-सात पति करके सती कहला सकती थी, पर महाराज अब क्या ?"

अब चौधरी के पुत्रो की वारी आई तो वे भी उछलकर वोले—"महाराज ! कितना अच्छा होता आप पहले आ जाते, वडा भाई तो अपना हिस्सा लेकर अलग होगया, अब क्या हो ? वर्ना हम भी क्या कम थे ? दुर्योधन ने भाइयो को एक इच जमीन नही दी, चाहे जितनी लडाई की, तो हम भी लड-लड कर मर जाते पर वडे भाई को एक इच जमीन नही देते।"

पडितजी विचारे सिर पीट कर रह गये। महाभारत जैसा महान् ग्रन्थ सुना, जिसे सुनकर अनेक व्यक्तियो को ब्रह्मज्ञान हो गया, उस महाभारत से इन श्रोताओ ने क्या शिक्षाएँ ली है ?

तो यह है विवेक का अभाव। सुनकर ज्ञान हो गया, पर विवेक नही

प्राणी नग्न रूप मे ही पैदा होता है, विशेषता है उसे सजाकर सुन्दर परिधानो मे वेष्टित कर उसके नयनाभिराम सौन्दर्य के दर्शन किये जायँ, यह काम तुम नही, मैं कर सकती हूँ।"

श्रद्धा की बात का तर्क के पास कोई जवाब नही था। आप देखिए इन दोनो मे किसकी शक्ति विशेष है ? श्रद्धा से जीवन मे प्रकाश मिलता है, आत्मविश्वास जगता है, हाँ उस श्रद्धा के साथ तर्क का होना भी जरूरी है। जैनधर्म केवल श्रद्धावादी धर्म नही, वह श्रद्धा-समन्वित-तर्कवादी दर्शन है, तर्कयुक्त-श्रद्धा-प्रधान धर्म है।

श्रद्धा एव विवेकहीन तर्क जीवन मे अनिष्टकारक भी हो सकते हैं। एक कहानी है। एक नैयायिक किसी तग रास्ते से आ रहा था। सामने एक हाथी आता दिखाई दिया। उस पर बैठे महावत ने आवाज लगाई—"रास्ता छोड दो, दूर भाग जाओ ! हाथी पागल है। नही तो मार डालेगा।"

नैयायिक ने सोचा—"महावत गलत कह रहा है ! हाथी स्पृष्ट को—स्पर्श करने वाले को मारता है, या अस्पृष्ट को—बिना स्पर्श किये को भी। यदि बिना स्पर्श किये की हत्या करेगा तो फिर मेरी हत्या कही भी कर देगा ? और यदि वह स्पर्श किये की ही हत्या करेगा तो फिर मेरी ही क्यों, महावत की भी हत्या कर सकता है, तो उसकी हत्या तो नही कर रहा है, अत. महावत का तर्क गलत है।"

तर्कवादी सोच ही रहा था, महावत ने जोर से आवाज लगाई—"दूर भागजा, हाथी मार डालेगा।"

तर्कवादी ने सोचा—"महावत मुझे डरा रहा है, मूर्ख बना रहा है, उसकी बात तर्कयुक्त नही, अत नही माननी चाहिए।" इतने ही मे हाथी पास मे आ गया और तर्कशास्त्री जी को सूँड मे पकडकर मार डाला।

तो तर्क कहाँ करना चाहिए, किसलिए करना चाहिए ? उसकी सीमा और विधि का ज्ञान होना चाहिए, तभी तर्क से ज्ञान की वृद्धि होती है। हमारे यहाँ चार ब्राह्मण पुत्रो की कहानी प्रसिद्ध ही है जो ज्योतिष, वैद्यक, व्याकरण और न्याय पढकर भी बेवकूफ सिद्ध हुए और भूखो मरते रहे ! इसलिए तर्क के पृष्ठबल मे श्रद्धा होनी चाहिए और सामने सत्य ! श्रद्धा प्रेरित सत्योन्मुखी तर्क को ही यहाँ आचार्य ने 'तर्कबुद्धि' कहा है।

परीक्षा और ग्रहण

बुद्धि का सातवाँ गुण 'अपोह' बताया है जो विशिष्ट प्रकार की सूक्ष्म

तर्कबुद्धि का द्योतक है। तर्क तो हर कोई कर सकता है, किन्तु बात की गहराई को पकडकर सूक्ष्मता तक पहुँचकर जो तर्क करता है वह वस्तु के यथार्थ को ग्रहण कर सकता है। वकील तो बहुत सारे घूमते हैं, एक वकील पाँच-दस रुपया फीस लेकर ही आपका मुकदमा लड सकता है, सलाह दे सकता है और एक वकील केवल एक सलाह देने का ही दो हजार रुपया लेता है। यह फर्क किस बात का है ? तर्क और जिरह दोनो ही कर सकते हैं, किंतु फिर भी लोग दस रुपये वाले को छोडकर दो हजार देने को तैयार क्यो होते हैं ? यही कारण है कि एक बात को ऊपरी सतह से ही देखता है, केवल तर्क कर सकता है, जबकि दूसरा 'अपोह' अर्थात् उसकी हर बारीकी को पकड सकता है।

श्रोता मे यह बुद्धि का सातवाँ गुण बताया गया है कि वह वक्ता के कथन को तर्क द्वारा समझे, फिर उसकी एक-एक बात की सूक्ष्म विवेचना करे, एक-एक वाक्य की गहराई तक पहुंचे। और सूक्ष्मता को पकडकर फिर जो सार हो, निष्कर्ष हो, तत्त्व हो, उसे दृढता के साथ स्वीकार करे—यह आठवाँ गुण है—तत्त्वाभिनिवेश !

एक कहावत है—

> मित्र कीजिए जान के
> वस्तु लीजिए पहचान के
> तत्त्व लीजिए छान के।

अर्थात् किसी को मित्र बनाने से पहले उसके कुल, शील, स्वभाव आदि की जानकारी लेनी चाहिए, कोई वस्तु खरीदने से पहले उसके भाव और शुद्धता आदि की पहचान कर लेनी चाहिए और तत्त्व या सिद्धान्त को स्वीकार करने से पहले उसे बुद्धि के छलने से छान लेना चाहिए। तत्त्व को बुद्धि से छान कर लेना ही आठवाँ गुण है।

आचार्य ने बुद्धि के इन आठ भेदो मे श्रोता के मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म ग्रन्थियो को खोलकर रख दिया है और क्रमश उनका भौतिक विश्लेषण किया है। जब मन मे सर्वप्रथम सुनने की इच्छा जागेगी, तो व्यक्ति सुनने को तत्पर होगा। फिर उसे ग्रहण करेगा, स्मृति मे सुरक्षित धारणा बनायेगा, उस पर विवेकपूर्वक विचार करेगा, तर्क-वितर्क से उसके विभिन्न पहलुओ पर सोचेगा। उसकी गहराई तक पहुंचेगा, और आखिर मे इतने विचार-मन्थन के बाद जो तत्त्व रूप नवनीत प्राप्त होगा उसे दृढतापूर्वक स्वीकार करेगा—यह आठो बुद्धियो का क्रमिक रूप इस चौदहवें बोल मे बताया गया है।

१९

धर्म सुनते रहिए

गृहस्थधर्म-साधना के चौदहवें सूत्र का विवेचन हम कल कर चुके थे। आज उससे आगे का सूत्र है—**शृण्वानो धर्ममन्वहम्**—प्रतिदिन धर्म सुनता रहे।

आचार्य ने आठ प्रकार की बुद्धियाँ बतलाईं, उनमे—शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारणा आदि बुद्धियाँ हैं, और गृहस्थ उन बुद्धियो से युक्त भी है, किन्तु यदि निरन्तर धर्म सुनने का अवसर न मिले तो वे बुद्धि भी बेकार पडी तलवार की तरह जग खा जाती हैं। गाडी का चक्का चलते रहने पर ही साफ और तेजदार रहता है, वैसे ही बुद्धि भी निरन्तर कार्यशील रहने पर ही तेजस्वी और प्रखर बनी रहती है। इसलिए आचार्य ने कहा है—उस बुद्धि से युक्त होकर गृहस्थ को चाहिए कि वह प्रतिदिन नियमित रूप से धर्म का श्रवण करे।

कैसा सुनें ?

हमारे पास श्रवणेन्द्रिय है, अर्थात् दो कान हैं, और उनका काम है—सुनना। मनुष्य की आँखो पर परदा रहता है, वह जब चाहे तब खोले, जब चाहे तब बन्द कर ले, पर आप देखते हैं—कानो पर ऐसा कोई परदा नही है। वे तो निरन्तर स्वाभाविक रूप से खुले है, और कोई भी ध्वनि, शब्द उनसे टकराकर भीतर प्रवेश कर जाती है और कान के रास्ते हमारी स्मृति तक, हमारे मन तक पहुँच जाती है। कानो के विषय बने हुए शब्द सुने नही उन्हे भीतर प्रवेश न करने दें—यह मनुष्य के हाथ की बात नही है, चूँकि श्रवणेन्द्रिय का अर्थ ही है—सुनना। अच्छे या बुरे, प्रिय या अप्रिय कोई भी शब्द कानो से टकराएँगे वे श्रुति का विषय भी बनेंगे। श्रुति से स्मृति तक भी

पहुंचेंगे, और फिर वे विचार-तरगें भी पैदा करेंगे। भगवान महावीर ने साध
के जीवन की इस स्थिति का वर्णन किया है—

न सक्का न सोउं सद्दा, सोत-विसयमागया।
राग दोसा उ जे तत्थ तं भिक्खु परिवज्जए॥
—आचाराग २।३।१५।१

यह शक्य नही है कि कानो मे पडने वाले अच्छे या बुरे शब्द, प्रिय
अप्रिय वचन सुने ही न जाएँ अर्थात् वे सुने तो अवश्य ही जायेंगे, साधक श
के सुनने का त्याग नही कर सकता, किन्तु उन शब्दो पर जगने वाले राग-
रूप भावो को मन मे न आने दे, यही साधक का कर्त्तव्य है। इसका अर्थ
शब्द कानो मे सहज प्रविष्ट हो सकते हैं, किन्तु मन मे तभी प्रवेश पा स
हैं, जब हम उन्हें प्रवेश करने का रास्ता दें। आज हमे यही बात सोचने
है, हम अपने कानो से किन-किन शब्दो को भीतर आने की आज्ञा देवें, अ
किन-किन को द्वार पर ही रोक देवें।

जैसे बडे अधिकारी, मिनिस्टर आदि से मिलने के लिए द्वार पर पहुं
पर पहले चपरासी रोक देता है, वह अधिकारी की आज्ञा लेकर ही यह नि
करता है कि आपको भीतर जाने देना है या नही, यदि मालिक व अधिक
'हाँ' कहते है तो वह आपको रास्ता देता है यदि 'ना' कहते हैं तो आप
द्वार पर से वापस लौटा देता है, 'गेट आउट' कर देता है।

मन महाराजा से मिलने का कान एक मार्ग हैं, बुद्धि उस पर चपरासी
तरह पहरा देती है। कर्ण द्वार तक तो अच्छे या बुरे कोई भी शब्द आ स
हैं, किन्तु वहाँ आकर बुद्धि उनको परख लेती है, और मन की आज्ञा लेती
कि उन्हे भीतर आने दिया जाय या नही, यदि मन की आज्ञा नही होती
तो वे शब्द द्वार के भीतर नही आ सकते, बुद्धि उन्हे वापस लौटा देती है
कि "महाराज! जिस रास्ते से आये उसी रास्ते से उलटे पांव चले जाओ
हमे तुमसे मुलाकात नही करनी है।" और यदि मन की आज्ञा होती है
बुद्धि उन शब्दो को स्वागत-सत्कार करके भीतर ले जाती है, मनोभूमि
उनको स्थिर कर देती है।

तो कहना यह है कि श्रवण-गत शब्दो मे से चयन करना बुद्धि का
है कि किन शब्दो को, किस प्रकार के शब्दो को मन तक पहुंचने देना
किन प्रकार के शब्दो को द्वार पर रोक देना। जिन शब्दो को सुनने
मन तक पहुंचने से यदि मन को क्षोभ होता हो, मन मे आकुलता बढती
राग-द्वेष की वृद्धि होती हो, और अशांति उत्पन्न होती हो उन शब्दो को

सुनना और सुन पडे तो मन के भीतर प्रविष्ट नही होने देना यह बुद्धि का कार्य है। साथ ही जिन शब्दो के श्रवण से मन शात-प्रशात प्रसन्न होता हो, शाति प्राप्त होती हो, उन शब्दो को बार-बार सुनना, मन मे उनको स्थिरता प्रदान करना यह भी बुद्धि का ही कार्य है।

जिस प्रकार पौष्टिक भोजन से शरीर को बल मिलता है, स्वास्थ्य सुधरता है, उसी प्रकार आत्मा को स्वास्थ्य प्रदान करने वाले शब्दो व विचारो से मन को भी बल मिलता है, मन स्वस्थ रहता है, उसको स्वस्थ पोषण मिलता है। इसी बात को ध्यान मे रखकर आचार्य ने कहा है—अधिक से अधिक 'धर्म-शास्त्र' सुनने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि व्यक्ति धर्मशास्त्र सुनता है तो उसका हृदय सद्विचारो की सौरभ से महकता रहता है। उसे शाति एव प्रसन्नता प्राप्त होती है। दिमाग मे कैसे भी पापमय एव कलुषित विचार भरे हो, वे धीरे-धीरे नष्ट होने लगते है और सुन्दर शात-विचार स्फुरित होते है।

सुनने का महत्त्व

यह निश्चित बात है कि सुनने का मन पर बहुत गहरा असर पडता है। बच्चा सुन-सुन कर ही सभी बातें सीखता है, बोलना शुरू करता है। वह यदि अच्छे शब्द सुनता है तो अच्छे शब्द बोलेगा और बुरे शब्द सुनता है तो बुरे शब्द बोलेगा। सिर्फ बच्चे के मन पर ही नही, किन्तु प्रौढ से प्रौढ व्यक्ति के मन पर भी सुनने का गहरा असर होता है। मनोवैज्ञानिको का कहना है—यदि एक स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति को आप रोज कहते जायें—"तू कमजोर हो रहा है, बीमार-सा लगता है, क्या बात है तेरा चेहरा पीला पड रहा है," तो यदि वह पूर्ण स्वस्थ है, तब भी धीरे-धीरे अपने को रोगी महसूस करने लग जायेगा और कुछ समय मे वह सचमुच रोगी बन जायेगा। इसी प्रकार किसी साहूकार व सच्चे आदमी को यदि दस बार 'चोर' कहा जाय तो वह मन मे सोचने लगेगा कि "क्या सचमुच मे मैं चोर हूँ।" मतलब यह है कि जैसे शब्द सुने जायेंगे वैसे ही विचार बन जायेंगे। भगवान महावीर के शब्द सुनकर रोहिणेय जैसे चोर का हृदय भी बदल गया और वह मगध का दुर्दान्त दस्यु एक ही वाणी से साधु बन गया, तपस्वी हो गया। स्वामी विवेकानन्द के लिए कहा जाता है जब वे अमेरिका मे (शिकागो) गये और विश्व के धर्म नेताओ के बीच उन्हे सिर्फ एक मिनट का समय बोलने के लिए दिया गया, और विषय दिया गया 'शून्य'। किन्तु जब उन्होंने सर्वप्रथम—'बहनो और भाइयो' यह सम्बोधन किया तो सब लोग उनकी ओर देखने लग गये। अब तक सब 'जेन्टिलमेन' सम्बोधन सुन रहे थे, एकदम 'सिस्टर्स एन्ड ब्रदर्स' शब्द सुनते ही उन्हे लगा

कि इस व्यक्ति की वाणी मे कुछ विलक्षणता है कुछ नवीनता है। और फिर तो घन्टो तक लोग उनका भाषण सुनते रहे। जव वे सभा से उठ कर चले तो हजारो नर नारी उनके पीछे हो गये। जिस व्यक्ति को लोग 'अजनवी' समझते थे, उसकी वाणी का जादू हजारो लोगो को भक्त वना गया। तो मैं वता रहा था कि—सुनने का मन पर वहुत गहरा प्रभाव होता है। जैसे विचार और शव्द हम सुनते हैं वैसे ही विचार, वैसी ही कल्पनाएँ, एव योजनाएँ हमारे मस्तिष्क मे जागृत होती हैं, जन्म लेती हैं, इसलिए हमे ध्यान रहना चाहिये कि हमेशा अच्छी वात सुनें, अच्छे शब्दो एव विचारो को ही मन तक आने देवें।

एक वचन ने जगा दिया

जैन साहित्य के पृष्ठो पर धन्नाजी का नाम जगमगा रहा है। जिस धन्नाजी की वुद्धि और तप-त्याग की कथाएँ हमारे साहित्य के पन्नो पर लिखी गई हैं उनके जीवन को मोड देने वाली क्या वात थी, आपको मालूम है! जो धन्ना सेठ अपार वैभव मे पल रहे थे, आठ-आठ सुन्दरियो के स्नेह-पाश मे वँधे थे, वे वैरागी कैसे वन गये? जो धन्ना जी स्नानागार मे वैठे पत्नियो के कोमल हाथो से पीठ मलवा रहे हैं, स्नान कर रहे हैं, वे स्नान के वस्त्र ही नही वदल पाये और वैरागी वनकर पत्नी को 'वहन' कहते हुए सीढियो से नीचे उतर कर चल पडे दीक्षा लेने? यह क्या चमत्कार था, क्या जादू था? सुना है आपने धन्नाजी का जीवन चरित्र!

स्नानागार मे सोने की चौकी पर वैठे धन्नाजी स्नान कर रहे थे और उनकी आठ पत्नियाँ जो एक से एक सुन्दर, सुशील और पतिसेवा मे प्रवीण थी, उन्हें स्नान करा रही हैं, कोई हाथ-पांव रगड रही है, कोई ऊपर से शीतल जल की धार डाल रही है। उनमे सुभद्रा भी खडी है, जो धन्ना जी की सवसे प्रिय और सवसे सुन्दर पत्नी है। सहसा सुभद्रा की आँखो से दो गर्म आँसू निकलते हैं और धन्नाजी की पीठ पर गिरते हैं। धन्नाजी चौक कर ऊपर देखते हैं, यह शीतल जल के वीच गर्म जल की वूंदें कहाँ से आई, तो सुभद्रा की आँखो मे आँसू छलक रहे हैं।

धन्नाजी सुभद्रा से पूछते हैं—"सुभद्रे! इस आनन्द और क्रीडा के समय तुम्हारी आँखो मे आँसू क्यो? तुम्हे क्या दुःख है? मैं सदा तुम्हारा सम्मान रखता हूँ। इन राजा की कन्याओ मे भी अधिक सम्मान और अधिक स्नेह मैं तुम्हें देता हूँ। तुम्हें यहाँ कमी किस वात की है? किसलिए तुम्हारी आँखो मे आँसू आये?"

सुभद्रा आँसुओ को रोकने का प्रयत्न करती है और कहती है—"पतिदेव ! मुझे यहाँ किसी बात की कमी नही है, यहाँ कोई दु ख नही है, आँसू तो यो ही आ गये ?"

धन्ना जी ने कहा—"जव यहाँ कोई दु ख नही है तो क्या पीहर मे कोई दु ख है ? वहाँ कोई वात की कमी है ? शालिभद्र जैसे तुम्हारे भाई हैं ? गोभद्र सेठ जैसे तुम्हारा पिता ! फिर क्या वात है ?"

शालिभद्र का नाम सुनते ही सुभद्रा की आँखो से आँसुओ की झडी वरस पडी। वह ज्यो-ज्यो आँसू रोकने की चेष्टा करती है त्यो-त्यो आँसू वेग के साथ उमडते गये, जैसे कोई सोया दुःख जाग पडा हो।

बहन को भाई की याद

स्त्री को पति का तो स्नेह होता ही है, किन्तु पीहर मे भाई का स्नेह भी कम नही होता। भाई को कुछ हो गया हो, तो वहन को फिर वाकी नही रहता। जिस वहन के भाई न हो, उसे हमेशा दु ख सालता रहता है। अपने मारवाड मे एक वात चलती है। एक 'जायल' नाम का गाँव है। अभी वहाँ महेश्वरियो की अच्छी वस्ती है। वहाँ के जाट भी प्रसिद्ध हैं। दरवार मानसिंह जी के समय की घटना है कि गाँव मे एक चौधरी था। वही वहाँ की सव उगाई करता और समय पर दरवार के खजाने मे सव रकम जमा करा आता। एक वार वह अपने गाँव की रकम लेकर अन्य साथियो के साथ जा रहा था तो आखातीज का दिन आ गया। किसानो मे शादी-विवाह के लिए आखातीज अनपूछा मुहूरत है। तो उस दिन वह जिस गाँव मे पहुँचा वहाँ एक किसान के घर शादी थी। एक औरत वाहर मे दरवाजे पर खडी जोर-जोर से रो रही थी। चौधरी अपने साथियो के साथ उधर से गुजरा और औरत को रोते देखा तो उसके पाँव रुक गये। उसने स्नेहपूर्वक पूछा—"बाई, तेरे घर मे तो विवाह की चहल-पहल दीख रही है और तू दरवाजे पर खडी रो रही है ?"

औरत ने चौधरी को देखा तो उसके आँसू वेग के साथ वहने लगे। कहा—"मेरी लडकी की शादी है, और तो सव वातें हैं, किन्तु मेरे पीहर मे कोई भाई नही है, और जव कोई भाई नही है तो मैं किसको वधाऊँ ? और कौन मेरे यहाँ मायरा देने आये ? वस, आज इसी वात का दु ख उमड रहा है कि मेरे भाई नहीं है।"

जायल के चौधरी ने कहा—"वहन ! ऐसी क्या वात है, तेरे कोई भाई नही है तो चल, हम तेरे भाई वन जाते हैं। हमे वीरा मान और वधा ! हम

मायरा भरके जायेंगे।" तो उसने भाई का तिलक किया और उन्होंने जो रकम सरकारी खजाने में जमा देने जा रहे थे वह मायरे मे भरदी। अब दुवारा रकम इकट्ठी करके जब वे दरबार मे पहुँचे तो दरबार मानसिंह जी ने कहा—"चौधरी! इस बार समय पर रकम क्यो नही आई?" चौधरी ने उस वहन की घटना सुनाई तो दरबार का हृदय भी वहन के प्रति स्नेहार्द्र हो गया और सोचा—एक जाट के मन में भी वहन के प्रति इतनी भावना है तो फिर मुझे भी यह रकम नही लेनी है। दरबार ने कहा—"एक रोती हुई वहन के आँसू पोछकर तुमने जो उदारता दिखाई है हम उसका सम्मान करते हैं, और उस रकम को ही हम सरकारी रकम मान लेते हैं, तुम अपनी रकम वापस ले जाओ।"

मैं बता रहा था कि वहन को भाई का कितना स्नेह होता है और पीहर का कितना आधार होता है। सुभद्रा के मन मे इसी बात की कसक उठ रही थी कि उसका भाई शालिभद्र साधु बन रहा है, तो अब वह किसको 'वीरा' कहेगी, किसके राखी बाँधेगी, किसको भाई दूज का टीका करेगी? धन्ना जी ने जब शालिभद्र का नाम लिया तो उसका सोया हुआ दुःख जाग पडा और जोर-जोर से आँसू बहाने लग गई।

धन्नाजी ने कहा—आखिर बात क्या है? पीहर मे भी तेरे सब सुख हैं, और यहाँ पर भी! तो फिर आंखो में आंसू क्यो?

सुभद्रा ने कहा—"महाराज! पीहर मे क्या होने वाला है आपको पता नही है! मेरा भाई शालिभद्र वैरागी बन गया है, एक-एक पत्नी का रोज परित्याग कर रहा है, वत्तीसो स्त्रियो को छोडकर वह साधु बनेगा! मेरा पीहर तो सूना हो जायेगा? भाई के बिना पीहर किस काम का?"

धन्नाजी ने यह बात सुनी तो आश्चर्य हुआ। बोले—अच्छा, शालिभद्र साधु बनेगा? किन्तु यह बच्चो का सा नाटक क्यों कर रहा है, एक-एक पत्नी को रोज छोडना यह तो कायरो का काम है—

धन्ना जो कहे छै भोली बावली,
 कायर दीसै छै थारो वीर!
संजम लेणो तो दिल मे धारियो,
 तो किम करणो फेर ढील।
साभल हो, सुरता! सूरां नै लागै हो—
 वचन ज्यूं ताजणो।

"जब ससार का त्याग करना ही है, तो फिर उसे एकदम छोड देना चाहिये। एक-एक करके त्यागना वीरो का काम नही है, लगता है तुम्हारा भाई कायर है।"

भाई के लिए 'कायर' शब्द सुना तो सुभद्रा का हृदय विंध गया। वह सहन नहीं कर सकी। उसे आवेश आ गया कि—मेरा तो पीहर उजड रहा है, भाई ससार त्याग रहा है और ये उसे कायर कह रहे हैं। सुभद्रा ने तैश मे आकर कहा—

सुभद्रा नारी कहै छै कंथ नै
मुख सू बणावो फोगट वात।
यह सुख छोड़ी ने वाजो सूरमा
प्रीतम! जद जांणा थांकी वात।
सांभल हो सुरता ·

पतिदेव! मुंह से वात वनाने मे कुछ नही लगता। आपको मालूम है उसका ऐश्वर्य! और सुखी जीवन! वत्तीस अप्सरा-सी सुन्दरियाँ हैं। उन्हें एक-एक करके छोड रहा है, और आप उसे कायर कहते हैं? आपको क्या अधिकार है उसे कायर कहने का? आप तो आठ स्त्रियो मे से एक भी नही छोड सके? और जो छोड रहा है उसे कायर कहते हैं? पहले स्वय त्याग करके दूसरे को कुछ कहते तो समझते कि हाँ आप स्वय शूरवीर हैं।"

सुभद्रा की वात मे आवेश जरूर था, पर सचाई भी थी, और धन्नाजी के पास इसका कोई उत्तर नही था। धन्ना जी का पौरुष जाग पडा। सोचा—"सचमुच! मुझे उसे कायर कहने का कोई हक नही है। मैंने तो कुछ भी त्याग नही किया। मैं स्वय शूरवीर वनकर ही उसका उत्तर दे सकता हूँ।" और उन्होंने तत्काल सुभद्रा की ओर देखकर कहा—

तत्क्षण धन्ना जी उठने बोलिया,
कामण, रहिजो तुम दूर।
संजम लेवालां इण अवसरै
जद म्हें वाजाला जग मे सूर
सांभल हो सुरता · · ·

वस, सुभद्रा के एक वचन ने धन्ना जी के वीरत्व को जगा दिया, वे स्नानागार से उठे। सव स्त्रियो को सावधान कर दिया—"आज मे तुम सव मेरी वहनें हो, अव मुझे मत छूना! अब तो संयम पथ पर कदम वढाकर ही अपनी

वीरता का परिचय दूँगा।" धन्ना जी का निर्णय सुनते ही सुभद्रा का आवेश ठंडा पड गया। उसने पति के चरण पकडे, क्षमा माँगी। पर धन्ना जी के मन मे तो वैराग्य की लहर उमड पडी थी, वीरता का नाद गूंज रहा था। उन्होने कहा—"तुम मेरी गुरु हो। तुमने मुझे जगा दिया। अब मैं जागकर फिर नही सो सकता। वीरता का वाना पहनकर कायर नही कहला सकता।" और आप जानते है। धन्ना जी ने जाकर शालिभद्र को पुकारा और दोनो साले-बहनोई भगवान महावीर के पास जाकर दीक्षित हुए, घोर तपश्चर्याएँ की।

मैं बता यह रहा था कि सच्चा सुनना यह है जो एक वचन सुनकर ही जग गये और अपनी मजिल की ओर बढ गये।

मिट्टी बनकर सुनो

आचार्यों ने जो प्रतिदिन धर्म सुनने की बात कही है—उसका यही अर्थ है कि सुनकर उसे जीवन मे उतारा जाये। मन मे ग्रहण किया जाये। चिकने घडे के साथी बनकर यदि सुनते रहे तो जिन्दगी भर सुनने पर भी क्या लाभ होगा? आजकल बरसात मे आप लोग बरसातियाँ पहनते हैं, उन पर पानी गिरता है और बहता रहता है। भीतर के कपडे नही भीगते। मैं देखता हूँ श्रोता लोग अधिकतर जीवन मे बरसाती का ही अनुकरण कर रहे हैं। धर्म सुनते हैं, शास्त्र सुनते हैं, पर वह ऊपर-ऊपर ही रहता है। भीतर हृदय मे उसका प्रवेश नही हो पाता। इस प्रकार के सुनने से आखिर क्या लाभ होने वाला है? कहा जाता है—

सुणता सुणता फूट्या कान
तोहि न आया ब्रह्म ज्ञान।

सुनना हो तो मिट्टी की तरह बनकर सुनिए। मिट्टी मे पानी गिरता है, वह उसे पचा जाती है, अपने भीतर समा लेती है, कोई वस्तु मिट्टी पर गिरती है, बीज डलता है उन सबको वह अपने भीतर जज्ब कर लेती है और धीरे-धीरे बीज से अकुर पैदा करती है, खाद से जीवनी-शक्ति ग्रहण करती है। पानी सीचन प्राप्त कर विकास करती हुई छोटे से अकुर को विशाल वृक्ष का रूप दे देती है। श्रोता हो तो ऐसा ही हो, जो तत्त्व को सुन कर उसे हृदय मे समाहित करले, और फिर उस पर चिंतन-मनन करके जीवन मे उसका असीम-असीम विकास करता जाये। इसी दृष्टि से प्रतिदिन धर्म सुनने का निर्देश दिया गया है, कि आज नही तो कल, कल नही तो परसो, एक दिन हृदय के कपाट खुलेंगे, धर्म का तत्त्व भीतर प्रवेश करेगा और फिर उसका विस्तार होते-होते वह मगलमय रूप मे प्रकट हो सकेगा।

२०

स्वस्थ जीवन के उपाय

दशवैकालिक सूत्र मे बताया है—मोक्खसाहण हेउस्स साहू देहस्स धारणा—मोक्ष की साधना के लिए साधु शरीर धारण करता है। शरीर ही धर्म का मुख्य साधन है—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्—इसलिए शरीर की सँभाल करना आवश्यक है।

जिस प्रकार साधु को साधना के लिए शरीर आवश्यक है उसी प्रकार गृहस्थ को भी धर्म-साधना के लिए शरीर मुख्यतम साधन है। शरीर को स्वस्थ रखना प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक है। इस बात पर विचार करते हुए आचार्यों ने गृहस्थधर्म के सोलहवें और सत्रहवें बोल मे दो सूत्र कहे हैं—"अजीर्णे भोजन-त्यागी, काले भोक्ता च साम्यतः"—अजीर्ण मे भोजन का त्याग करे और भूख लगने पर, समय पर, प्रकृति के अनुकूल भोजन करे।

भोजन का उद्देश्य

इस बात मे तो कोई दो मत नही हैं कि जीवनयात्रा को सुखपूर्वक सम्पन्न करने के लिए भोजन आवश्यक ही नही, एक परम आवश्यक वस्तु है।[1] महर्षि सुश्रुत का कथन है—

अन्नमूलं बलं पुंसां बलमूलं हि जीवनम्।

भोजन (अन्न) ही बल का मूल कारण है, और बल ही जीवनधारण का मुख्य आधार है। शास्त्रो मे भी स्थान-स्थान पर इस बात की चर्चा

---

१ वर्णप्रसादः स्वौस्वर्यं जीवितं प्रतिभासुखम्।
तुष्टि पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्।
—महर्षि चरक

आती है कि—जवणट्ठाए भुंजिज्जा—जीवन-यात्रा को सपन्न करने के लिए भोजन करें। और न रसट्ठयाए भुंजिज्जा—रस के आस्वाद, स्वाद की लोलुपता के लिए भोजन नही करें।

भोजन किस लिए किया जाय, इस प्रश्न पर विचार करने पर भोजन के तीन उद्देश्य हमारे सामने आते हैं—

१ कुछ लोग स्वाद के लिए भोजन करते हैं।
२ कुछ लोग स्वास्थ्य के लिए भोजन करते हैं।
३ कुछ लोग साधना के लिए भोजन करते हैं।

स्वाद के लिए भोजन करना भोजन का निकृष्टतम उद्देश्य है। जो व्यक्ति स्वाद के लिए खाते हैं, उनके सामने रात-दिन 'स्वाद' ही एक लक्ष्य रहता है। वे चटपटी, मसालेदार चीजें खाते हैं, स्वास्थ्य पर उसका कितना बुरा परिणाम होता है यह नही सोचते, बस जीभ का स्वाद मिलना चाहिए। पेट में जगह हो या न हो, खाने से पेट दुखे, बीमारी बढ़े या और कुछ भी हो इसकी भी परवाह नही, बस कोई स्वादिष्ट चीज सामने आ गई तो वे उस पर मर मिटते हैं, स्वाद के लिए स्वास्थ्य को भी दांव पर लगा देते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के सातवें अध्ययन मे एक राजा की कहानी आती है कि एक राजा को भयकर आम-रोग हो गया। बड़े-बड़े वैद्यो की चिकित्सा कराने पर भी उसका रोग ठीक नही हुआ। आखिर एक बड़े अनुभवी वैद्य ने राजा के रोग का निदान किया, उसकी चिकित्सा करके ठीक किया। राजा बिल्कुल स्वस्थ हो गया तो वैद्यराज ने भविष्य का पथ्य बताते हुए कहा—"अब कभी भी आम मत खाना। आम खाने से ही यह बीमारी हुई है, एक बार तो दवा से ठीक हो गई है, किन्तु भविष्य मे यदि आम खा लिया तो यह बीमारी पुन उग्र रूप मे भडक उठेगी और फिर असाध्य हो जायेगी।" वैद्यराज ने मत्री आदि सभी को सावधान कर दिया।

राजा के स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए मत्री ने राज्य भर मे जहाँ-जहाँ आम के वृक्ष और बगीचे थे, उन सबको कटवा दिया और घोषणा करदी कि राज्य मे कही भी कोई आम का वृक्ष नही लगा सकेगा।

एक बार राजा अपने मत्री आदि के साथ शिकार खेलने को निकला। शिकार के पीछे दौडते-दौडते राजा और मंत्री उस राज्य की सीमा के पार तक पहुँच गये। तेज धूप मे दौडने से राजा बहुत थक गया, आखिर एक आम के सघन वृक्ष को देखकर राजा ने अपना घोडा रोका। मत्री ने कहा—

"महाराज ! कुछ आगे चलिए ! यह आम का वृक्ष है, इसकी छाया भी आपके लिए वर्जनीय है।"

राजा हंसकर बोला—"आम खाना मना है, छाया मे बैठना तो मना नहीं है।" आखिर वृक्ष की शीतल छाया मे राजा ने विश्राम लिया। सयोगवश एक पका हुआ आम राजा के सामने आ गिरा। उसकी भीनी-भीनी सोधी गध से राजा के मुँह मे पानी छूट आया। राजा ने आम हाथ मे उठाया। मत्री ने विनम्रतापूर्वक रोका—"महाराज ! आप मृत्यु को निमत्रण दे रहे हैं। आपके स्वास्थ्य के लिए यह आम जहर है, भयकर विष है, इसे फेंक दीजिए !" मत्री के बहुत समझाने पर भी राजा अपनी जीभ पर काबू नही रख सका, उसने कहा—"कोई एक दो फांक खाने से ही रोग थोडा ही होता है ? यह तो सब वैद्यो के ढकोसले हैं। आम जैसा मधुर फल तो अमृत होता है, इसके खाने से कोई रोग नही होता।" मत्री ने बहुत मना किया, किन्तु राजा अपने को नही रोक सका। वह स्वाद के वश होकर आम खा ही गया। बस आम खाया, कि थोडी देर में पेट मे भयकर दर्द उठा। मत्री कैसे भी करके राजा को राजधानी मे लाया। उन वैद्यराज को बुलाया। वैद्यराज ने देखकर कहा—"अब यह रोग असाध्य हो गया है। इसकी कोई चिकित्सा नहीं हो सकती।" राजा भयकर पीडा से तडप रहा था, उसके प्राण निकल रहे थे, उसने कहा—"वैद्यराज ! अब कैसे ही करके मुझे इस पीडा से मुक्त करिए।" किंतु वैद्यराज के पास अब उस रोग की कोई दवा नहीं थी। आखिर तडपते हुए राजा के प्राण पखेरू उड गये।

उक्त घटना का निर्देश करते हुए शास्त्र मे कहा है—

अपत्थं अंबगं भोच्चा
राया रज्जं तु हारए।

—उत्तराध्ययन ७।११

अपथ्य आम को खाकर राजा ने राज्य समेत अपने प्यारे प्राण भी गँवा डाले।

यह है रसलोलुपता ! रस के लोलुप होकर जो व्यक्ति भोजन करते हैं, वे स्वाद के सिवाय और कुछ नही देख पाते। इसके लिए वे प्राणो से भी खेल जाते है, और आखिर मे तरह-तरह की बीमारियो शिकार होते हैं, भयकर पीडाएँ भोगते है और तडप-तडप पर प्राण गँवाते हैं। भगवान महावीर ने कहा है—

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।

—उत्तराध्ययन ३२।६२

—जो मनुष्य रस मे तीव्र आसक्त होकर असयमपूर्वक उसका सेवन करता है, वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त हो जाता है।

तो भोजन का यह पहला निकृष्टतम उद्देश्य है—स्वाद के लिए खाना।

भोजन का दूसरा उद्देश्य है—स्वास्थ्य के लिए खाना। पहले उद्देश्य मे 'स्वाद' प्रधान होता है, दूसरे उद्देश्य मे 'स्वास्थ्य' प्रधान है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भोजन करने वाला पहले भोजन की आवश्यकता अनुभव करता है, पेट मे भूख है या नही? इस बात का विचार करके फिर भोजन सामग्री का चयन करता है। 'कब खाना' और 'कैसा खाना'—इन दोनो बातो पर विचार करके ही वह भोजन का प्रयोग करता है। चूंकि उसके सामने 'खाना' प्रधान नही, शरीर की रक्षा, स्वास्थ्य प्रधान है, इसलिए वह स्वास्थ्य के अनुकूल शरीर को बल एव पुष्टि देने वाला, साथ ही नीरोग रखने वाला भोजन करता है। बहुत-सी बीमारियाँ कभी-कभी बिना औषधि के सिर्फ पथ्य भोजन से ही ठीक हो जाती हैं—

विनापि भेषजैर्व्याधि: पथ्यादेव निवर्तते।
न तु पथ्यविहीनाना भेषजाना शतैरपि॥

इसलिए हमे भोजन के विषय मे काफी विवेक से काम लेना चाहिए। इसी विवेक को आचार्य ने प्रस्तुत दो सूत्र मे लिया है—अजीर्ण मे भोजन का त्याग और समय पर उचित पथ्य आहार।

कब खाना?

भोजन के सम्बन्ध मे विचार करने पर सबसे पहला प्रश्न आता है—भोजन कब करना चाहिए? कुछ लोग कहते हैं—भोजन निश्चित समय पर ही करना चाहिए। यदि आप प्रात १० या ११ बजे भोजन करते हैं, और सायकाल ५-६ बजे, तो समय होने पर आपको अवश्य भोजन कर लेना चाहिए। कुछ तो इस नियम के इतने पक्के होते हैं कि पेट मे भूख हो या न हो, यदि भोजन का समय हो गया है तो बस भोजन करने बैठ ही जाते हैं। और कुछ लोग इतने अनियमित होते हैं कि उनके भोजन का कोई निश्चित समय ही नही होता। दिन भर गाय-बकरी की तरह चरते हैं, कभी समय-बे-समय भी हो जाता है, कभी समय से पहले ही खा लेते हैं। स्वास्थ्य के लिए

इन दोनो ही बातो का आग्रह नही होना चाहिए। 'भूख न हो, किंतु समय हो गया तो भोजन कर ही लेना, यह भी स्वास्थ्य के लिए खतरनाक है और दिन भर अनियमित रूप से खाना भी अहितकर है।' प्राचीन जैन आचार्य सोमदेव सूरि का एक सूत्र है—**बुभुक्षाकालो भोजनकालः ?** भोजन का उचित समय कौनसा है ? उत्तर है—जब पेट मे भूख हो। भूख का समय ही भोजन का समय है।

एक कहानी प्रसिद्ध है कि एक सेठ ने अंतिम समय मे अपने पुत्र को कई शिक्षाएँ दी, उसमे एक शिक्षा दी कि—"मीठा भोजन करना।"

पिता की और कोई शिक्षा पुत्र ने याद रखी या नही, पर यह शिक्षा तो जरूर याद रखी और नित की मिठाई खाना शुरू कर दिया। मित्रो ने उसे टोका कि रोज मिठाई खाने से स्वास्थ्य बिगड जायेगा, तो कहा—नही ! मेरे बाप ने मरते समय कहा है—'सदा मीठा भोजन करना ! इसलिए कुछ भी हो, बाप की सीख तो माननी ही पडेगा।' परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनो मे उसका स्वास्थ्य बिगड गया, पाचनशक्ति कमजोर पड गई, खाये हुए का रस, बनना बंद हो गया, रक्त की कमी हो गई और शरीर पीला पडने लग गया।

एक दिन सेठ का एक मित्र वहाँ मिलने आया। पुत्र का दुर्बल और अस्वस्थ शरीर देखा तो बड़ी चिन्ता के साथ पूछा—'यह क्या हो गया ? शरीर इतना कमजोर कैसे हो रहा है ?'

पुत्र ने कहा—"बीमारी तो कुछ नही, पिताजी ने मरते समय कहा था—'नित्य मीठा भोजन करना' तो मीठा खाते-खाते मेरा शरीर गल गया है।"

सेठ के मित्र ने कहा—"मूर्ख ! *यह तो तुमने गलत अर्थ निकाला। मीठा भोजन का अर्थ*—मिठाई से नहीं, किन्तु मीठा भोजन वह है, जो भूख लगने पर किया जाय ? कहावत है 'भूख मीठी कि लापसी ?' भूख हो तो सूखी-लूखी रोटी भी मीठी लगती है। भूख न हो तो मिष्टान्न और खीर-खांड भी जहर है।"

तो बन्धुओ ! भोजन मीठा कब लगता है ? जब पहले खाया हुआ भोजन का पाचन हो जाता है, उसका रस बन जाता है और खाने की इच्छा जगती है, तब भूख के समय जो भी चीज खाई जाय, वह अच्छी भी लगती है, उसके खाने में आनन्द भी आता है और वह शरीर मे जाकर रस, शक्ति, बल-वीर्य, आदि की वृद्धि भी करती है।

अजीर्णे भोजनं विषं

एक पुरानी उक्ति है कि अत्रि नाम के एक विद्वान ऋषि ने आयुर्वेद का एक विशाल ग्रन्थ लिखा, जिसके एक लाख श्लोक थे। वे एक राजा के पास ले गये और उसे सुनने के लिए कहा। राजा ने कहा—"महाराज! इतना बड़ा ग्रन्थ सुनने को कहाँ अवकाश है? आप कृपाकर इसको सक्षिप्त करके सुनाइए।" अत्रि ऋषि ने उसे एक हजार श्लोक मे समेटा, राजा ने फिर भी छोटा करने को कहा। फिर सौ श्लोक मे तैयार किया। राजा ने कहा—"महाराज! इसका सार तत्त्व क्या है, बस यही सुना दीजिए!" तब ऋषि ने अपने एक लाख श्लोकों के ग्रन्थ का साराश एक पद्य मे बताया—

"जीर्णे भोजनमात्रेयः"

भोजन हजम होने पर ही दूसरा भोजन करना—बस सपूर्ण आयुर्वेद का यही मूल सूत्र है।

बगला भाषा मे एक सूक्ति प्रसिद्ध है कि—

खाइवे कि ना खाइवे? ना खाइवे!
जाइवे कि ना जाइवे? जाइवे!

जब मन में यह प्रश्न पैदा हो, कि खायें कि नहीं खायें, तो नही खाना ही अच्छा है। और शौच के लिए शका हो कि जायें कि न जायें तो चले जाना चाहिए। इसका मतलब है, जब पहला भोजन हजम नहीं हुआ हो, पेट भारी हो, भूख न लगी हो और सामने भोजन का प्रसग आने पर मन मे विचार आता है खायें या नही? तो समझदार आदमी का यही फर्ज है कि वह खाने से इन्कार करदे! पेट को आराम लेने दे, पूर्व भोजन को हजम होने दे। यदि पहला भोजन हजम नही हुआ हो, उस पर और भोजन किया जा रहा हो तो वह निश्चित ही अजीर्ण होगा, पेट मे गडबड पैदा करेगा और नयी बीमारियो को निमन्त्रण देगा। जितने भी रोग हैं सब की जड है—अजीर्ण! आयुर्वेद का सूत्र है—अजीर्णसभवारोगः। रोगो की इस जड को समाप्त करने और स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए आचार्य ने यह सूत्र दिया है कि—"अजीर्णे भोजन-त्यागी"—जब तक पहला भोजन हजम नहीं हुआ हो, अथवा अजीर्ण हो गया हो तो सद्गृहस्थ उस समय भोजन नहीं करे।

स्वास्थ्य चिकित्सको का कहना है—अजीर्णे अमृतं वारि अजीर्णे भोजनं विषम्—अजीर्ण होने पर, बदहजमी होने पर सिर्फ पानी पीना अमृत के समान है और भोजन करना विष के तुल्य है।

कैसा खाना ?

अजीर्ण मे भोजन नही करना—यह मान लेने के वाद दूसरा प्रश्न भी अपने आप हल हो जाता है कि जीर्ण होने—अर्थात् पचन होने पर ही भोजन करना चाहिए, और वही भोजन का उचित समय है, जब भोजन पचन होने पर भूख लगे।

अब अगला प्रश्न सामने आता है कि भूख लगने पर कैसा भोजन करें ? आप लोग मिष्टान्न भोजन को श्रेष्ठ मानते होगे ? खीर-पूए, सीरा खाना अच्छा समझते होगे ? लेकिन स्वास्थ्य-विशारदो का मत इससे भिन्न है। वे सन्तुलित भोजन की बात कहते हैं। भोजन मे सभी प्रकार के रस और सभी प्रकार के स्वाद रहने से वह भोजन रुचिकर भी होता है, रसकर भी और बल-वीर्यप्रद भी। कुछ लोग एकान्त रूप से किन्ही चीजो का निषेध भी करते हैं। चीनी को सफेद जहर बताते है। पर स्वास्थ्य के लिए चीनी की भी जरूरत है ऐसा विद्वानों का मानना है। पिछले दिनो एक विद्वान ने लिखा था कि शरीर मे अधिक चीनी होने से हड्डियाँ गलने लगती हैं तो चीनी की कमी होने से आदमी चिडचिडा और रुक्ष स्वभाव का हो जाता है। इसलिए भोजन के चयन मे अपनी रुचि और स्वास्थ्य दोनो का ही ध्यान रखना जरूरी है। दूध और घी स्वास्थ्यप्रद है किन्तु जिसे सग्रहणी की बीमारी है, या हाजमा कमजोर है उसे उनसे उलटा नुकसान हो जाता है। इसलिए आचार्य ने कहा है—**"साम्यत."**—अर्थात् समन्वय, सन्तुलन रखकर ही भोजन करना चाहिए। जिस वस्तु से स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव न पड़े और जो बुद्धि को निर्मल एव स्वस्थ रख सके वैसा भोजन करना बुद्धिमानी है।

आजकल कुछ लोग स्वास्थ्य के नाम पर अण्डे और मास को प्रोत्साहन दे रहे है। उनका कहना है—दूध, दही और अन्न से शरीर को पोषण नही मिलता, इसलिए शरीर की कमी पूरी करने के लिए अण्डे और मास खाना चाहिए। मैं समझता हूँ यह तर्क आज के युवक मानस को काफी उद्भ्रान्त बना रहा है और वे अपने सात्विक भोजन की जगह इन तामसिक वस्तुओ का प्रयोग कर रहे हैं, कुछ खुलेआम और कुछ लुके-छिपे ? कुछ करने की सोच रहे हैं।

प्रारम्भ मे मैंने बताया कि भोजन के तीन उद्देश्य हैं—स्वाद, स्वास्थ्य और साधना। स्वाद के लिए भोजन करना निकृष्ट व अनैतिक है। केवल स्वास्थ्य के लिए भोजन करना, शरीर को मोटा-ताजा और शक्तिशाली बनाने मात्र के लिए भोजन करना मध्यम है। हमारे भोजन का उद्देश्य है स्वास्थ्य और

सावना ! स्वास्थ्य भी अच्छा रहे ताकि हम अपने पवित्र उद्देश्यो की साधना कर सकें। केवल स्वास्थ्य के लिए ही खाना हो तो आपके खाने मे और पशु के खाने मे क्या अन्तर है ? पशु भी तो प्रत्येक वस्तु को सूँघ-सूँघ कर इसलिए खाता है कि उसका पेट भर जाय और कोई अनिष्ट खाद्य न खाया जाये। आदमी के भोजन मे स्वास्थ्य भी कोई अन्तिम उद्देश्य नही है। अन्तिम उद्देश्य है सावना, और साधना तभी हो सकती है जब स्वास्थ्य ठीक हो, विचार और बुद्धि अच्छी हो, मन पवित्र हो। यदि अन्न, भोजन अपवित्र होगा, तामसिक होगा, तो बुद्धि एव विचार पवित्र एव सात्विक कैसे रहेंगे ? यदि बुद्धि एवं विचार पवित्र नही है तो फिर कैसे हम अपने महान् उद्देश्यो की सावना कर सकेंगे ?

कहावत है—"जैसा खाये अन्न, वैसा होवे मन ! जैसा पीवे पानी, वैसी बोले वाणी।" इस कहावत मे अनुभूत सत्य है। अन्न और भोजन का मन पर असर होता है, और निश्चित होता है।[1] यह केवल एक पुराना विश्वास ही नही, किन्तु परीक्षित वैज्ञानिक सत्य है। आज विश्व के बड़े-बड़े वैज्ञानिक एव विचारक शाकाहार एव सात्विक आहार का समर्थन कर रहे हैं, वह केवल अहिंसा की दृष्टि से ही नही किन्तु उसमे मानसिक वृत्तियो की पवित्रता की भी दृष्टि है। शाकाहारी और मासाहारी के मानसिक धरातल मे काफी अतर रहता है। सात्विक आहार करने वालो मे केन्सर, ब्लडप्रेसर एव स्नायविक तनाव उतने नही होते, जितने तामसिक एव मासाहार करने वालो मे होते हैं। इसलिए यह प्रश्न आज का जटिल प्रश्न है कि हमारे युवक जो शारीरिक पोषण की भ्रान्ति मे पडकर तामसिक आहार की ओर प्रेरित हो रहे हैं, उन्हे सात्विक आहार का महत्त्व समझाया जाय और उनकी गति को मोडा जाय। वे शरीर-पोपण के नाम पर जिन तामसिक भावनाओ एवं वृत्तियो के शिकार हो रहे हैं, उन्हें रोका जाय और सात्विक एव सन्तुलित भोजन का महत्त्व समझाया जाय।

भोजन मनुष्य को नीरोग भी वनाता है और रोगी भी। यदि भोजन मे सयम व विवेक रखा जाय तो वह भोजन मनुष्य को बलवान एवं स्वस्थ बनाता है। यदि भोजन मे असयम एव अविवेक वरता जायेगा तो वही भोजन मनुष्य को रोगी एव बुद्धिहीन बना देगा।[2]

---

१ छादोग्य उपनिषद् (६।५।४) मे कहा है—अन्नमय हि सोम्य ! मन आपोमय प्राणस्तेजोमयी वागिति—मन अन्न मय, प्राण जलमय एव वाणी तेजोमयी है।

२ स्थानागसूत्र (६) मे रोग होने के नौ कारण बताये हैं, उनमे आठवां कारण है—भोयण पडिकूलयाए—भोजन की प्रतिकूलता।

आयुर्वेद के महान आचार्य वाग्भट्ट के जीवन का प्रसग है। कहते हैं कि वाग्भट्ट की विद्वत्ता और चिकित्सा ज्ञान की परीक्षा लेने अश्विनीकुमार एक पक्षी का रूप बनाकर उसके घर के वृक्ष की टहनी पर आकर बैठ गया और पुकारने लगा—कोऽरुक् ? कोऽरुक् ? कोऽरुक् ? ससार मे नीरोग कौन है ?

वाग्भट्ट ने पक्षी की पुकार का उत्तर दिया—

हितभुक् मितभुक् शाकभुक् चैव।

जो हितकर, परिमित एव शाकाहार करता है, वही ससार मे नीरोग एव बलवान रह सकता है।

कहते हैं यह सक्षिप्त एव सारगर्भित उत्तर पाकर अश्विनीकुमार बहुत प्रसन्न हुआ और अपना दिव्य रूप प्रकट कर चला गया। शरीर के लिए हितकर अर्थात् पथ्य भोजन जितना आवश्यक है, उतना ही परिमित—अर्थात् भूख से कम खाना भी लाभदायक है। जैनसूत्रो मे साधक के लिए 'अल्पाहारी' एक खास विशेषण दिया गया है। **'अप्पपिण्डासि', 'अप्पाहारस्स', 'मियंभुंजे'** आदि वाक्य और बार-बार इनका प्रयोग इस बात की महत्ता सूचित करते हैं कि भूख से कम खाना स्वास्थ्य और साधना के लिए आवश्यक है। आयुर्वेद की प्रसिद्ध सूक्ति है—**स्वल्पाहारी स जीवति**—अल्प आहार करने वाला दीर्घजीवी होता है। यही बात महर्षि चरक ने सूत्रस्थान के पाँचवें अध्याय मे लिखी है—**मात्राशी स्यात्**—मिताहारी होना चाहिए। इसी बात को महान् श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु ने यो कहा है—

हियाहारा मियाहारा अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जा तिगिच्छंति अप्पाणं ते तिगिच्छगा।

—ओघनिर्युक्ति० ५७८

—जो मनुष्य हिताहारी हैं, मिताहारी एव अल्पाहारी हैं उन्हे किसी वैद्य से चिकित्सा कराने की आवश्यकता नही, वे स्वय ही अपने वैद्य हैं, स्वय ही स्वयं के चिकित्सक हैं।

तो हिताहार, मिताहार अर्थात् पथ्य और परिमित भोजन स्वास्थ्य का मूल मन्त्र है। सद्गृहस्थ जिसे अपने जीवन मे धर्म, अर्थ एव काम की साधना करनी है, उसे स्वास्थ्य की बहुत बडी और सबसे पहली आवश्यकता है। इसीलिए दश प्रकार के सुखो मे 'आरोग्य' पहला सुख माना गया है—(स्थानाग १०) और सात सुखो मे भी 'पहला सुख नीरोगी काया' कहा है। आरोग्य को ही धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष की साधना का मूल माना गया है—

"धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्"

—(चरक संहिता १५)

बुद्ध ने तो कहा है—आरोग्य ही सबसे बडी सम्पत्ति है, सबसे बडा लाभ है—आरोग्गा परमा लाभा—(धम्मपद) इसलिए यदि साधक स्वस्थ (नीरोग) है, तो वह वास्तव मे ही स्वस्थ (आत्मा मे स्थित) रह सकता है।

महर्षि धन्वन्तरि ने स्वास्थ्य की परिभाषा करते हुए लिखा है—

समदोष. समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

—जिसके देह में वात-पित्त-कफ तीनो दोष, अग्नि, रस-रक्त आदि सातो धातु और सातो धातुओ की मल क्रिया ये सब सम हैं, तथा जिसकी आत्मा, मन एव इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, वह स्वस्थ कहलाता है।

इसलिए आचार्यों ने सद्गृहस्थ के लिए इन दो सूत्रो का विधान किया है—कि वह स्वास्थ्य-रक्षा के लिए विशेष सावधानी रखे, अजीर्ण मे भोजन नही करे, तथा समय पर सन्तुलित एवं सात्विक भोजन करे।

२१

धर्म-नियंत्रित अर्थ एवं काम

वन्धुओ ! मार्गानुसारी के दो वोलो पर कल हमने विचार किया था, आज उनके आगे का वोल है—

अन्योऽन्याप्रतिवन्धेन त्रिवर्गमपि साधयेत्

—अविरोधिभाव से त्रिवर्ग की साधना करना।

भारतीय सस्कृति मे गृहस्थ-जीवन को सुन्दर एव सुव्यवस्थित रूप देने के लिए चार पुरुषार्थों का वर्णन किया गया है। धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष—ये चार पुरुपार्थ माने गये हैं। धर्म, अर्थ एव काम—इन तीनो को त्रिवर्ग कहा गया है। त्रिवर्ग मे मोक्ष को धर्म के साथ ही मिला दिया गया है, चूंकि धर्म की अन्तिम परिणति ही मोक्ष मानी गई है, इसलिए वहाँ धर्म एव मोक्ष को अलग-अलग नही किया गया है।

चार पुरुपार्थों के सम्बन्ध मे पिछले एक प्रवचन मे मैंने काफी विस्तार से विवेचन किया था। आज यहाँ सक्षेप मे ही इस विपय मे कहूँगा।

साधु भी एक साधक है, और गृहस्थ भी साधक है। साधना दोनो के जीवन मे चलती है, और दोनो के ही सामने 'मोक्ष' यह साध्य के रूप मे है। यही दोनो की मजिल है। वीच के मार्ग दोनो के दो अलग-अलग हो जाते हैं। साधु—चूंकि गृह, परिवार, समाज आदि से सम्बन्ध तोड चुका है, वह एकाकी होकर आत्म-साधना के पथ पर वढा है। वहाँ न उस पर घर की, पत्नी की, परिवार की कोई जिम्मेदारी है और न समाज के आर्थिक या औद्योगिक विकास की कोई चिन्ता है। इसलिए उसका मार्ग 'धर्म' से सीधा मोक्ष की दिशा मे वढता चला जाता है। किन्तु गृहस्थ जोकि घर मे वैठा है, परिवार वनाके वैठा

है, समाज एव राष्ट्र का दायित्व लेके चला है उसके सामने धर्म के साथ ही, अर्थ एव काम का क्षेत्र भी आता है। अर्थ के विना जीवन नही चल सकता और काम के विना ससार की, परिवार एव समाज की वृद्धि नही होती। गृहस्थ को अपने वश एव परिवार की परम्परा भी चलानी होती है, और उसके लिए अर्थ एव काम दोनो ही आवश्यक हैं। इसलिए आचार्यों ने धर्म के साथ अर्थ एव काम को भी पुरुषार्थ माना है और जीवन मे उसका महत्त्व स्वीकार किया है।

अर्थ का सदुपयोग

कुछ लोग कहते हैं धन से धर्म का क्या सम्बन्ध? शास्त्र के पाठ का उद्धरण भी दिया जाता है—धणेण किं धम्म धुराहिगारे—धन से धर्म की धुरा नही चल सकती। यह ठीक है कि धर्म के क्षेत्र मे धन की अपेक्षा नही रहती। धन के विना, धनहीन व्यक्ति भी धर्म कर सकता है। आत्म-साधना के द्वार धनवान एव दीन सभी के लिए खुले है। धनी एव निर्धन का भेद धर्म-साधना के क्षेत्र मे नही है। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि धन से धर्म-साधना मे कोई विशेषता नहीं आती। वास्तविकता तो यह है कि धन से भी धर्म किया जा सकता है। हाँ, धन के सग्रह से नही, धन के त्याग से। आपके पास धन है, तो आप उसका सदुपयोग कीजिए। जीव-दया के लिए, दीन-गरीबो की सेवा के लिए, ज्ञान के प्रचार के लिए, साधु-सतो की सेवा-शुश्रूषा के लिए उस धन का विसर्जन कीजिए। सग्रह किया हुआ धन जहर होता है और त्याग किया हुआ धन अमृत बन जाता है।[१]

जैन इतिहास मे वस्तुपाल तेजपाल का नाम आज भी गौरव के साथ लिया जाता है। जैन परम्परा मे उनका गौरवपूर्ण स्थान है। जैनधर्म की महिमा फैलाने मे उन्होने जो अपूर्व योगदान किया है, वह धन के त्याग की ही एक गौरवशाली परम्परा का निदर्शन है। घटना है कि प्रारम्भ मे उनके पास कोई विशेष सम्पत्ति नही थी। तब उनके मन मे तीर्थयात्रा करने का सकल्प जगा। माता से विमर्श किया और दोनो भाई तथा माता यात्रा करने का निश्चय कर घर से निकल पड़े। निकलते समय उनके पास कुछ स्वर्णमुद्राएँ थी। सोचा—इन्हें किसी के पास रख देवें। फिर विचार आया जिसके पास

---

१ देखिए कुरान शरीफ (२ २६१) का वचन—जो लोग अपना पैसा अल्लाह की राह मे खर्च करते हैं, उनकी मिसाल ऐसी है, जैसे एक दाना, जिससे सात बालें उगी और हर बाल मे सौ दाने।

—(इस्लाम धर्म क्या कहता है, पृ० २९)

रखें, वही यदि अपना मुँह मीठा करले तो फिर ? आखिर निर्णय किया कि गाडी तो साथ मे रहेगी ही वस, एक वडा बर्तन मोहरो का भरकर उसमे ही रख दिया जाय ताकि धन की रक्षा भी होती रहेगी और जहाँ आवश्यक होगा वहाँ काम मे भी आजायेगा। वस, अब मोहरें भी गाडी मे साथ मे लेकर चले। जहाँ भी मन्दिर मे दर्शन करते, पूजा करते, किन्तु दोनो भाइयो का ध्यान मोहरो के बर्तन पर ही रहता। पूजा करने जाते तब भी मोहरो के बर्तन को देखते, पूजा करके आते तब भी झट से पहले उसे ही देखते। मतलब यह कि वे तीर्थयात्रा तो कर रहे थे, मन्दिर-मन्दिर और मूर्ति-मूर्ति के सामने बैठकर पूजा भी करते, पर उनका मन उसी बर्तन पर लगा रहता। माता ने यह देखा तो उसे वडा विचार हुआ—यह तो सारा मामला ही गोल है। भक्ति तो भावना शुद्ध होने से होती है, केवल तन मूर्ति के सामने बैठने से क्या लाभ ? जबकि मन मोहरो मे लगा है। माता ने पुत्रो से कहा—"बेटा ! इस तीर्थ-यात्रा से तो तुम्हें कोई लाभ होने वाला नही है। यह तो उल्टी चिन्ता गले मे डाल ली !"

दोनो भाइयो पूछा—"माता जी ! फिर क्या करें ! इन मोहरो को कहाँ रखें !"

माता ने कहा—"इस बर्तन को जगल मे कही भूमि मे गाड दो ! तीर्थ-यात्रा से लौटते समय लेते जायेंगे।"

दोनो भाई माता के भक्त थे। माँ के वचन के अनुसार एक दिन जगल मे जाते समय गाडी रोकी। एकान्त स्थान देखकर गड्ढा खोदा। गड्ढा खोदते-खोदते कोई वस्तु भीतर मे टकराई, जब खोद कर देखा तो वहाँ एक मोहरो का भरा चरु निकला। उन्होंने कहा—"माताजी ! लो, एक तो चरु था ही—अब एक और आ गया !"

माता ने कहा—वेटा ! जैसे तुमने गाडने का विचार किया, वैसे और किसी ने भी किया और यहाँ गाडा है ! अव सोचो—उसके यह मोहरें क्या काम आई ? किसने तो यह धन कमाया, किसने यहाँ गाडा, और किसे मिल गया ? तो सोचो तुम्हारा धन भी पता नही किसके काम आयेगा ? इसलिए इस धन का तो सदुपयोग कर लेना चाहिए।

माता के इस उद्बोधन से दोनो भाइयो के हृदय मे एक ज्योति जग उठी। उनके मन मे उच्च संकल्प जगे और अपने धन का सदुपयोग करने के लिए उन्होंने दानशालाएँ एव जिन मन्दिरो का निर्माण शुरू किया।

जगडूशाह का उदाहरण तो आपने सुना ही है, जिसने देश के दुर्भिक्ष के

समय मे स्थान-स्थान पर दानशालाएँ एव अन्न सत्र खोल दिये। राजाओ के अन्न भण्डार खाली हो गये, किन्तु जगडूशाह के भण्डार खाली नही हुए। उसने खुले दिल से जनता की सेवा की और अपने धन का सदुपयोग कर जीवन को कृतार्थ किया।

मैं बता रहा था कि यह धन, जो कि न्याय-नीतिपूर्वक कमाया जाता है, और जन-सेवा मे उपयोग किया जाता है, वह धन का सद्व्यय है। यह धन धर्म का अविरोधी है। इसी प्रकार काम भी धर्म का अविरोधी हो सकता है, यदि उसमे भी सयम एव विवेक रखा जाये। वास्तव मे अर्थ एव काम—दोनो ही धर्म के नियन्त्रण मे रहने चाहिए।

काम, काम्य नहीं, संयम्य है

आजकल कुछ विचारक जो स्वय को स्वतन्त्रविचारक तथा उन्मुक्तचितक कहते हैं वे काम के विषय मे बड़े ऊलजलूल एवं अव्यवस्थित विचार विचार रख रहे हैं। वे काम (सेक्स—Sex) को जीवन की अनिवार्य भूख मानकर उसे हर मनुष्य के लिए आवश्यक ही नही, अपरिहार्य मानते हैं। ब्रह्मचर्य को अनावश्यक कहते तब तक भी एक बात थी, पर इससे भी आगे बढकर इसे दभ एव मायाचार की सज्ञा देने मे भी नही हिचकिचाते हैं। मैं सोचता हूँ यह भी उनके मन की एक कुठा है, ग्रन्थि है और वैचारिक दुराग्रह है। वे भले ही अपने को स्वतन्त्र चिन्तक कहे, पर वास्तव मे वे फ्रायड के चेले ही हैं। उसी की लीक पर चल रहे है। मैं पूछता हूँ कि क्या वे मानव-मन को इतना दुर्बल एव हीन मानते हैं जो कभी काम पर, अपनी वासनाओ पर विजय प्राप्त नही कर सकता? हाँ ठीक है कि साधारण मानव-मन वासनाओ से प्रताडित होता है, किन्तु उन वासनाओ पर विजय प्राप्त करने वाला भी तो मानव ही है। भले ही महर्षि अरविन्द की भाषा मे उसे 'अतिमानव' कहे, या 'महामानव' कहे, पर है तो वह मानव ही। और वह जिस प्रकार अपनी भूख पर विजय करता है, इच्छाओ पर सयम करता है, उसी प्रकार काम भावनाओ पर भी विजय प्राप्त कर सकता है और करता रहा है। ब्रह्मचर्य की सत्ता को झुठलाना या उसका तिरस्कार करना—सिर्फ अपने मन एव चिन्तन की दुर्बलता है, और कुछ नही।

हाँ, फ्रायड ने काम को जीवन का आवश्यक अग माना है, तो उसकी स्थिति के सम्बन्ध मे जैन मनोविज्ञान (जैन आगम आदि मे) ने भी कभी अस्वीकृति नही दी है। जैन आगमों मे प्राणी की कुछ सहज वृत्तियाँ बताई गई हैं जिन्हें 'सज्ञा' कहते हैं, उनमे बताया है—आहारसज्ञा, भयसज्ञा, मैथुनसज्ञा

और परिग्रहसज्ञा ये प्रत्येक साधारण ससारी प्राणी मे होती हैं। जिस प्रकार प्राणी मे भूख की वृत्ति होती है, भय की भावना होती है, उसी प्रकार काम भावना भी होती है, और वह सहज है। जैन मनोविज्ञान के अनुसार 'कामवासना' वेदोदय का परिणाम है। शास्त्रो मे नौ नोकपाय बताये गये हैं, जिनमे तीन वेद—स्त्री वेद, पुरुष वेद एव नपुसक वेद भी हैं। नौ नोकपाय मोहनीय कर्म की प्रकृति हैं, और मोहनीय कर्म का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादि कालीन है। अत. इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि 'कामवासना' का सम्बन्ध भी भय व आहारवृत्ति की तरह अनादिकाल से आत्मा के साथ जुडा हुआ है। इसलिए यह मानने मे कोई आपत्ति नही है कि काम एक प्रकार की भूख है, इससे कोई इन्कार नही करता। पर क्या जो अनादि है, वह सभी अच्छा होता है ? तब तो काम व भूख की तरह 'भय' भी अनादि है और वह भी अच्छा ही होना चाहिए। अनादि वृत्ति का अर्थ यह नही कि उसे खुली छोड देना चाहिए। भूख लग गई तो जो चाहे सो खालो, यह छूट तो नही दी जा सकती। यदि भूख को अनियन्त्रित छोड दें तो पता नही एक ही दिन मे कितने आदमी मरेंगे, कितने रोगी होंगे और कितना अनर्थ हो जायेगा ? भूख की तरह काम भी सहज है, पर वह काम्य नही है। उसे जहाँ खुली छूट है, वह मानव समाज नही, पशुओ का झुण्ड है। पशु जाति मे न भूख पर किसी का नियन्त्रण है और न काम पर। किन्तु जहाँ मानव है, समाज है, वहाँ भूख पर भी नियन्त्रण करना पडता है और काम पर भी। इसलिए जैन चितको की भाषा है—"काम सहज जरूर है, पर काम्य नही, दम्य है, सयम्य है, हाँ, किसी बाहरी प्रभाव से नही, किन्तु आन्तरिक विवेक से।"

जैनआगमो मे आप सुनते हैं, भगवान महावीर के समक्ष बडे-बडे राजा, राजकुमार, श्रेष्ठी और गाथापति आते हैं। धर्म सुनते हैं। भगवान ने उनके सामने दोनो ही मार्ग रखे, सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य और सीमित ब्रह्मचर्य (स्वदार सतोष), इसी प्रकार सम्पूर्ण अपरिग्रह और सीमित अपरिग्रह (इच्छापरिमाण व्रत)। उन्होने किसी भी व्यक्ति से यह आग्रह नही किया कि वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य स्वीकार करे, या स्वदारसतोष व्रत ग्रहण करे। यह उसकी आत्मा की योग्यता पर निर्भर है कि उसमे कितना ऊँचा मनोबल और कितना दृढ सकल्प है। यदि भगवान ने सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य एव सम्पूर्ण अपरिग्रह का आग्रह किया होता और स्वदारसतोष तथा इच्छापरिमाण को कोई अवकाश नही दिया होता तो यह माना जा सकता था कि जैन विचारधारा मे अर्थ एव काम का सम्पूर्ण निषेध है। किन्तु ऐसा कही नही है, इसका अर्थ है यहाँ भी अर्थ का एव काम का स्थान माना गया है, पर वह अनियन्त्रित रूप मे नही। अर्थ एव काम पर

सयम एव विवेक का अकुश अवश्य रहना चाहिए। महान् श्रुतज्ञ आचार्य भद्रबाहु की एक गाथा मैंने पिछले प्रवचन मे कही थी—

जिण वयणम्मि परिणए
अवत्थ विहिआणु ठाणओ धम्मो।
सच्छासयप्पओगा अत्थो
वीसभओ कामो।

—दशवैकालिक निर्युक्ति २६४

—अपनी भूमिका के योग्य विहित धर्म का अनुष्ठान, स्वच्छ विचार के साथ प्रयोग हुआ धन और मर्यादा के अनुसार स्वीकृत काम—ये तीनो ही जिन-वाणी मे परस्पर अविरोधी हैं।

अर्थ एव काम को मर्यादित रखना तथा जीवन मे विवेकपूर्वक उनका प्रयोग करना इसी उद्देश्य को लेकर इनके पूर्व मे धर्म को रखा गया है और अन्त मे मोक्ष को। जिस प्रकार रेल के सबसे आगे इन्जन होता है, ड्राइवर उसमे रहता है और अन्त मे गार्ड रहता है तथा उनके बीच मे यात्रियो के डिब्बे रहते हैं, ताकि चालक उसे ठीक रास्ते से ले चलता रहे और गार्ड उसकी देखभाल करता रहे। इसी प्रकार यह पुरुषार्थ की रेलगाडी है, इसके आगे सबसे पहले धर्म है, जो उसको सही दिशा व सही मार्ग पर ले चलता है, बीच मे अर्थ एव काम रूप यात्री डिब्बे हैं और अन्त मे मोक्ष रूप गार्ड है जो कहीं भी भूल व अव्यवस्था होती है तो दृष्टि दर्शन दे देता है। बस, सक्षेप मे यही चार पुरुषार्थों का अविरोधी रूप है जो आचार्य ने—'अन्योन्याऽप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयेत्' के द्वारा व्यक्त किया है।[1]

---

१ अर्थ एव काम के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए प्रवचन संख्या २ पृष्ठ २०।

२२

अतिथि सेवा

अर्थ के सदुपयोग के सम्बन्ध मे आचार्यों ने स्थान-स्थान पर सूचनाएँ दी है। जैसे डाक्टर रोगी को कोई तेज दवा देता है, और वार-वार उसे ठीक ढग से वताये अनुसार लेने की चेतावनी देता है। उसे डर रहता है कि रोगी कही दवा को गलत ढग से ले लेगा तो वजाय लाभ के उसके प्राणो पर ही आ वनेगी। धन भी एक प्रकार की तेज, विषैली दवा है। इसके उपयोग मे वहुत ही सावधानी रखनी चाहिए। यदि इसका सदुपयोग किया जाय तो मनुष्य अपना जीवन कृतार्थ भी कर सकता है, अक्षय यश-कीर्ति भी प्राप्त कर सकता है और यदि धन का दुरुपयोग किया जाय तो वह मनुष्य को मिट्टी मे भी मिला सकता है। हजरत मुहम्मद ने एक जगह कहा है—

इन्नऽल् मुब्‌जिजरीन फान इख्वानऽश्शयातीनि।

—कुरान १७।२७

—फिजूलखर्ची करने वाले लोग शैतान के भाई वन्द हैं।

धन का सदुपयोग : दान

अव प्रश्न यह उठता है कि धन का सदुपयोग करना तो आवश्यक है, पर उसका मार्ग क्या है? उत्तर मे आचार्यों ने—दान, सेवा, पर-उपकार आदि अनेक मार्ग वताये हैं जिन पर चलकर गृहस्थ अपने धन का सदुपयोग कर सकता है, अर्थात् जहरीली लता से भी अमृतोपम फल प्राप्त कर सकता है। प्रस्तुत मे धन के सदुपयोग का एक मार्ग वताते हुए आचार्य ने कहा है—

यथावदतिथौ साधौ दीने च प्रतिपत्तिकृत्।

सत्कार करे, भले ही वह शत्रु क्यों न हो !"[1] हमारे राजस्थान में तो यह गौरवमयी परम्परा सदा से रही है कि यहाँ शत्रु भी यदि घर पर अतिथि बन-कर आया तो उसका मित्र की तरह स्वागत हुआ। हमारे इतिहास में इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं।

अतिथि सत्कार क्यों ?

एक बौद्धिक प्रश्न कई बार हमारे सामने आता है, आज भी प्रवचन के समय वह मेरे मस्तिष्क में टकरा रहा है। कुछ लोग पूछते है कि अतिथि सत्कार क्यों, किसलिए किया जाता है ? साधारण गृहस्थ और अतिथि में क्या अन्तर है ? इसके पीछे धार्मिक भावना क्या है ?

प्राचीन ग्रन्थों में अतिथि सत्कार की महिमा तो बहुत बताई गई है, किन्तु उसकी सैद्धान्तिक विवेचना जैसे प्रसंग बहुत ही कम है। फिर भी उसकी मूल-भावना तो सुरक्षित है। अतिथि को निराश नहीं लौटाने के सम्बन्ध में तो यहाँ तक कहा गया है—

> अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते
> स दत्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति।[2]

यदि अतिथि किसी के घर से निराश होकर लौट जाता है तो वह अपने सब पाप गृहस्थ के सिर डाल कर उसके पुण्य लेकर चला जाता है। कुछ ग्रन्थ कारों ने इससे आगे बढ़कर यह भी कह दिया—"तस्य पूजायां शान्तिः स्वर्गश्च।[3] अतिथि की पूजा करने से मन को शांति प्राप्त होती है, परलोक में स्वर्ग मिलता है।

प्राचीन ऋषियों ने पांच महायज्ञ बताये हैं जो गृहस्थ के द्वारा अपने पापों से मुक्ति पाने के लिए किये जाते हैं। वे पांच यज्ञ हैं—ब्रह्मयज्ञ (वेद का अध्य-यन-अध्यापन) पितृयज्ञ (पितरों का तर्पण तथा एक विचार से माता-पिता की सेवा) देवयज्ञ (अग्नि में आहुतियां) भूतयज्ञ (जीवों को अन्न दान करना) और मनुष्ययज्ञ (अतिथि सत्कार)। इसका अभिप्राय है अतिथि सत्कार को वेदाध्ययन एवं यज्ञ के समान ही धार्मिक महत्त्व दिया गया है।[4]

---

१ महा० शांतिपर्व १४६।५ २ ब्रह्मपुराण ११४।३६
३ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।३।६।६
४ विशेष वर्णन के लिए देखें—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० ४०८
"यज्ञो व एष पञ्चमो यदतिथिः—बौधायन गृह्यसूत्र २।६।१-२

अतिथि सत्कार

हमारी भारतीय संस्कृति में अतिथि सत्कार की एक बहुत प्राचीन एवं गौरवशाली परम्परा रही है। घर पर आया हुआ कोई भी व्यक्ति 'अतिथि' माना जाता है। प्राचीनतम समय में जव अग्नि का प्रयोग प्रारम्भ हुआ था तव प्रज्वलित अग्नि कहीं वाहर से लाकर घर में जलाई जाती थी। तो उस युग में वाहर से आने के कारण 'अग्नि' को भी अतिथि माना जाता था और प्रदक्षिणा करके उसकी पूजा की जाती थी। ऋग्वेद का एक सूक्त— **प्रियो विशामतिथिर्मानुषीणाम्**[1] आज भी इस वात की याद दिलाता है कि अग्नि सभी प्राणियों का अतिथि एवं प्रिय है।

प्राचीन काल से आज तक अतिथि का यह अर्थ स्पष्ट है कि घर पर आया हुआ महमान अतिथि होता है। उसकी पूजा, सत्कार, सेवा आदि करके उसे प्रसन्न करना चाहिए। शिक्षा सम्पन्न होने के बाद आचार्य शिष्य को जो गुरुमंत्र (समावर्तन के समय) देते थे, उसमें कई महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ दी जाती थीं। उसमें एक शिक्षा यह भी होती थी—**अतिथि देवो भव !**[2] अतिथि को देवता की तरह पूजो, उसका स्वागत-सत्कार करो।

'अतिथि' शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ होता है—जो आया और चला गया, जो पूरी तिथि (रात्रि) घर में नहीं रुकता। मनुस्मृति में बताया है—**अनित्यास्यस्थितिर्यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते**—जिसका रुकना अनिश्चित है, अर्थात् घर में अधिक काल तक नहीं रुकता, वह अतिथि है। वास्तव में अतिथि मेहमान दो-चार दिन का ही होता है। हमारे यहाँ भी कहावत है—

चार दिन का पावणा, फेर अणखावणा।

हाँ, तो ऐसा अतिथि घर पर आता है तो सद्गृहस्थ का कर्त्तव्य होता है कि उसका स्वागत-सत्कार करे। उसको घर से निराश नहीं लौटने दे चाहे वह अपना परिचित है या अपरिचित, मित्र है या शत्रु—वहाँ पर इन भेदों को भुलाकर केवल उसे एक 'अतिथि' के रूप में देखना चाहिए और उसका यथोचित स्वागत-सत्कार करना चाहिए। महाभारत के शांति पर्व में, जो महाभारत का हृदय कहा जाता है, कहा है—"जैसे वृक्ष जल सींचने वाले को भी छाया देता है, और काटने वाले को भी; वैसे ही सद्गृहस्थ घर पर आये अतिथि का

---

१ ऋग्वेद ५।१।६
२ तैत्तिरीयोपनिषद् १।११।२

निर्दोष है, आप अतिथि के रूप में किसी गुणवान, साधु पुरुष को ही देखते हैं और उसी रूप में उसका स्वागत-सम्मान करते हैं तो आपको अवश्य ही अतिथि सत्कार का पुण्य प्राप्त हो जाता है। सन्त तुलसीदास जी ने कहा है—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरत देखी तिन तैसी ॥

भगवान महावीर के जीवन-चरित्र में आता है। वे चार मास की तपस्या पूर्ण करके जब भिक्षा लेने को निकले और पूरणश्रेष्ठी के घर पहुँचे तो उसे यह नहीं मालूम था कि यह श्रमण महावीर हैं, कोई महापुरुष है ? उसने तो एक दीन भिक्षुक समझकर उन्हें उड़द के बाकले दे दिये, किन्तु उस दान के प्रभाव से जब आकाश से रत्न और दिव्यपुष्पों की वृष्टि हुई तो उसे ज्ञात हुआ कि यह भिक्षु कोई दिव्य पुरुष है। और इसको दान देने के प्रभाव से ही यह रत्नों की बरसा हुई है।

तो इसी प्रकार सैकड़ों साधु, त्यागी, संन्यासी एवं सत्पुरुष इस पृथ्वी पर घूमते रहते हैं। उनके घूमने के अनेक कारण हो सकते हैं, और किसी भी कारण से वे किसी द्वार पर भिक्षा के लिए आ सकते हैं। उनके लिए यदि गृहस्थ का द्वार बन्द होता है तो उनकी साधना एवं सद्गुण उपासना में बहुत बड़ी कठिनाई आ सकती है। समाज में त्याग एवं सद्गुणों का सम्मान कम हो सकता है जो कि समाज के लिए बहुत ही हानिप्रद है। अतः त्यागी, गुणीजनों प्रति हमारा दृष्टिकोण सम्मानपरक रहे, उदार रहे इसलिए समस्त धर्मग्रन्थों ने एक स्वर से यह कहा है कि गृहस्थ अतिथि सत्कार में सदा तत्पर रहे।

भगवतीसूत्र में तुंगिया नगरी के श्रावकों का वर्णन आता है। वहाँ बताया गया है—उनके द्वार साधु, अतिथि, दीन-गरीबों के लिए सदा खुले रहते थे—अवंगुय दुवारा। गृहस्थ में देने की भावना होनी चाहिए और उसको सदा प्रोत्साहन मिलता रहे, ताकि समाज का एक श्रेष्ठ, त्यागी, सद्गुणी एवं धर्म-साधनारत अंग उसके आश्रय पर सम्मानपूर्वक पलता रहे। हाँ, उसके सहारे दीन-असहाय भी पलते हैं और वे भी तो समाज के अंग हैं, अतः उनकी भी सेवा, परिपालना होती रहे इस दृष्टि से अतिथि सत्कार का अपना महत्त्व है।

दूसरी बात है—घर पर आए अतिथि को जिसे कि गृहस्थ पहचानता भी नहीं है, उसके प्रति किसी प्रकार के भौतिक लाभ की कामना भी कम रहती है। उसे नहीं मालूम यह अतिथि उसकी कीर्ति करेगा भी या नहीं। और उसके दान का कोई प्रतिफल मिलेगा भी या नहीं ! गृहस्थ उसे देता है तो केवल एक कर्त्तव्य एवं धर्म समझकर देता है। उसके मन में यही उदार भावना रहनी

श्रावक के बारह व्रतों में भी बारहवाँ व्रत 'अतिथि संविभाग' व्रत बताया गया है, जिसमें श्रावक प्रतिदिन यह भावना करता है कि "मेरे भोजन में से कोई साधु-त्यागी अतिथि आकर संविभाग—कुछ अंश ग्रहण करें तो मैं धन्य हो जाऊँ ?"

भगवतीसूत्र में गौतम स्वामी के एक प्रश्न पर भगवान महावीर स्वामी ने बताया है कि तथारूप श्रमण माहण आदि को शुद्ध आहार पानी देने का महाफल है, महान पुण्य है।

तो यह तो हुई अतिथि सेवा की महत्ता। अब प्रश्न यह है कि अतिथि सेवा के पीछे विशेष उद्देश्य क्या है ?

इस प्रश्न के सन्दर्भ में जब मैं प्राचीन धर्मग्रन्थों पर एक सरसरी दृष्टि दौड़ाता हूँ तो दो बातें मेरे सामने आती हैं—

(१) गुणीजनों का सत्कार
(२) निष्काम सेवा

अतिथि सत्कार में मनुष्य की यह दृष्टि रहती है कि जो व्यक्ति मेरे द्वार पर आया है, उसे मैं पहचानूँ या नहीं, किन्तु उसमें कुछ न कुछ गुण अवश्य ही होगा। हो सकता है वह बहुत बड़ा त्यागी, महापुरुष या सिद्ध योगी हो, वह मेरे घर पर आया है, और मैं अनजाने में उसका अपमान, अवहेलना या तिरस्कार करदूँ ? भारतीय ग्रन्थों में इस आशय के विचार स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। वायुपुराण में कहा है—योगी एवं सिद्ध पुरुष मनुष्यों के कल्याण के लिए विभिन्न स्वरूप धारण करके विचरण करते हैं।"[१] जो द्वार पर आया है वह कौन है यह किसी के ललाट पर लिखा हुआ नहीं है। और न हम हर किसी अतिथि की परीक्षा कर सकते हैं कि वह त्यागी है या कौन ? सज्जन है या दुर्जन ? इस विकल्प में यदि पड़ेंगे तो हो सकता है—एक दो असज्जन पुरुषों के साथ अनेक सज्जन पुरुषों का, साधुजनों का भी तिरस्कार हो जाये। न्याय एवं कानून भी कहता है कि यदि एक निरपराध की रक्षा के लिए दस अपराधी भी बच जाते है तो कोई बात नहीं, पर एक निर्दोष सज्जन व्यक्ति व्यर्थ में दण्डित नहीं होना चाहिए। यही दृष्टि यहाँ है। हो सकता है अतिथि के रूप में कोई असज्जन भी आ जाये, लेकिन फिर भी आपकी भावना शुद्ध एवं

---

१ (क) सिद्धा हि विप्ररूपेण चरन्ति पृथिवीमिमाम्—वायुपुराण ७१।७४
(ख) योगिनो विविधैर्वेषै भ्रमन्ति धरणीतले—वृहत्पराशर पृ० ६६
(ग) क्या जाने किस वेप में नारायण मिल जाय—सन्त तुलसीदासजी।

अतिथि को आते देखकर प्रफुल्लित आँखों से उसका स्वागत करे, प्रसन्न मन से, मीठी बोली से, उसकी इच्छाओं पर ध्यान देकर तथा जाते समय कुछ दूर तक उसके साथ-साथ जाकर—इन पाँच विधियों से अतिथि का सत्कार करें।

इस विधि में आप देखेंगे कि वास्तव में अतिथि को कितने ऊँचे रूप में देखा गया है और किस तरह उसका स्वागत सत्कार करने की विधि बताई है।

सेवा से मेवा

बात काफी लम्बी होगई है, किन्तु मैं सोचता हूं अतिथि सत्कार के प्राचीन रूप का गौरव समझाने के बाद आज के वर्तमान रूप पर भी दो बातें कह दूं।

अनेक स्थानों पर मैंने चातुर्मास किये हैं, विहार भी गाँव-गांव में होता है, तब देखता हूं कि शहरों में आज अतिथि सत्कार की भावना कम होती जा रही है। लोग आज अतिथि को देवता के रूप में देखने की बजाय 'यम देवता' के रूप में देखने लग गये हैं।

चातुर्मास में बहुत से लोग तो बारी लेने से ही डरते हैं और जो लेते हैं उनके मन में भी अतिथि सत्कार की भावना कम रहती है, नाम और बड़प्पन की भावना ही अधिक! वे भी जब सुनते हैं कि बाहर के इतने यात्री आये हैं तो शायद कह उठते है—"ये कहाँ से टपक पड़े ?" इस प्रकार अतिथि, ज्ञाति-बंधु एवं दीन असहाय आज देवता की जगह दैत्य के रूप में आने लग गये हैं। गांवों में आज भी अतिथि सत्कार की भावना अच्छी है, कोई अतिथि आ जाते है तो लोग नाच पड़ते हैं—अहा! हमें कितने अतिथियों के स्वागत लाभ मिला है ? वे अतिथियों को देखकर प्रसन्न होते हैं, और अतिथि भी उनकी यश-कीर्ति करते हैं।

हमारे यहां एक कहानी प्रचलित है। कहते हैं एक गांव है, जिसका पुराना नाम तो नहीं मालूम, अभी उसका नाम है 'रामदास का खेड़ा।' उस खेड़े में बड़े-बड़े चौधरी और राजपूतों के भी घर थे, और वे बड़े पैसे वाले भी थे। एक बार गांव में हथाई हो रही थी, बड़े-बड़े चौधरी भी बैठे थे और एक छोटा-सा किसान 'रामदास' भी बैठा था। चौधरियों ने कहा—"इस गांव का नाम 'रामदास का खेड़ा' क्यों पड़ गया ? किसी के पास कोई उत्तर नहीं था तो सबने रामदास की ओर देखा। रामदास ने कहा—"मैंने तो कभी किसी से मेरा नाम गांव के साथ जोड़ने को कहा नहीं, और कहने से भी कौन किसके नाम से गांव का नाम रखता है ?"

चाहिए कि घर पर आये अतिथि का स्वागत-सत्कार करना अपना धर्म है, इस भावना में एक प्रकार की निष्कामता है, निस्पृह वृत्ति है। और निष्काम दान का अपने आप में बहुत ही महत्त्व है।

मैं समझता हूँ अतिथि सत्कार के पीछे ये दो महान एवं उदात्त उद्देश्य हैं, जो इसकी गरिमा को आज भी बनाये हुए हैं। आज भी भारतीय जनता के मनों में ये संस्कार घर किये हुए हैं कि घर पर आया हुआ अतिथि तो क्या, किन्तु कुत्ता भी भूखा नहीं जाना चाहिए। और इन उदार भावनाओं ने देश की भावात्मक एकता, समृद्धि एवं राष्ट्रप्रेम को सदा ही प्रोत्साहित किया है। भारत का अतिथि सत्कार आज भी विदेशों में गौरव के साथ बताया जाता है।

सत्कार, दान का रूप है

अतिथि सत्कार में मुख्यतः अन्नदान का ही महत्त्व समझा जाता है। चूंकि अन्न को प्राण माना गया है—"अन्नं प्राणः।"[१] एवं जल को 'जीवन' कहा है, इसलिए किसी अतिथि का अन्न-जल से सत्कार करने का अर्थ होता है उसे 'प्राण' एवं 'जीवन' का दान किया जा रहा है।

आगमों में अनेक स्थानों पर वर्णन आता है कि अमुक घर में साधु भिक्षा के लिए पहुँचे, तो गृहस्थ ने जब उन्हें आते देखा तो हर्ष से फूल उठा, आसन से उठकर सात-आठ कदम उनके सामने गया, उनका स्वागत किया, विनयपूर्ण वाणी से उनका अभिवादन किया, और प्रार्थना की "भंते ! भिक्षा लेकर मुझे अनुगृहीत कीजिए।" भिक्षा देकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की—"आज मैं धन्य हूँ, कृतपुण्य हूँ," और फिर घर से बाहर तक लौटाने के लिए उनके साथ आया।[२]—यह प्राचीन समय में दान एवं अतिथि सत्कार की एक उच्च परिपाटी थी। केवल साधु के लिए ही नहीं, किन्तु अतिथि के लिए भी पाँच प्रकार का सत्कार करने की पुरानी परिपाटी है। कहा गया है—

> चक्षुर्दद्यात् मनोदद्यात् वाचं दद्याच्च सूनृताम्।
> अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः॥[३]

अतिथि सत्कार अर्थात् 'मनुष्य यज्ञ' की पाँच प्रकार की दक्षिणा है—

---

१ ऐतरेय ब्राह्मण ३३।१

२ इस प्रकार के वर्णनों के लिए देखिए—ज्ञातासूत्र, अंतगड़ सूत्र, निरयावलिया आदि।

३ महाभारत अनुशासन पर्व ७।६

तो बन्धुओ ! जो सेवा करता है, यशकीर्ति और पुण्य का मेवा भी उसे ही मिलता है। केवल नाम चाहने से नाम नहीं होता, काम करने से नाम होता है। यदि आपके मन में साधु, अतिथि, गुणी एवं दीन-गरीबों की सेवा की भावना है, उनका यथोचित स्वागत सत्कार करते हैं तो आप अपने गृहस्थधर्म का पालन करते हैं। इस लोक में आपको यशकीर्ति प्राप्त होती है और परलोक में पुण्य ! इसीलिए आचार्य ने कहा है—गृहस्थ यथोचित रीति से, साधु, अतिथि आदि की सेवा करे। साधु की सेवा की रीति से साधु की सेवा करे, अतिथि की सेवा की रीति से उसकी सेवा, स्वागत सत्कार करता हुआ अपने गृहस्थधर्म का पालन करता रहे।

लोगों ने कहा—"फिर कारण क्या है कि सभी लोग इसे 'रामदास का खेड़ा' कहने लग गये। जमींदार के नाम को कोई जानते ही नहीं, और एक मामूली से किसान का नाम जहान में मशहूर होगया ?"

रामदास ने कहा—"यदि आप लोग कारण जानना चाहें तो मैं बता सकता हूँ, किन्तु कोई नाराज न हों तो ?"

सभी ने कहा—"नाराज होने की कोई बात नहीं, तुम कारण बताओ।"

रामदास ने कहा—"गाँव के खवास को बुलाओ !" खवास आया। रामदास ने कहा—"जा गाँव के चौधरी के घर जाकर चौधराइन से कह—आज पच्चीस मेहमान आये हैं, उनके लिए खाना तैयार करो।"

खवास ने जाकर घर कहा—तो चौधराइन झल्लाकर बोली—"वे तो जाकर हथाई पर बैठे गप्पें हाँक रहे हैं, और हमें यहाँ कहला दिया खाना बनाओ ! हमारे से चूल्हे पर नहीं मरा जाता। भैंसों का दूध निकालना, बच्चों को सँभालना, कितने काम हैं मुझे ! जा कह दे हम से नहीं होता।"

खवास ने आकर घर की रिपोर्ट दी। चौधरी भी बैठा सुन रहा था। अब दूसरे चौधरी के घर भेजा, वहाँ से भी इसी प्रकार का टालमटोल उत्तर आया। अब खवास जितने अच्छे-अच्छे घर थे सभी जगह घूम आया। उत्तर सुनते-सुनते वह भी झल्ला उठा और बोला—"कोई भी घर मेहमान को खिलाने को तैयार नहीं है।" सब लोग सुन रहे थे। अब रामदास ने अपने घर भेजा। खवास ने आकर रामदास की पत्नी से कहा—२५ मेहमान आये हैं, जल्दी ही उनके भोजन का इन्तजाम करना है।"

रामदास की पत्नी बड़ी खुश हुई। बोली—"अहा ! आज तो बड़ा सौभाग्य है जो पच्चीस मेहमान मेरे घर आयेंगे। लो, मैं अभी खाना तैयार कराती हूँ, पर, मेहमान को देरी न हो जाये, इसलिए लो यह दूध की हांडी ले जाओ, सबको दूध पिलाओ, और उन्हें (रामदास को) कह दो, जल्दी से पांच सेर गुड़ ले आएँ ताकि मैं अच्छे घी का सीरा बना दूं।"

खवास रामदास की पत्नी का उत्तर लेकर आया, सब लोगों ने जब सुना तो बस रामदास की ओर देखते रह गये ? रामदास ने चौधरी की ओर देखा—"क्यों बाबा ? तुम्हारी बात का उत्तर आ गया ? मैंने आज तक किसी मेहमान को अपने घर से भूखा-प्यासा लौटने नहीं दिया, इसलिए जो भी यहाँ आता है वह जमींदार का घर नहीं पूछकर—रामदास का घर पूछता है, बस इसी कारण लोग इस गाँव को 'रामदास का खेड़ा' पुकारते हैं।"

दूसरों को सताने में ही आनन्द आता है। जब तक दूसरे के दुःख को दुःख नहीं समझा जाता, दूसरे की पीड़ा की अनुभूति अपने हृदय में नहीं की जाती, तब तक मनुष्य दयालु बन नहीं सकता। और जब हृदय में दया, मैत्री तथा प्रेम की भावना नहीं होती है तो दूसरे का दुःख एक तमाशे के सिवाय कुछ नहीं लगता। वे अपनी लगी लगी समझते हैं और दूसरे की लगी दिल्लगी। अपनी पीड़ा पीड़ा लगती है, और दूसरे की पीड़ा—क्रीड़ा! खेल! दूसरे के दुःख एवं पीड़ा को वही समझ सकता है जिसके हृदय में करुणा, दया एवं कोमलता होती है। क्रूर मनुष्य संसार में राक्षस कहलाता है और करुणावान देवता। आपको राक्षस बनना है या देवता? आप चाहेंगे कि देवता ही बनें? राक्षस बनना क्या, राक्षस का तो नाम भी पसन्द नहीं किया जाता। आज लोग राम का नाम लेते हैं, अपनी सन्तान का नाम भी रामचन्द्र, रामसिंह, रामलाल आदि देते हैं, पर मैं पूछता हूँ 'रावण' नाम का भी आदमी है आपके शहर में? आप अपने किसी पुत्र को 'रावण' नाम से पुकारना अच्छा समझेंगे? नहीं न! क्योंकि 'रावण' हमारे यहाँ राक्षस माना गया है, और राक्षस क्रूरता एवं दुष्टता का प्रतीक है। राम देवता है, वह करुणा, दया एवं प्रेम का प्रतीक है। आज 'अर्जुनमाली' और 'अंगुलीमाल' नाम से कोई भी अपने को नहीं बताना चाहता, पर सुदर्शन, अभय-कुमार, बुद्ध, महावीर नाम हर कोई देना चाहता है।

आत्म-तुला

बन्धुओ! जब आप नाम से भी क्रूर एवं दुष्ट व्यक्ति को पसन्द नहीं करते, तो स्वयं काम से, अपने जीवन से क्रूर बनना कैसे पसन्द करेंगे? आप चाहते हैं आपको भी लोग दयावान, धर्मात्मा कहें! पर कब? जब आपका जीवन धर्म-मय एवं दयामय बनेगा! आपके हृदय में भी यह भावना जगेगी कि जैसा सुख, आनन्द मुझे चाहिए, वैसा ही सुख एवं आनन्द सब जीवों को मिले!—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

—सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग हों, सब अपने जीवन में आनन्द एवं कल्याण प्राप्त करें, कोई भी दुःखी न हो।

यह भावना कितनी उदात्त और कितनी महान् है? पर यह जीवन में आये कैसे? यह भावना तभी जीवन में आयेगी जब आप दूसरों के दुःख को अपना दुःख समझेंगे। भगवान महावीर ने अहिंसा की भावना का विकास करने वाला एक सूत्र बताया है—

आय तुले पयासु —आचारांग

२३

अभिनिवेश का त्याग

गृहस्थ को सद्गृहस्थ अर्थात् पुरुष को सत्पुरुष बनने के लिए जिन-जिन गुणों की आवश्यकता है, उनका वर्णन कुछ दिन से आपके समक्ष चल रहा है। इस प्रसंग में आज हमारे सामने बीसवाँ और इक्कीसवाँ सूत्र है—

सदानभिनिविष्टश्च पक्षपाती गुणेषु च।

सद्गृहस्थ को सदा अभिनिवेश से मुक्त होकर गुणों का पक्षपात करना चाहिए।

अभिनिवेश क्या है ?

अभिनिवेश शब्द पर विचार करने के साथ ही इसके तीन अर्थ मेरे विचारों में प्रतिध्वनित हो रहे हैं—

१ क्रूरता, दुष्टता
२ उतावलापन, जल्दबाजी (सहसाकारित्व)
३ आग्रह, दुराग्रह और अहंकार

इनके विरोधी तीन रूप हैं—

१ दया, करुणा
२ धैर्य, विचारशीलता
३ विवेक एवं सत्य दृष्टि

आज हमें इन्हीं तीनों अर्थों पर विचार करना है।

सबसे पहले मनुष्य को यह सोचना है कि वह किसी के प्रति भी क्रूर एवं दुष्ट न बने। जब हृदय में क्रूरता आती है तो दूसरों को पीड़ा, दुःख एवं त्रास देने में आनन्द आता है। क्रूरता-शैतान है, राक्षस है, और राक्षसों को सदा

दुष्टता का फल

मुझे अंग्रेजी के महान साहित्यकार शेक्सपियर की एक कहानी याद आ रही है। उसने एक नाटक लिखा है, उसमें एक कहानी है। दो व्यापारी थे, दोनों ही ब्याज का धंधा करते थे। एक व्यापारी दिल का बड़ा क्रूर था, वह बड़ा कड़ा ब्याज लेता था। दूसरे का दिल कुछ कोमल था, वह जनता की तकलीफों को समझता था, जो जरूरतमंद कर्ज लेने आता है उसकी विवशता को भी समझता था, और बहुत हल्का ब्याज लेता था। अब जो कम ब्याज पर कर्ज देता और ग्राहकों के साथ मधुर व्यवहार करता उसके पास लोग ज्यादा जाते। कड़े ब्याजखोर के पास तो कोई आपत्ति में फँसा हुआ ही जाता। इस बात से उसके मन में ईर्ष्या होने लगी, वह सोचने लगा—यह मेरे कारोबार को खत्म कर रहा है, कैसे भी हो इसका बदला लेना चाहिए।

जिस देश में ये दोनों रहते, उस देश के बादशाह को कोई पुत्र नहीं था। एक कन्या थी। उस देश की परम्परा भी ऐसी थी कि चाहे पुत्र हो या पुत्री, राजा की संतान ही गद्दी पर बैठती थी। कन्या का विवाह भी नहीं हुआ था कि बादशाह का देहान्त हो गया। मरते समय उसने अपनी पुत्री से कहा—"बेटी ! मैं अपने हाथों से तुम्हारा विवाह नहीं कर सका, इसका मुझे बड़ा अफसोस है, अब तुम अपना साथी अपने मन से ही चुन लेना, पर किसी के प्रेम में फँसकर नहीं, गुणों की परीक्षा करके ही चुनना।"

बादशाह की मृत्यु के बाद कन्या ने सब राजकार्य संभाला। अपना जीवन-साथी चुनने के लिए उसने एक परीक्षा की युक्ति निकाली। एक सोने की, एक चांदी की और एक लोहे की—यों तीन पेटियां बनवाई और उद्घोषणा करवाई—"जो राजकुमार इस राजकुमारी से शादी करना चाहे, उसे राजकुमारी की बताई हुई परीक्षा में उत्तीर्ण होना होगा। परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर राजकुमारी के साथ शादी हो जायेगी, वर्ना जब तक विवाह नहीं होगा उन्हें महलों में बंद रखा जायेगा और उनसे चक्की पिसवाई जायेगी।"

घोषणा सुनकर कई राजकुमारों के मुँह में पानी छूटा। सोचा चक्की फेरनी पड़े तो भी कोई बात नहीं, यदि राजकुमारी के साथ विवाह हो जाये तो इतना बड़ा साम्राज्य भी मिल जायेगा। अब अनेक देशों के राजकुमार पहुँचने लगे। राजकुमारी एक-एक को लेकर पूछती—इन तीन पेटियों में से मेरा फोटू किस पेटी में है ? साधारणतः कोई भी राजकुमार सोने चांदी की पेटी का ही नाम लेता, और उसे भीतर पहुँचा कर बन्द कर दिया जाता।

कम ब्याज लेने के वाले व्यापारी का एक मित्र था। उसका मन भी

दूसरों को अपनी आत्मा की तुला-तराजू पर तोलो। जो सुख तुम अपने लिए चाहते हो, वही दूसरों के लिए चाहो। जिस दुःख एवं पीड़ा की कामना अपने लिए नहीं करते उसकी कामना दूसरों के लिए भी मत करो। **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**—जो कार्य आपके मन को अपने लिए बुरा लगे उसे दूसरों के लिए भी मत करिए।—**"चाह मत गैरों के हित जो कि तू चाहता नहीं।"** बस यही आत्म-तुला है। इसी तराजू पर सबको तोलिए।

एक सेठ थे। बाजार की, और अपने रिश्तेदारों की, यहाँ तक कि अनेक विधवा बहनों की पूंजी भी उनके यहाँ जमा रहती थी। अच्छा कारोबार चल रहा था। यकायक व्यापार में घाटा आया, सेठजी उस घाटे को सम्हाल नहीं सके। नीयत बदल गई और लाखों की पूँजी हड़प कर दिवाला निकाल दिया। बेचारे लेने वाले रोते रह गये। किसी को आधा मिला और किसी को पाव!

एक बार सेठजी से बात चली तो बड़े उदास से दीख रहे थे। मैंने पूछा तो बताया—महाराज! संसार में सब धोखेबाज और बदमाश हैं। किसी का भरोसा नहीं। मैंने पूछा—क्या हो गया? तो बोले—छोटे बेटे को और जँवाई को साझीदारी में काम कराया था। छोटा लड़का कुछ भोला था, धीरे-धीरे जँवाई ने सब गोल बाजार कर दिया। एक पैसा भी नहीं दे रहा है, जँवाई होकर भी कैसा धोखा किया?

मेरे मन में आया—**ठग ठगां रे पावणा**—आपने दुनिया को धोखा दिया, अनेक रिश्तेदारों और विधवाओं का पैसा डकारा तो जँवाई ने आपका पैसा डकार लिया। पर उस समय तो आपके मन में कुछ नहीं आया, और आज कहते हैं दुनिया बदमाश और धोखेबाज है? क्या उस दिन संसार की नजर में आप भी बदमाश और धोखेबाज नहीं थे? आज आपके दिल को जितनी चोट पहुँची है, क्या उस दिन आपने अनुभव नहीं किया कि इससे भी गहरी चोट कितने दिलों को आपने पहुँचाई है।

तो भाइयो! धर्म का यही काँटा है, तराजू है कि जैसा दुःख आपको होता है, दूसरों के दुःख को भी उतनी ही गहराई के साथ अनुभव कीजिए। भगवान महावीर ने इस बात को कितनी वैज्ञानिक दृष्टि से कहा है—

"जिसे तू मारना चाहता है, कष्ट देना चाहता है, सोच, वह और कोई नहीं, तू स्वयं है। जैसी पीड़ा तुझे होती है वैसी ही दूसरों को भी होती है।" तो सद्गृहस्थ के जीवन में यह भावना आनी चाहिए। वह किसी को कष्ट, त्रास एवं पीड़ा देने वाला न बने।

नहीं। इधर टाइम पूरा होते ही वह व्यापारी बड़ा खुश हुआ—"सोचा ! बस अब पूरा बदला ले लूँगा। इसने मेरा व्यापार तोड़ा है, मैं इसे ही कानून से खत्म कर डालता हूँ।" छोटे व्यापारी को इसने सूचना दी—"टाइम खत्म हो चुका है, अब अपने कलेजे का १० तोला मांस दो।" छोटे व्यापारी ने बहुत आजीजी की, कुछ समय और रुकने का आग्रह किया, पर वह दुष्ट तो टस-से-मस नहीं हुआ। बोला—"मुझे ब्याज नहीं चाहिए, दुगनी-चौगुनी रकम भी नहीं चाहिए, मुझे तो अपने वायदे के अनुसार १० तोला मांस ही लेना है।" आखिर केस कोर्ट में गया। लिखा-पढ़ी के अनुसार दुष्ट व्यापारी का पक्ष बहुत मजबूत था। वकीलों ने कहा—"तुम्हें कानून के अनुसार १० तोला मांस देना ही पड़ेगा।" आखिर जब बचने का कोई रास्ता नहीं रहा तो उसने अपने मित्र को एक पत्र लिखा, जिसमें पूरी घटना का उल्लेख करते हुए लिखा—"मैं भयंकर विपत्ति में फँसा हूँ एक बार आपसे मुलाकात चाहता हूँ।" मित्र का पत्र मिलते ही वह घबरा उठा। जल्दबाजी में पत्र को वहीं छोड़कर वह सीधा कोर्ट में पहुंचा।

इधर वह पत्र राजकुमारी के हाथ लग गया। उसने पढ़ा तो उसके भी हृदय में सिहरन पैदा हो गई। सोचा—यह एक व्यापारी इतना भला है, जिसने मित्र की सहायता करके अपनी जान जोखिम में डाल दी, और वह एक इतना दुष्ट ! तो पति के मित्र की रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है। और ऐसे दुष्टों को दण्ड भी देना चाहिए। राजकुमारी ने न्यायाधीश को आदेश भेजा—"इस केस की सुनवाई मैं करूँगी। आप घोषणा कर दीजिए कि इस मामले की सुनवाई और फैसले के लिए नये न्यायाधीश आ रहे हैं।"

कोर्ट में घोषणा हो गई। चारों ओर सनसनी फैल गई। इस सीरियस केस की सुनवाई के लिए नये न्यायाधीश आ रहे हैं। बस, दूसरे दिन कोर्ट के हॉल और गेलरियाँ खचाखच भर गये। तिल धरने को भी जगह नहीं रही। लोग इन्तजार में थे कि देखें क्या फैसला होता है।

समय पर नये न्यायाधीश आये। देखने में वह नवयुवक थे। पर बोल-चाल, व्यवहार में बड़े अनुभवी लग रहे थे। न्याय की कुर्सी पर बैठे। दोनों व्यापारी कठघरे में खड़े थे। दुष्ट व्यापारी ने अपनी बात सुनाई और कहा—"न्यायमूर्ति ! हमारे साथ न्याय होना चाहिए, जो लिखा-पढ़ी हुई है उसका पालन होना चाहिए।"

छोटे व्यापारी ने बड़ी दीनता के साथ कहा—"मैं दुगनी-चौगुनी रकम दे दूँगा, किन्तु मेरी जान की रक्षा होनी चाहिए।" उसकी ओर से मित्र भी खड़ा

राजकुमारी से शादी करने को ललक उठा। उसके पास राज सभा में जाने योग्य पोशाक भी नहीं थी। वह व्यापारी के पास पहुँचा और बोला—"मुझे इतनी रकम चाहिए !" व्यापारी ने कहा—"अभी तो मेरे पास नहीं है।" मित्र ने आग्रह किया—"कैसे भी, कहीं से भी जुटा कर दो ! मुझे राजकुमारी से शादी करने जाना है, अतः बहुत कीमती पोशाक बनवानी है।" व्यापारी मित्र का आग्रह टाल नहीं सका। वह उस कड़ा ब्याज लेने वाले के पास गया और बोला—"मुझे इतनी रकम की सख्त जरूरत है, आप जो चाहें सो ब्याज ले लीजिये।" व्यापारी ने अपने प्रतिस्पर्धी को आँट में फँसा देखकर बदला लेने की सोची। बड़ी मीठी वाणी में बोला—"भाई ! व्यापारी व्यापारी से ब्याज नहीं लेता, तुम चाहे जितनी रकम ले जाओ, और अपने टाइम पर वापस दे जाना। हाँ, यदि टाइम पर रकम नहीं आई तो फिर मेरी एक शर्त है, वह तुम्हें मंजूर हो तो देखलो ?"

व्यापारी ने कहा—"कहिए ! जो भी शर्त हो; मैं टाइम पर रकम लौटा दूँगा, यदि न लौटाऊँ तो आपकी शर्त भी मंजूर है, बताइये क्या शर्त है।"

"शर्त और कुछ नहीं, यदि टाइम पर रकम न आई तो तुम्हारे कलेजे का दस तोला मांस मुझे देना होगा।"—दुष्ट व्यापारी ने शर्त लगाई।

शर्त सुनते ही एक बार तो उसका कलेजा काँप उठा। फिर सोचा—"समय पर रकम लौटा ही दूँगा तो, फिर शर्त पूरी करने की नौबत ही नहीं आयेगी।" उसने लिखा-पढ़ी करदी और रकम लाकर मित्र को दे दी। मित्र से इस शर्त का कुछ भी जिक्र नहीं किया। सोचा—"इसके दिल को चोट पहुँचेगी।"

मित्र ने पोशाक बनवाई। राजकुमारी के समक्ष गया। राजकुमारी ने तीनों पेटियाँ दिखाकर पूछा—"बोलो ! मेरी फोटू किस पेटी में है ?"

उसने सोचा—"सोने-चाँदी की पेटी तो सभी ने बताई होंगी, मैं लोहे की पेटी बताकर देखूँ।" उसने कहा—"राजकुमारी ! आपकी फोटू लोहे की पेटी में रखी हुई है।" राजकुमारी सही उत्तर पाकर बहुत प्रसन्न हुई। अब ठाठ-बाट से राजकुमारी के साथ उसका विवाह हो गया और आनन्द से रहने लगा। मित्र के कर्ज की बात भी वह भूल गया।

इधर वह कड़ा ब्याज लेने वाला भी चुप था। वह सोच रहा था—तारीख आने तक तो कुछ बोलना नहीं है। समय आने पर देखा जायेगा। जब समय पूरा होने आया तो उसने कर्जदार व्यापारी को सूचित भी कर दिया। पर उसके पास रकम का इंतजाम नहीं हो सका। मित्र के पास माँगने वह गया

व्यक्ति की जान लेने की साजिश की है, समाज में शान्ति एवं न्याय के लिए तुम्हें जन्म भर जेल के सींखचों में बन्द किया जाता है।"

शेक्सपियर की यह कहानी बड़ी रोमांचक है। दुष्ट व्यक्ति किस प्रकार समाज को उत्पीड़ित करते हैं, जनता को त्रस्त करते हैं यह इससे स्पष्ट हो जाता है। ऐसे व्यक्ति गृहस्थ-जीवन में भी रहने लायक नहीं हो सकते—यह घटना बताती है।

तो इस सूत्र में यह बताया गया है कि सद्गृहस्थ को दुष्टता एवं क्रूरता की भावना से बचना चाहिए। उसे समाज एवं राष्ट्र के कष्ट को अपने कष्ट से तोलकर—दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए, उसे बांटना चाहिए न कि बढ़ाना।

उतावला सो बावला

अभिनिवेश का दूसरा अर्थ है—जल्दबाजी! आवेश! मनुष्य जब किसी भावावेश में आ जाता है तो फिर उस कार्य का परिणाम या प्रतिफल नहीं सोच सकता। झट से एक घाव दो टूक करने का आवेश उसमें रहता है, और कर डालता है। उसके परिणाम क्या आते हैं यह तो बाद में ही उसे पता चलता है।

हमारे यहाँ कहावत है—'उतावला सो बावला'—अंग्रेजी की एक सूक्ति है—जल्दी का काम शैतान का है। नीतिकारों ने यहाँ तक कहा है कि—कोई भी काम करने से पूर्व उस पर धीरज से विचार करना चाहिए, मित्र व गुरुजनों से परामर्श करना चाहिए। मारवाड़ में तो यहाँ तक कहावत चलती है कि—"सलाह लेने के लिए और कोई न मिले तो अपनी पगड़ी से ही सलाह ले लो।" मतलब यह है कि तब तक आपको सोच-विचार के लिए कुछ क्षण मिल जायेंगे और हो सकता है आप जो गलत काम करने जा रहे हैं उससे बच जायें।

जैन आचार्यों ने कहा है—आवेश में आकर कोई भला काम भी नहीं करना चाहिए। त्याग, प्रत्याख्यान जो कि आत्मकल्याण के साधन हैं, वे भी आवेश में आकर नहीं करने चाहिए। शास्त्रों में बताया है—भावावेश के वश किया गया पच्चक्खाण भी दुपच्चक्खाण है। कारण आवेश में आया हुआ व्यक्ति यह नहीं सोच सकता कि वह त्याग किस लिए कर रहा है? और उसका क्या फल होगा? त्याग के पीछे तो पवित्र संकल्प और शुभ उद्देश्य होने चाहिए। आवेश में पवित्र विचार उभर ही नहीं सकते। पच्चक्खाण करते समय

हुआ और उसने कहा—हम करोड़-दो करोड़ रुपये भी दे देंगे। यह मेरी हीरों की अँगूठी करोड़ों रुपये की है, यह मैं अभी आपके सामने रख देता हूँ, किन्तु मेरे मित्र की जान बचनी चाहिए।

राजकुमारी ने देखा, उसका पति मित्र के लिए वह मूल्यवान अँगूठी भी देने को तैयार हो गया है, जो उसने पति रूप में वरण करते समय दी थी। यह अँगूठी किसी को भी नहीं दी जा सकती, किन्तु उसका पति वह अँगूठी भी न्यायाधीश को देने के लिए तैयार है।

दोनों ओर की पैरवी सुनकर राजकुमारी ने व्यापारी से कहा—"तुम जो चाहो और जितने चाहो रुपये ले लो पर इसके कलेजे का मांस मत लो।"

व्यापारी ने कहा—"मुझे धन नहीं चाहिए, मुझे तो अपने वायदे के अनुसार वही चीज चाहिए जो हमने लेना तय किया है।" बहुत समझाने-बुझाने पर भी जब वह नहीं माना तो न्यायाधीश ने कहा—"अच्छा तो, कानून के अनुसार तुम इसके कलेजे का १० तोला मांस ले सकते हो। यह लो छुरी और अपना वादा वसूल करलो।" जब उसके हाथ में छुरी दी गई तो जनता में हाहाकार मच गया। "यह क्या ? नये न्यायाधीश ने तो गजब ही ढा दिया।" वह व्यापारी दिल ही दिल खुश हुआ। उस व्यापारी के पास पहुँचा और छुरी की धार देखने लगा, तभी न्यायाधीश ने कड़क कर कहा—"ठहरो! तुम अपने वायदे के अनुसार इसके कलेजे का १० तोला मांस ले सकते हो, किन्तु ध्यान रखना, १० तोले से ज्यादा भी नहीं होना चाहिए और कम भी नहीं। जितना तय हुआ है उतना ही मांस ले सकते हो। और फिर सिर्फ मांस ही ले सकते हो, एक कतरा भी खून नहीं ले सकते। यदि खून का एक कतरा भी ले लिया तो बदले में तुम्हारी जान ले ली जायेगी।"

न्यायाधीश की शर्त सुनते ही व्यापारी के हाथ से छुरी गिर पड़ी। जनता तालियाँ पीटने लगी। न्यायाधीश ने व्यापारी से कहा—"अब रुक क्यों गये ? अपना वायदा पूरा करो। कोर्ट ने फैसला दिया है, इसका पालन नहीं किया तो तुम अपराधी होगे, वही सजा तुम्हें मिलेगी।"

व्यापारी न्यायाधीश के चरण पकड़ने लगा—"मुझे माफ कर दीजिए! न मुझे मांस चाहिए और न रकम ही! बस, मैं इस मामले को ही उठा लेता हूँ।"

न्यायाधीश ने कहा—"तुम्हारे जैसे दुष्ट व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र के लिए खतरनाक होते हैं। तुमने ईर्ष्या एवं प्रतिस्पर्धा के वश होकर एक निरपराध

यदि सोचने-समझने की आदत नहीं है, तो फिर मानना चाहिए आप विपत्ति से नहीं बच सकते।

दुराग्रहों से मुक्ति

अभिनिवेश एक प्रकार का नशा है, उन्माद है। जैसे व्यक्ति भाँग, गाँजा या शराब आदि के नशे में चूर होकर कुछ भी कर डालता है वैसे ही विचारों के, धर्म के, अहंकार के नशे में छककर आदमी कुछ भी अन्याय कर सकता है। वह उसका परिणाम सोच ही नहीं सकता। उसके विवेक पर पर्दा पड़ा रहता है और भविष्य अंधकारमय दीखता है।

अभिनिवेश कई प्रकार का होता है। कुछ लोगों में जातीय अभिनिवेश होता है। अपनी जाति को ऊँची समझते हैं, दूसरी जातियों को हीन। संसार में अपनी जाति का झंडा सर्वत्र लहराये—बस यही उनकी मनोकामना रहती है। काले-गोरे के संघर्ष इसी जातीय अभिनिवेश के परिणाम हैं।

कुछ लोगों में संप्रदाय एवं धर्म का अभिनिवेश—अर्थात् दुराग्रह होता है। वे चाहते हैं बस संसार हमारे धर्मग्रन्थ को सत्य माने, हमारे ही भगवान की पूजा करे। मुसलमानों ने बड़े-बड़े देशों पर आक्रमण किया तब एक हाथ में कुरान और एक हाथ में तलवार लेकर यही तो कहा था—या तो कुरान को मानो, या तलवार के नीचे अपनी गर्दन रख दो! औरंगजेब खुलेआम कहता था "संसार में सिर्फ एक कुरान की जरूरत है, बाकी सब धर्मग्रन्थों को जला डालो। जो कुछ सत्य है, वह इसी में है। जो इसमें नहीं है, उसकी हमें कोई जरूरत नहीं।" अपने धर्म के प्रति, ग्रन्थों के प्रति यह अंध आग्रह दुराग्रह है, उन्माद है। जान-बूझ कर आँखों पर पट्टी बांधना है।

धार्मिक अभिनिवेश हिन्दुस्तान में घर-घर में फैला हुआ है। हर आदमी धार्मिक मान्यताओं से, परम्पराओं से, रूढ़ियों से इस प्रकार बँधा है कि वह दूसरे के ग्रंथ, पंथ और संत को देखना भी पसंद नहीं करता। दूसरे धर्म का अस्तित्व भी उनसे बर्दाश्त नहीं होता। और इस अभिनिवेश के ही ये परिणाम हैं कि समस्त धर्म-संप्रदायें आपस में एक-दूसरे से टकराती हैं, एक-दूसरे पर कीचड़ उछालती हैं, निन्दा करती हैं और कभी-कभी तो यह उन्माद का रूप धारण कर भयंकर हत्याकाण्डों की सर्जना भी कर डालता है।

जब तक धार्मिक उन्माद, सांप्रदायिक अभिनिवेश का नशा मस्तिष्क पर से नहीं हटता तब तक सत्य का दर्शन नहीं हो सकता, और कोई भी कार्य

तो मन में आवेश रहा और कर गये, किन्तु जैसे ही आवेश ठण्डा पड़ा कि त्याग को खूँटी पर रख दिया। फिर उसमें रास्ते और गलियारे निकाले जाते हैं, तो यह तो त्याग के साथ उलटा मजाक हो गया। इसीलिए कहा गया है त्याग करो, कोई पवित्र कार्य करो, तब भी जल्दबाजी में मत करो। यह नहीं कि महाराज साहब का उपदेश सुना और हाथ जोड़कर खड़े हो गये—'हाँ, महाराज! करा दीजिए पच्चक्खाण!' अरे भाई! करते हो, पर पालेगा कौन? यह सोडावाटर का उफान है। गैस उठी है और आप तैयार हो गये। जब उफान ठण्डा पड़ा तो फिर मुँह छिपाते फिरोगे! त्याग के पीछे दृढ़ता होनी चाहिए और दृढ़ता आती है विवेक से। इसलिए नीतिशास्त्र में कहा है यदि किसी की बुराई करते हो तब भी दो मिनट सोचो, और किसी की भलाई करते हो तब भी दो मिनट सोच लो। पहले सोचोगे तो बाद में सोचना नहीं पड़ेगा। एक दोहा है—

कर सोचे सो क्रूर है, सोच करै सो सूर।
कर सोचे मुख धूर है, सोच किए मुख नूर॥

—करके सोचना, पछताना मूर्खता है, उससे मुँह पर कालिख लगती है, और सोच-विचार कर करने से मनुष्य की शोभा बढ़ती है।

संस्कृत साहित्य के महाकवि भारवि का कथन है—

सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥

—किसी भी काम को सहसा—एकदम बिना विचारे मत करो। अविचार ही सब आपत्तियों का घर है। जो विचारपूर्वक कार्य करता है सम्पत्ति उसके पीछे-पीछे स्वयं चली आती है।

आपसे कोई पूछे कि आप संपत्ति चाहते हैं या विपत्ति? तो झट से आप बोल पड़ेंगे—सम्पत्ति! विपत्ति किसी को नहीं चाहिए! तो फिर बताइए कि आपका कार्यक्रम विचारपूर्वक होता है या सहसा? क्या खाते समय भी पहले विवेकपूर्वक देखते हैं, विचार करते हैं? पिछला कदम उठाने से पूर्व अगले कदम की भूमि को ठीक से देखते हैं कि वहाँ कोई गड्ढा या पत्थर तो नहीं है? कुछ भी कार्य करने से पहले आप उसके बारे में सोचते हैं, विवेक से विचार करते हैं तब तो ठीक है कि आप संपत्ति चाहते हैं और उसके हकदार भी हैं!

फूल चुनिए

पंडित जुगल किशोर मुख्तार ने 'मेरी भावना' में हृदय की उदात्त भावनाओं को प्रकट करते हुए लिखा है—

> गुणी जनों को देख हृदय में, मेरे प्रेम उमड़ आवे।
> बने जहां तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे॥

जहां-जहां मैं गुणीजनों को देखूं, उनके गुणों की सौरभ महकती पाऊँ, वहां-वहां मेरा मन प्रसन्नता में झूम उठे। मैं उनके गुणों का आदर करूँ और उन गुणीजनों की सेवा करके जीवन को कृतार्थ बनाऊँ!

मन की यह उदात्त भावना जैनभाषा में गुणानुराग अथवा प्रमोद भावना कही गई है। व्यक्तिगत जीवन से लेकर पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के समस्त क्षेत्रों में इस भावना का विकास होना बहुत आवश्यक है। यह जीवन-विकास के लिए परम आवश्यक ही नहीं, किंतु अत्यन्त उपयोगी जीवन-दृष्टि है कि व्यक्ति जहां भी, जिस क्षेत्र में रहे, वहां गुणग्राही होकर रहे। फूल चुनने वाला हो, मधु बटोरने वाला हो, न कि कांटे एवं जहर इकट्ठा करने वाला।

इस संसार में गुण भी है, अवगुण भी हैं, भलाई भी है और बुराई भी है। आप किसी बगीचे में से निकलेंगे तो उसके आस-पास में गंदगी के ढेर बदबू उछालते हुए भी पड़े मिलेंगे और डालियों पर सौरभ लुटाते हुए फूल भी महकते नजर आयेंगे। अब यह आपकी नजर है, आपकी दृष्टि है कि आप गंदगी को महत्त्व देकर उसे ही मन में बसा लेते हैं या उन्मुक्त सौरभ पाकर दिलो-दिमाग को ताजगी से भरते हैं। गंदगी और कांटों की शिकायत करने वाले संसार में बहुत हैं, किन्तु सौरभ और फूल की महिमा सुनाने वाले कम हैं। महत्त्व उन्हीं का है जो गंदगी की उपेक्षा कर सौरभ ग्रहण कर लें, और

विवेकपूर्वक नहीं हो सकता। इसलिए आचार्य ने कहा है—सद्गृहस्थ को इन तीनों प्रकार के अभिनिवेश से मुक्त होकर सत्य का पक्षपाती होना चाहिए। उसे अपने विवेक चक्षु खुले रखने चाहिए, मस्तिष्क के ज्ञान-तंतुओं को उन्मुक्त रखना चाहिए और प्रत्येक कार्य में, जीवन की प्रत्येक गतिविधि में—दयालु, धैर्यशील और विवेकवान होना चाहिए। "**सदानभिनिविष्टश्च**" के द्वारा यही तीन बातें—दया, धैर्य और विवेक—की सूचना देकर सद्गृहस्थ को इन्हें अपनाने की प्रेरणा दी गई है।

जो जहर हलाहल है, अमृत भी वही, लेकिन,
मालूम नहीं तुझ को अन्दाज ही पीने का ?

यदि ग्रहण करने का तरीका आ गया, पीने का सलीका आ गया तो जहर को भी अमृत बनाया जा सकता है।

मधुकर दृष्टि

हमारे यहाँ एक कहावत है—'मक्खी गन्दगी पर बैठती है। मिठाई का ढेर छोड़कर वह गन्दी चीजों पर जाकर बैठने में ही अधिक खुश रहती है। स्वच्छ और स्वस्थ शरीर पर सुन्दर वस्त्र पहने हुए है, सुगन्धित तैल लगा हुआ है, वहाँ पर नहीं बैठकर, जहाँ कोई घाव या फोड़ा होगा उसी पर जाकर बैठेगी। इसलिए—**व्रणमिव मक्षिकानिकरः**—घाव पर मक्खी की तरह—यह एक कहावत बन गई है।

दूसरी भी एक कहावत है, जिसका शास्त्रों में भी उल्लेख हुआ है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियई रसं।

जैसे भौरा फूलों पर लगे कांटों से अपने को बचाते हुए उनसे रस—मधु ग्रहण कर लेता है। वैसे ही सत्पुरुष होते हैं जो—**महुगारसमा बुद्धा**—मधुकर के समान होते हैं, वे जहाँ भी मधु पाते हैं, तो किसी को कष्ट दिये बिना और स्वयं भी कष्ट पाये बिना उसे ग्रहण कर लेते हैं।

बन्धुओ! यह दो दृष्टियाँ आपके सामने हैं—एक मक्खी की दृष्टि और एक मधुकर की दृष्टि! जो व्यक्ति संसार में हर किसी का अवगुण देखता है, बुराई देखता है और निन्दा करता है वह गन्दगी पर बैठने वाली मक्खी के समान है, और जो अवगुण को छोड़कर गुण ग्रहण करता है वह मधुपान करने वाले मधुकर के समान है। अब आपसे मैं पूछूँ, आपको कौन-सी दृष्टि अपनानी है? मक्खी की, या मधुकर की? सभी कहेंगे—मधुकर की! तो भाई!—

'मधुकर' मधुकर बन अरे! कंटक तज, मधु गेह।
मक्खी की ज्यों गन्दगी लेना तू तज देह॥

मधुकर के समान गुण-दृष्टि बनने के लिए दृष्टि को स्वच्छ एवं निर्मल बनाना जरूरी है। दृष्टि से मतलब भावना का है। यदि आपकी भावना में पवित्रता है, विचार और बुद्धि में निर्मलता है तो आप जहाँ भी जायेंगे, आप वहाँ अच्छाई, श्रेष्ठता और पवित्रता ही देखेंगे। स्वभावतः ही आपकी दृष्टि गुण पर जायेगी।

उसका बखान करें। इसी दृष्टि को जीवन की सच्ची दृष्टि बताते हुए आचार्यों ने कहा है—**पक्षपाती गुणेषु च**—सद्गृहस्थ सदा गुणों पर ही दृष्टि डाले, उन्हीं के पक्ष को ग्रहण करे और अवगुणों को छोड़ दे। शास्त्र में कहा है—

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू
गिण्हाहि साहू गुणमुंचऽसाहू

जो सद्गुणों को अपनाता है, वह साधु है, सत्पुरुष है। जो दुर्गुणों को ग्रहण करता है वह असाधु एवं असत्पुरुष है। गुणों को अपनाने से पुरुष सत्पुरुष कहलाता है, गुणों का त्याग करने से असत्पुरुष !

दृष्टि जैसी सृष्टि

मैंने बताया कि संसार में बुराई भी है और भलाई भी है। गुण भी हैं, और दुर्गुण भी हैं। जिसके पास जैसी दृष्टि है वह उससे वैसा ही ग्रहण कर लेता है। **यादृशी दृष्टिस्तादृशी सृष्टि**—जैसी दृष्टि वैसी दृष्टि। एक चोर एक मकान में घुसने के लिए रात भर कोशिश करता रहा पर घुस नहीं सका। बिचारा थककर सड़क पर एक वृक्ष के नीचे सो गया। एक दूसरा चोर उधर से निकला। उसने इसे मस्ती से सोया देखकर कहा "यह भी तो कोई मेरा ही भाई-बंध है। बेचारा कामयाब न होने पर थक कर सो गया है।"

कुछ देर बाद उधर से एक शराबी निकला। उसने देखकर कहा "उफ ! इतनी पी गया है कि तन-बदन का होश भी नहीं रहा।"

फिर एक जुआरी जिसका घर-बार सब कुछ जुए में बरबाद हो गया था, उधर से निकला और उसे सोया देखकर बोला—"बिचारा मेरी ही तरह जुए में बरबाद हो गया लगता है। घर-बार नीलाम हो गये होंगे, अब यहाँ आकर रात गुजार रहा है।"

कुछ देर बाद एक संन्यासी गुजरा। सोते हुए चोर को देखकर सोचा—"लगता है कोई पहुँचा हुआ महात्मा है, भय-भीति से मुक्त, निस्पृह जीवन का आनन्द ले रहा है। धन्य है यह !"

तो, वह चोर क्या था ! चोर, शराबी, जुआरी या महात्मा ? वास्तव में जिसकी जैसी दृष्टि थी वह वैसा ही समझने लगा। शराबी ने उसे शराबी समझा और संन्यासी ने संन्यासी। वास्तव में यह है दृष्टि। यदि दृष्टि अच्छी है तो चोर भी साधु के रूप में दिखाई दे सकता है। जहर भी अमृत रूप में लिया जा सकता है। उर्दू के एक शायर ने कहा है—

की वृत्ति नहीं अपनानी है, संगम की जीवन-दृष्टि नहीं अपनानी है, किन्तु वहाँ प्रसन्न होना चाहिए। दूसरे का गुण देखकर मन में आनन्द और प्रेम की हिलोर उठनी चाहिए कि—"अहा! धन्य है इन्हें! कितना उच्च जीवन है! कितना उग्र त्याग कर रहे हैं! कितना महान दान धर्म कर रहे हैं! हम भी इनके गुणों का अनुसरण करें। यदि अनुसरण न कर सकें तो कम से कम अनुमोदन कर मन को प्रमोद भावना से प्रफुल्लित तो बनाएं।"

ईर्ष्या का महारोग

आज परिवार से लेकर राष्ट्रीय जीवन तक में एक महारोग व्याप्त है और वह है ईर्ष्या, असूया! हमारा आदर्श है—गुणानुराग! गुणों पर प्रसन्न होना पर हम कर रहे हैं—एक दूसरे से ईर्ष्या, असूया, मात्सर्य! किसी व्यक्ति में कोई सद्‌गुण देखते हैं तो जहाँ प्रसन्न होना चाहिए वहाँ हमारा खाया-पीया भी जल जाता है। डाह से हृदय जल उठता है, सोचते हैं इसको यह क्यों? लोग इसकी प्रशंसा क्यों करते हैं? इसे जीवन में सफलता क्यों मिलती है? यहाँ तक देखा जाता है कि बेटे की बढ़ोतरी देखकर बाप जल उठता है, बहू की प्रशंसा सुनकर सास का मुँह उतर जाता है और शिष्य की स्तुति सुनकर गुरुजी का चेहरा फीका पड़ जाता है। यह कितनी ओछी वृत्ति है? क्या आपके मन में इतनी भी उदारता नहीं कि यदि किसी में कोई गुण है तो उसकी प्रशंसा करना तो दूर, उस पर प्रसन्न होना दर-किनार रहा, उल्टे उसे देख-सुनकर जल उठे! उससे ईर्ष्या करने लगे। और यह सोचें कि—लोग उसकी प्रशंसा क्यों करते हैं! "भाई! जहाँ फूल है, और उसमें सुगन्ध है, तो भौंरे आयेंगे ही, उसकी सौरभ हवा में फैलेगी ही। यदि आपसे नहीं सही जाती है तो यह आपकी बीमारी है, रोग है। उसी प्रकार गुणों की प्रशंसा नहीं सहना, गुणों की अभिवृद्धि से जलना भी एक प्रकार का मानसिक रोग है, और मैं तो इसे महारोग मानता हूँ।

पुरानी कथाओं में एक लोभी और मत्सरी की कहानी आती है। दोनों एक देवी की उपासना करने लगे। उपासना से देवी प्रसन्न हुई और लोभी के पास आई। बोली—"मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, माँग जो चाहिए सो! पर एक शर्त है, तुम दोनों ने साथ-साथ मेरी उपासना की है, इसलिए जो पहले माँगेगा, उससे दुगुना दूसरे को दूँगी।"

अब तो लोभी के हाथ-पाँव ठंडे पड़ गये। सोचा—'यह तो बहुत बुरा हुआ—मैं जो माँगूंगा तो मेरे पड़ोसी को अपने आप दो गुने मिल जावेंगे, तो अच्छा है, अपन तो मौन रहें, पहले उसे ही माँगने दो, वह जितना माँगेगा

हमारे यहाँ एक चातुर्मास में एक भाई ने मासखमण की तपस्या की थी। आर्थिक स्थिति उसकी बहुत साधारण थी। एक दिन उसकी चर्चा चली तो एक भाई ने कहा—"महाराज! यह बड़ा ढोंगी है, लोगों को चक्कर में लेता है। घर में तो चूहे मींगनी करते हैं, खाने-पीने का कोई अता-पता नहीं और अब मासखमण का ढोंग करके सब लोगों को चकमा दे रहा है। वाह-वाही भी हो जायेगी, प्रभावना में चार-छह महीने का खाने का इन्तजाम भी हो जायेगा। लोग तपस्वी जी के नाम से कुछ भेंट-पूजा भी कर देंगे।"—उस भाई की बात मैं सुनता रहा। सोचा—कैसी भावना है इनकी! जिस मासखमण के तपस्वी से हजारों लोगों में तपस्या की प्रेरणा जगती है, लोग उसकी प्रशंसा करते हैं और तप एवं तपस्वी की महिमा से अपनी कर्म निर्जरा करके पुण्य का बन्ध कर रहे हैं, उसी तपस्वी से यह उलटी अपनी आत्मा को पतित कर रहा है। मुझे याद आया भगवान महावीर की स्तुति में एक राजस्थानी सन्त कवि ने कहा है—भगवान को संगम देव ने भयंकर मारणांतिक कष्ट दिये, उनके रोम-रोम में वेदना जागृत करदी और जहाँ भी गये वहाँ उनके पीछे शिकारी कुत्ते लगाये, उन्हें चोर बताकर त्रास और पीड़ा पहुँचाई। संगम की उस करुण स्थिति और उस दुष्ट मनोभावना को देखकर भगवान मन में विचार करते हैं—

संगम दुःख दीधा घणा रे
तब चिंतै दीनदयाल।
जग उद्धार हुवै मो थकी रे
एह डूबै इण काल।
नहीं ऐसो दूसरो जग वीर······

भगवान सोचते हैं—"मुझसे प्रेरणा व उपदेश ग्रहण कर जहाँ हजारों-लाखों जीव अपना कल्याण करते हैं, वहाँ मुझे ही निमित्त बनाकर यह पामर जीव अपना अहित कर रहा है, घोर कर्म बन्ध कर रहा है—यह कैसी बात है?"

मैं बता रहा था जीवन की यही दो पद्धतियाँ हैं। जिन भगवान की स्तुति करने मात्र से जीव तीर्थङ्कर गोत्र बाँध सकता है, उन्हीं भगवान को निमित्त बनाकर संगम घोर पाप कर्म बाँधता रहा। वह अमृत से भी जहर लेता रहा, कल्पवृक्ष के पास जाकर भी उसके काँटे और शूलें ही बीनता रहा। तो इसी प्रकार हम अपने जीवन में जहाँ किसी तपस्वी को देखते है, किसी को दान करते देखते हैं, किसी को ब्रह्मचर्य धारण करते देखते है, किसी में भी, कहीं भी कोई सद्गुण का फूल खिलता हुआ देखते हैं तो उस भाई की तरह मक्खी

फूल चुनिए

यदि कोई अपना शत्रु है, उसमें भी कोई सद्गुण दीख पड़े—कोई विशेपता प्रतीत हो तो खुले दिल से उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। उसके अन्दर गुणों का विकास होता देखकर मन में प्रफुल्ल एवं आनन्दित होना चाहिए कि—"अहा! एक सद्गुण का फूल खिल रहा है, इसकी सौरभ से केवल हमारा परिपार्श्व, पास-पड़ोस ही नहीं, किन्तु समूचे राष्ट्र और संसार को एक मधुर महक मिलेगी।" इस प्रकार की भावना सच्चे सद्गृहस्थ की भावना है। आचार्य ने तो यहाँ तक कहा है कि सिर्फ विद्यमान गुणों को देखे और प्रशंसा करे इतना ही नहीं, किन्तु यदि कहीं परमाणु जितना भी सद्गुण दिखाई दे तो उसे ऐसा दिखाये कि जैसे कोई गुणों का मेरु ही हो—'पर-गुण परमाणून् पर्वतीकृत्यनित्यं' —दूसरे के परमाणु मात्र गुण को भी पर्वताकार करके बखान करे—इतना उदार और विशाल हृदय जिस सद्गृहस्थ का होता है, उसी से वास्तव में गृहस्थाश्रम धन्य होता है।

उससे दुगुना अपने आप ही मुझे मिल जायेगा।" अव लोभी सेठ चुप्पी साध कर बैठ गया।

देवी ने मच्छरी (ईर्ष्यालु) से कहा—और यही शर्त उसके सामने रखी। अव तो वह भी चुप हो गया। देवी ने एक-दो तीन वार कहा—"आखिर माँगते क्यों नहीं ? क्या वात है ?" पर दोनों ही जैसे कड़ी मौन साध कर बैठ गये। देवी को वड़ा रोष आया, झुंझलाकर वोली—"तुम्हें कुछ माँगना हो तो माँगो ! वर्ना मैं जाती हूँ।"

लोभी तो चुप रहा। मच्छरी ने सोचा—"क्या माँगू ? मैं जितना माँगूँगा उससे दुगुना उसे मिलेगा, तो यह तो मुझसे कभी वर्दाश्त नहीं हो सकता। वह कुछ वोलता नहीं है, तो इस दुष्ट को लोभ का ऐसा मजा चखाऊँ कि जिन्दगी भर याद रखे !" सोच-विचार कर कहा—"माता ! अच्छा तो मुझे जो दोगी उससे दुगुना उसे दोगी तो मुझे यही दो कि मेरी एक आँख फोड़ दो, और घर के सामने एक कुआँ खोद दो।"

अव तो लोभी का कलेजा काँप उठा। वह जोर से चिल्लाया—"माता ! मुझ पर दया करना ! मेरी दोनों आँखें तो मत फोड़ना, अन्धा हो जाऊँगा ! जिन्दगी वरवाद हो जायेगी।"

देवी झुंझलाई हुई थी, सोचा इन भाग्यहीनों के तकदीर में यही लिखा है, वस 'तथास्तु' कहा और एक की एक आँख फूट गई, दूसरे की दोनों !

यह है ईर्ष्या—असूया का फल ! आज भारतवर्ष के कोने-कोने में इस ईर्ष्या देवी का जाल विछा है। घर-घर में, वाप-वेटे में, सास-वहू में यही ईर्ष्या का रोग फैला हुआ है। और इसी कारण किसी की उन्नति, अभिवृद्धि एवं विकास नहीं हो पाता है।

गुणों को प्रोत्साहन दीजिए

समाजशास्त्र का यह नियम है कि जिस समाज में, जिस राष्ट्र में सद्गुणों को, प्रतिभा और ज्ञान को, सदाचार और नैतिकता को प्रोत्साहन नहीं मिलता वह समाज व राष्ट्र कभी उन्नति नहीं कर सकता। सद्गुणों के पुष्प प्रोत्साहन का जल-सिंचन पाकर, प्रशंसा और प्रेरणा की खुराक पाकर और अधिक विकसित हो सकते हैं। इसलिए आचार्यों ने गृहस्थ-जीवन में, समाज एवं राष्ट्र में सद्गुणों का विकास, एवं विस्तार करने के लिए यह सिद्धान्त वताया है कि—मनुष्य हमेशा गुणग्राही वने। जहाँ भी गुण देखे, अच्छाई देखे, उसकी प्रशंसा करे। संस्कृत की एक सूक्ति है—

शत्रोरपि गुणावाच्याः

यदि कोई अपना शत्रु है, उसमें भी कोई सद्गुण दीख पड़े—कोई विशेषता प्रतीत हो तो खुले दिल से उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। उसके अन्दर गुणों का विकास होता देखकर मन में प्रफुल्ल एवं आनन्दित होना चाहिए कि—"अहा! एक सद्गुण का फूल खिल रहा है, इसकी सौरभ से केवल हमारा परिपार्श्व, पास-पड़ौस ही नहीं, किन्तु समूचे राष्ट्र और संसार को एक मधुर महक मिलेगी।" इस प्रकार की भावना सच्चे सद्गृहस्थ की भावना है। आचार्य ने तो यहाँ तक कहा है कि सिर्फ विद्यमान गुणों को देखे और प्रशंसा करे इतना ही नहीं, किन्तु यदि कहीं परमाणु जितना भी सद्गुण दिखाई दे तो उसे ऐसा दिखाये कि जैसे कोई गुणों का मेरु ही हो—**'पर-गुण परमाणून् पर्वतीकृत्यनित्यं'** —दूसरे के परमाणु मात्र गुण को भी पर्वताकार करके बखान करे—इतना उदार और विशाल हृदय जिस सद्गृहस्थ का होता है, उसी से वास्तव में गृहस्थाश्रम धन्य होता है।

उससे दुगुना अपने आप ही मुझे मिल जायेगा।" अब लोभी सेठ चुप्पी साध कर बैठ गया।

देवी ने मच्छरी (ईर्ष्यालु) से कहा—और यही शर्त उसके सामने रखी। अब तो वह भी चुप हो गया। देवी ने एक-दो तीन बार कहा—"आखिर माँगते क्यों नहीं? क्या बात है?" पर दोनों ही जैसे कड़ी मौन साध कर बैठ गये। देवी को बड़ा रोष आया, झुंझलाकर बोली—"तुम्हें कुछ माँगना हो तो माँगो! वर्ना मैं जाती हूँ।"

लोभी तो चुप रहा। मच्छरी ने सोचा—"क्याँ माँगूं? मैं जितना माँगूंगा उससे दुगुना उसे मिलेगा, तो यह तो मुझसे कभी बर्दाशत नहीं हो सकता। वह कुछ बोलता नहीं है, तो इस दुष्ट को लोभ का ऐसा मजा चखाऊँ कि जिन्दगी भर याद रखे!" सोच-विचार कर कहा—"माता! अच्छा तो मुझे जो दोगी उससे दुगुना उसे दोगी तो मुझे यही दो कि मेरी एक आँख फोड़ दो, और घर के सामने एक कुआँ खोद दो।"

अब तो लोभी का कलेजा काँप उठा। वह जोर से चिल्लाया—"माता! मुझ पर दया करना! मेरी दोनों आँखें तो मत फोड़ना, अन्धा हो जाऊँगा! जिन्दगी बरबाद हो जायेगी।"

देवी झुंझलाई हुई थी, सोचा इन भाग्यहीनों के तकदीर में यही लिखा है, बस 'तथास्तु' कहा और एक की एक आँख फूट गई, दूसरे की दोनों!

यह है ईर्ष्या—असूया का फल! आज भारतवर्ष के कोने-कोने में इस ईर्ष्या देवी का जाल बिछा है। घर-घर में, बाप-बेटे में, सास-बहू में यही ईर्ष्या का रोग फैला हुआ है। और इसी कारण किसी की उन्नति, अभिवृद्धि एवं विकास नहीं हो पाता है।

गुणों को प्रोत्साहन दीजिए

समाजशास्त्र का यह नियम है कि जिस समाज में, जिस राष्ट्र में सद्गुणों ो, प्रतिभा और ज्ञान को, सदाचार और नैतिकता को प्रोत्साहन नहीं मिलता ह समाज व राष्ट्र कभी उन्नति नहीं कर सकता। सद्गुणों के पुष्प प्रोत्साहन ा जल-सिंचन पाकर, प्रशंसा और प्रेरणा की खुराक पाकर और अधिक विक- त हो सकते हैं। इसलिए आचार्यों ने गृहस्थ-जीवन में, समाज एवं राष्ट्र में गुणों का विकास, एवं विस्तार करने के लिए यह सिद्धान्त बताया है कि— ष्य हमेशा गुणग्राही बने। जहाँ भी गुण देखे, अच्छाई देखे, उसकी प्रशंसा । संस्कृत की एक सूक्ति है—

शत्रोरपि गुणावाच्याः

हमारे यहां दो दृष्टियां प्रसिद्ध हैं—निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि। इन्हें निश्चयनय और व्यवहारनय भी कहते हैं।

निश्चय में जो होना है, वह होता है; किन्तु साधारण मनुष्य उस निश्चय को समझ नहीं सकता। उसके लिए तो व्यवहार ही मुख्य होता है। यदि हम नियति पर विश्वास करके ही बैठ जाएँ—जैसा होना है हो जायेगा, हमें कुछ नहीं करना है, तो आप दिन भर भूखे बैठे रहें तब भी नियति आपके मुंह में ग्रास नहीं डाल सकती। वास्तव में तो नियति क्या है, यह भी आप नहीं जान सकते, फिर जिस नियति, या होनहार का आपको पता ही नहीं है उसके भरोसे हाथ पर हाथ धरकर कैसे बैठ जायेंगे? नियति आने के बाद ही मनुष्य को पता चलता है कि ऐसी ही नियति थी। इसलिए विचारशील आचार्यों ने कहा—पुरुषार्थ करता रहे, नियति के भरोसे नहीं बैठे। नियति का निर्माण कौन करता है? पुरुषार्थ ही से तो नियति बनती है। फिर नियति बड़ी कहां रही? जो नियति का भी निर्माता है वह तो पुरुषार्थ है। नियति तो सिर्फ इसलिए मानी जाती है कि कभी-कभी पुरुषार्थ करने पर जब वह असफल हो जाता है, तो उस स्थिति में व्यक्ति हताश, निराश एवं उदास न हो, दीनता न आये और मन का धैर्य टूटे नहीं, इसके लिए नियति पर विश्वास किया जाता है कि—हमने तो प्रयत्न किया, पर होनी ऐसी ही थी, नियति ऐसी ही थी, खैर! नियति हारे हुए का विश्राम है, पुरुषार्थी का विश्राम-स्थल नहीं है। पुरुषार्थ के पथ पर चलने से पहले ही नियति पर विश्राम कर लेना तो पुरुषार्थहीनता है। हां, पुरुषार्थ के असफल हो जाने पर नियति अवश्य ही मन को सान्त्वना एवं विश्रान्ति देती है। अतः आचार्यों ने कहा है—अपने पुरुषार्थ को, अपनी हिम्मत और जीवट को नियति की डोर से मत बांधो। यह जीवन तो उन्मुक्त कार्य-क्षेत्र है, पुरुषार्थ का रणक्षेत्र है—जो उद्योगी है, पुरुषार्थी है वही यहां श्री सम्पन्न होता है, उसे ही—उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी—उद्योगी का ही लक्ष्मी वरण करती है। इसलिए जीवन में निश्चयवादी अथवा नियतिवादी मत बनो, व्यवहारवादी रहो, वर्तमान पर दृष्टि रखो. और भविष्य को सामने रखो।

व्यवहारवादी बनिए

तो इस पुरुषार्थवादी तथा व्यवहारवादी दृष्टि को ही सामने रखकर आचार्यों ने कहा है—सद्गृहस्थ अपने मन को समझ कर उसके अनुसार प्रयत्न करता रहे, किन्तु हर प्रसंग में व्यवहारवादी दृष्टि अपनाए। यह नहीं कि जो मन में आया कर लिया, देखा जायेगा, जो होना है सो हो जायेगा। इस प्रकार के संकल्प एवं विचार बड़े खतरनाक होते हैं। जीवन के कभी-कभी ऐसे मुकाम

२५

देशकालोचित चर्या

एक संस्कृत की सूक्ति है—**समयज्ञो हि सर्वज्ञः**—अर्थात् जो समय को जानता है, वह सब कुछ जानता है। मनुष्य जिन देशकाल आदि की स्थितियों में चल रहा है, वह उनको जाने और साथ में अपने को भी पहचाने, अपनी स्थिति को भी समझे—अर्थात् लोक को और स्वयं को दोनों को पहचान कर, दोनों की परिस्थिति और शक्ति एवं सामर्थ्य को समझकर जो आचरण करता है वह समझदार कहलाता है, कभी किसी स्थिति में उसे पछताना नहीं पड़ता। अतः जीवन की इस मुख्य दृष्टि की ओर संकेत करते हुए आचार्यों ने कहा है—

अदेशाकालयोश्चर्या त्यजन्, जानन् बलाबलम्।

सद्गृहस्थ अपनी जीवन-चर्या को देश एवं काल के विरोध में नहीं जाने दे, अर्थात् अपने व्यवहार में, देश-काल की मर्यादा को समझकर चले, उनके विपरीत आचरण नहीं करे, और साथ ही यह भी नहीं कि किसी प्रभाव या भावावेश में आकर वह जाये, देश-काल का अंधानुकरण करने लग जाये। देश-काल के तकाजे के नाम पर अपनी शक्ति से बाहर दौड़ लगाने लग जाय, यह भी उचित नहीं है। अतः वह प्रत्येक चर्या में अपने बलाबल अर्थात् शक्ति-सामर्थ्य को तोलकर ही कदम बढ़ाये। यह गृहस्थधर्म का मार्गानुसारी बाईसवां और तेईसवां बोल है।

नियति के भरोसे न बैठो!

उपर्युक्त व्यवहार-सूत्रों पर विवेचन करने से पूर्व हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि हमारा दृष्टिकोण निश्चय प्रधान है या व्यवहार प्रधान! जीवन में किसका कितना स्थान है?

से हैं, इनका उद्देश्य लोक में प्रतीति, व्यवहार और एक सामान्य आचार-विधि बनाये रखना है। इनके विधि-निषेध का मूल कारण निश्चयधर्म नहीं, किन्तु व्यवहारधर्म है और साधक-जीवन के लिए कभी-कभी निश्चय से भी व्यवहार बड़ा बन जाता है।

मैं थोड़ा विस्तार में जाकर आपको यह बताना चाहता हूँ कि देश-काल के अनुसार साधु की आचार-परम्पराओं ने कितना मोड़ लिया है। शास्त्रों में साधु की भिक्षा-चर्या की विधि आती है। गौतमस्वामी का भी स्थान-स्थान पर वर्णन आता है कि वे भगवान से आज्ञा लेकर गोचरी हेतु गये। आपको मालूम है यह भिक्षाचरी किस प्रहर में होती थी? शास्त्रों के अनुसार साधु प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान तथा तृतीय प्रहर में भिक्षाचरी करते थे—"तइयाए भिक्खायरियं"[१]। और आज किस प्रहर में भिक्षाचरी होती है? दूसरे प्रहर में! यह परिवर्तन क्यों आया और कब आया? इसका भी इतिहास जरा देखिये और इसका कारण समझिये तो आपको देशकालानुसार चर्या का रहस्य समझ में आ जायेगा।

उस समय में प्रायः भोजन का समय दिन का तृतीय प्रहर होता था। मध्याह्नोत्तर में जब घरों में भिक्षा तैयार मिलती तो उसी समय में साधु भिक्षा के लिए जाते। कुछ सौ वर्ष बाद ही जब लोगों की परम्परा बदल गई, भोजन का समय बदल गया और साधु उसी तीसरे पहर में भिक्षा लेने जाते तो कहीं द्वार बन्द मिलते, कहीं चौका उठ गया होता, कहीं कच्चे जल आदि से चौका धोया रहता। इस प्रकार साधु भिक्षा के लिए जाते और बिना भिक्षा लिये ही लौट आते। इस स्थिति को देखकर ही आचार्य श्री शय्यंभव ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया—

अकाले चरसि भिक्खु कालं न पडिलेहसि।
अप्पाणं च किलामेसि सन्निवेसं न गरिहसि॥[२]

भिक्षु! तुम भिक्षा के काल को नहीं देखकर अकाल में भिक्षा के लिए जाते हो, यह ठीक नहीं। इससे तुम्हें भी खेद होता है, और गाँव की भी गर्हा होती है कि कैसा गाँव है जहाँ मुनियों को भिक्षा ही नहीं मिलती। इसलिए काल-असमय को छोड़कर उचित समय पर ही भिक्षा के लिए जाना चाहिए—"अकालं च विवज्जेत्ता काले कालं समायरे।"[३] प्रत्येक क्रिया उचित समय पर करना ही 'कालचर्या' है।

१ उत्तराध्ययन २६।१२ २ दशवैकालिक ५।२।५ ३ दशवैकालिक ५।२।४

ले आते हैं कि गृहस्थ-जीवन की स्थितियाँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं, पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों की कड़ियाँ टूट जाती हैं। इसलिए गृहस्थ को व्यवहार से कभी लापरवाह नहीं होना चाहिए। आचार्य जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ने कहा है—**ववहारोऽपि हु बलवं**[1]—संघ एवं समाज-व्यवस्था में व्यवहार ही सबसे बलवान है। साधक को व्यवहार की उपेक्षा करके मनमाने ढंग से स्वच्छन्द होकर नहीं चलना चाहिए। स्वच्छंदता से सामाजिक नियम टूटते हैं, व्यवहार बिगड़ता है और शिष्यों एवं आने वाली पीढ़ी के समक्ष गलत आदर्श उपस्थित होते हैं, गलत परम्पराएँ बनती हैं, और गलत नजीरें पेश होती हैं। अतः स्वच्छन्दता न सामाजिक जीवन के लिए हितकर है और न साधक जीवन के लिए। आचार्य ने कहा है—

न उ सच्छंदता सेया, लोए किमुत उत्तरे।[2]

स्वच्छंदता न लोक जीवन—(समाज) में हितकर है और न लोकोत्तर (साधु) जीवन में ही।

सद्गृहस्थ—चूंकि वह सामाजिक जीवन जीता है, इसलिए वह स्वच्छंदाचरण नहीं कर सकता, देशकाल की मर्यादाओं के विरुद्ध नहीं जा सकता। यदि इन परम्पराओं को तोड़ता है तो लोग उसे अविवेकी, स्वच्छंदाचारी एवं धर्मविरोधी मानने लग जाते हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा गिर जाती है और लोगों की नजर में वह एक प्रतिक्रियावादी, समाज-विरोधी व्यक्ति बन जाता है।

देशकाल का आचार

आप जानते हैं देशकाल के आचार का, सामाजिक विधि-व्यवहारों का महत्त्व न सिर्फ गृहस्थ के लिए है, किन्तु साधक मुनि के लिए भी उतना ही है। उत्तराध्ययनसूत्र में केशी-गौतम का संवाद बहुत महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक संवाद है। वहाँ केशीस्वामी गौतमस्वामी से पूछते हैं [illegible] तीर्थंकरों के साधु किसी भी प्रकार के रंगीन वस्त्र पहन लेते हैं, [illegible] प्रतिक्रमण कर लेते हैं—आदि बहुत से ऐसे आचार हैं, जिनका [illegible] ने निषेध किया है और कुछ नये आचारों की प्ररूपणा भी की है [illegible]

गौतमस्वामी का एक [illegible] आता है [illegible] ही वाक्य में कह दिया है—लोगे [illegible] ये सब [illegible] हैं—

---

१ आवश्यक निर्युक्ति, [illegible] व्यवहारभाष्य

२ उत्तराध्ययन २३।३२

"शिष्ट पुरुषों के भी ऐसे अनेक आचरण हैं जो वास्तव में धर्म-विरुद्ध थे। ये ईर्ष्या-द्वेष आदि दुर्वृत्तियों के फलस्वरूप हैं। ये दुराचरण अवतारों में भी देखे जाते हैं।" उसने ऐसे अशिष्टाचरण के बारह उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जो सामान्य नीति के भी विरुद्ध थे।[1] और आखिर में उन पर लीपापोती करते हुए कहा है—"दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम्।[2] ...तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः[3]—श्रेष्ठ लोगों ने अपना साहस दिखाने के लिए अनेक धर्म-विरुद्ध कार्य किये हैं, उन्हें कोई दोष नहीं लगा, किंतु यदि और कोई ऐसा आचरण करेगा तो वह नरक में पड़ेगा।" मैंने कहा—यह तो 'सर्वं बलवतां पथ्यम्'[4] "समरथ को नहिं दोष गुसांई," का सिद्धान्त है, नीति का कोई मापदण्ड नहीं है। इसलिए आप जिन्हें महापुरुष कहते हैं, उनका चरित्र नहीं, किंतु कथित ही आदेय हो सकता है। जो कुछ पुराना है, वह सब ठीक है, उचित है, और उसी पर चलते चलना यह कोई नीति नहीं है—पुराणमित्येव न साधु सर्वम्—पुराना (अथवा पुराण का वाक्य) होने से ही सब अच्छा है, ऐसा नहीं हो सकता। व्यक्ति को प्रत्येक देशकाल में उसकी उचितता देखनी चाहिए। जैनसूत्रों में भी स्पष्ट कहा है—पण्णा समीक्खए धम्मं[5]—धर्म के सिद्धान्तों को बुद्धि से परखना चाहिए, अंधानुकरण तथा अविवेक के साथ स्वीकार नहीं करना चाहिए। यह बात सिर्फ जैनधर्म ने ही नहीं, किंतु श्रुति-स्मृतिवादी वैदिक धर्म ने भी मानी है। उन्होंने भी कहा है—दो स्मृतियों के वचन जहां टकराते हों, वहां व्यवहार पर आधारित तर्क को प्रमुखता देनी चाहिए।[6] केवल शास्त्रों का आग्रह तो धर्म की हानि करता है—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो हि निर्णयः।
युक्तिहीने विचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥[7]

संसार में व्यवहार ही सबसे अधिक बलवान है—व्यवहारो हि बलवान्[8] —आचार्य जिनभद्र के शब्दों में—ववहारोऽपि हु बलवं—व्यवहार ही जीवन का सबसे प्रमुख निर्णायक तत्त्व है और उसी को आधार मानकर आचार्य ने कहा

१ देखिए धर्मशास्त्र का इतिहास भा० पृष्ठ ६५६
२ गौतम धर्मसूत्र, १।३-४।२४
३ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २।६।१-१६
४ महाभारत आश्रम० पर्व ३०
५ उत्तराध्ययन २३
६ याज्ञवल्क्यस्मृति २।२१
७ व्यवहार मयूख पृष्ठ ७
८ नारदस्मृति १।४०

मर्यादा और विकास

इस प्रकार जैनधर्म के महान् आचार्यों ने जीवन के लिए दोनों दृष्टिकोण सामने रखे हैं, मर्यादा के अनुकूल एवं देशकाल के अनुसार। यहाँ स्वच्छंदता का निषेध भी है, और समयानुकूल विकास का, परिवर्तन का अवसर भी है। हमारे यहाँ एकांत हठवाद नहीं, जिसे आजकल रूढ़िवाद या यथास्थितिवाद कहते हैं, कि जो कुछ पुरानी मर्यादा है, पुरानी परम्परा है उसे आँख बंद करके निभाते चलो, और एकांत क्रांति का आग्रह भी नहीं कि जो कुछ पुराना है, उसे क्रांति के नाम पर मिटाते चलो। यहाँ तो मर्यादा को भी अवकाश है और विकास को भी। जिन परम्पराओं का औचित्य देशकाल के अनुसार बदल गया है, उन्हें ढोते रहने से भी कोई लाभ नहीं। उन्हें बदला जा सकता है, और समय-समय पर बदली गई हैं—यह आपके समक्ष मैंने एक दो उदाहरणों से स्पष्ट किया भी है। तथा जो परम्पराएँ अति आवश्यक हैं, उन्हें निभाना भी हमारा धर्म है। साथ ही देशकाल के अनुसार शुद्ध नई परम्परा का विकास करना और उसे मान्य करना भी हमें स्वीकार्य है चूँकि हम अनेकांतवादी, जिसे वर्तमान प्रसंग की भाषा में कहूँ तो व्यवहारवादी हैं। हाँ, व्यवहारवाद और अवसरवाद में अंतर है। व्यावहारिकता एक सिद्धान्त है, नीति है, उसके पीछे परम्परा और शास्त्र का बल होता है जबकि अवसरवाद के पीछे सिर्फ स्वार्थों का बोलबाला होता है।

क्या पुराना सब ग्राह्य है ?

मैं एक शहर में था। वहाँ एक पुराने विचारों के वैदिक विद्वान कभी-कभी तत्त्व-चर्चा करने को आया करते थे। एक बार बात चली तो उन्होंने कहा— **सर्व एव हि धर्माणां प्रमाणं परमं श्रुतिः**—"जो श्रुति एवं स्मृतियों में लिखा है वह सब धर्म है, वही हमारे आचार एवं आदर्श का निर्णायक है।" मैंने कहा— "यह ठीक है कि आपका श्रुति-स्मृति पर विश्वास है, किंतु यह तो कोई न्याय नहीं कि जो उसमें लिखा है, वही समस्त आर्य जाति का धर्म है, उसके विरुद्ध कुछ भी करो, अधर्म है।" पंडित जी अधिक आग्रह में उतर गये और बोले— "जो-जो हमारे पूर्व पुरुषों का आचार है, हमें उसी का अनुसरण करना चाहिए।"

मैंने उन्हें बताया—"महापुरुषों ने जो सब कुछ किया वह हमारा आदर्श नहीं, किंतु उन्होंने जो उचित किया, वही हमारा आदर्श होना चाहिए।" मैंने वैदिक ग्रंथों के एक दो स्थल बताये जो सातवीं सदी के महान् वैदिक विद्वान कुमारिल ने अपने तंत्रवार्तिक में निर्दिष्ट किये हैं। कुमारिल ने लिखा है—

है, जितना शुरू करके बीच में छोड़ देना, या उसमें वर्बाद हो जाना। हमारे यहाँ एक कहावत है, कि 'माँ ने नाता किया', तो कहा—"बुरा किया।" फिर कहा—'करके छोड़ दिया' तो "बहुत बुरा किया।" तो इसी प्रकार लोगों के कहने से झूठी वाह-वाही के लिए या भावना के वश में होकर कभी भी अपनी शक्ति के उपरान्त कदम नहीं बढ़ाना चाहिए। नीति की कहावत है—"ते ते पाँव पसारिए जेती लांबी सोड़"—जितनी अपनी शक्ति है, उतना ही काम करिये। लोक दिखाऊ करना—घर फूंक कर तमाशा दिखाना मूर्खता है।

शेखी न बघारो

कुछ लोगों की आदत होती है—चूहे की खटखट से कलेजा धड़कता है, और शेरों के शिकार की बातें करते हैं। वे झूठी शेखी बघारते हैं, अपनी बड़ाई के पुल बांधते है—हमने यों किया, हम यों कर सकते हैं, और जब समय आकर पड़ा तो बस—टांय-टांय फिस। बातें बनाने में 'मेरा नाम शेर सिंह' और काम पड़ा तो 'मेरा नाम पिचकणिया।' सद्‌गृहस्थ को ऐसी झूठी डींगे नहीं हाँकनी चाहिए। झूठी शेखी मारने वाला समय पर बड़ी बुरी तरह पछताता है, और भयंकर आपत्ति से गुजरना पड़ता है।

एक कहानी है—एक जंगल में खरगोश, साँप और कछुए की दोस्ती थी। तीनों ने एक बार विचार किया कि जंगल में कभी उपद्रव हुआ, जान पर जोखिम आई तो क्या करना चाहिए। खरगोश को ज्यादा डर लग रहा था, इसलिए उसने कहा—"सोचो, यदि जंगल में आग लग गई तो उस समय हम क्या करेंगे?"

सर्प ने हँसकर कहा—"मित्र! तुम इतने क्यों घबराते हो? मेरे पास सौ अक्ल हैं, किसी न किसी अक्ल के पुर्जे को घुमाऊँगा और तुरन्त बचने का उपाय ढूंढ लूंगा, इसलिए तुम घबराओ मत!"

कछुए ने भी व्यंग्य कसते हुए कहा—"मेरे पास भी पचास अक्ल हैं, तुम्हारी रक्षा के लिए एक ही काफी है।"

खरगोश ने लम्बी साँस लेकर कहा—फिर अच्छी बात है। सर्प ने पूछा—तुम्हारे पास भी कुछ अक्ल है या नहीं?

खरगोश—"भैया! मेरे पास तो एक ही अक्ल है।" हँसकर कछुए ने कहा—"कोई बात नहीं, हमारी अक्ल से तुम्हारी रक्षा कर लेंगे।"

एक दिन जंगल में आग लग गई। चारों ओर ज्वालाएँ भड़कने लगीं। खरगोश ने घबराकर साँप से कहा—"भैया! अब कोई अक्ल लड़ाओ। जान

है—अपने आचार-विचार को, जीवन-चर्या को देशकाल के अनुसार रखना चाहिए।

अविरोधी आचरण

देशकालानुकूल के साथ आचार्य ने अदेश-अकाल—दो शब्द लगाये हैं जिनसे एक भाव और ध्वनित होता है कि जो आचार जिस देश एवं जिस समय के प्रतिकूल हो, उसका त्याग कर देना चाहिए। इसका मतलब है व्यक्ति को देश एवं समय की स्थिति को पहचानना चाहिए। शास्त्रों में बताया है—**खित्तं कालं च विन्नाय तहप्पाणं निउंजए**—साधक क्षेत्र-काल की अनुकूलता देखकर अपना आचरण करे, वैसी क्रिया करे जो वर्तमान समय में उपहासास्पद न हो, गर्हणीय न हो। कुछ पुराने रीति-रिवाज जो किसी समय में बड़े सम्माननीय माने जाते थे, आज वे सिर्फ कहानियों की बातें बन गई हैं। आपके देखते-देखते अनेक ऐसी सामाजिक परम्पराएँ लुप्त हो गईं हैं जो किसी समय में बड़ी प्रतिष्ठाजनक मानी जाती थीं। माता-पिता का मोसर किसी जमाने में बड़ी आवश्यक सामाजिक रीति थी। लोक सब कुछ स्वाहा करके भी माँ-बाप का मोसर करते थे। पर आज यदि कोई करता है तो आप उसे क्या कहेंगे—"मूर्ख है, घर फूंक कर तमाशा कर रहा है।" इसी प्रकार पुरानी वेषभूषा, राजाओं जैसी पोशाक, किसी समय में बड़ी गौरव की बात समझी जाती थी, पर आज यदि कोई खीमखाप या जरी का कोट, साफा और साफे पर तुर्रा लगाकर घर से निकले तो? या तो समझेंगे दूल्हा है, या फिर कोई बहुरुपिया है? आज तो दूल्हे भी टेरेलीन के कोट-पेंट और काले बूट पहन कर खुले सिर घूमना पसन्द करते हैं। तो यह रहन-सहन, खान-पान, वेष-भूषा एवं रीति-रिवाज में जो परिवर्तन आया है–सद्‌गृहस्थ को उसे मान्य करना पड़ता है। युग के विरोध में, हवा के प्रतिकूल चलना—समझदारी नहीं होती। हाँ, अविवेकपूर्वक युग का, फैशन का अन्धानुकरण करना भी मूर्खता है, अतः दोनों स्थितियों में ही उसे देशकाल की अविरोधी दृष्टि से चलना चाहिए। **देशकालोचितं कर्म कुर्वन्नैव विषीदति**—देश एवं काल के योग्य, उचित कार्य करता हुआ सद्‌गृहस्थ कभी दुःखी नहीं होता। यही आज के प्रवचन का बाईसवाँ बोल है।

शक्ति को पहचानो!

तेईसवें बोल में आचार्य ने बताया है—जानन् बलाबलम्—देशकाल के उपयुक्त आचरण में भी गृहस्थ को अपनी सामर्थ्य का विचार करके ही कार्य करना चाहिए। यदि आप में सामर्थ्य नहीं है तो लोक चाहे जो कहें, पर उस कार्य में हाथ नहीं डालना चाहिए, क्योंकि कोई काम न करना उतना बुरा नहीं

२६

इनका सन्मान करिए

एक विचारक ने कहा है—"जिस समाज व देश में सदाचारियों का, ज्ञानियों (विद्वानों) का, वृद्धों एवं स्त्रियों का आदर होता है, उस देश व समाज से स्वर्ग भी ईर्ष्या करता है।" इसी बात को एक दूसरे रूप में आज से लगभग हजार वर्ष पूर्व आचार्य हेमचन्द्र ने यों प्रस्तुत किया था—

'व्रतस्थ ज्ञानवृद्धानां पूजकः'

सद्गृहस्थ त्यागी, व्रती एवं ज्ञानीजनों की सेवा करे, आदर करे। मार्गानुसारी बोलों में यह चौबीसवाँ बोल है। और यह इतना महत्वपूर्ण है कि इसी बात के आधार पर समाज में सदाचार एवं ज्ञान की प्रतिष्ठा तथा विकास संभव होता है।

उपर्युक्त सूत्र में दो बातें कही हैं—व्रतस्थ अर्थात् व्रतों का पालन करने वाला, और ज्ञानवृद्ध अर्थात् विद्वान्! ज्ञानी! इन दोनों की पूजा करना सद्गृहस्थ का धर्म है।

व्रत का महत्त्व

भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में कहा जाता है—भारत आर्थिक दृष्टि से कृषि प्रधान देश है, और सांस्कृतिक दृष्टि से ऋषि प्रधान! किसी युग में भारत का अधिकांश मानव-समाज कृषि पर ही अवलंबित था। आज भी जितना बड़ा वर्ग कृषि पर जीता है; उतना अन्य उद्योग-धंधों पर नहीं। इसीलिए भारत संसार में 'कृषि प्रधान' देश कहलाता है। सांस्कृतिक तथा धार्मिक दृष्टि से भारत का मानस, लोकजीवन हमेशा—'ऋषि प्रधान' रहा है। यहाँ के जन मानस में ऋषियों के प्रति अनन्य श्रद्धा, भक्ति व आदर रहा है, और जनता उन्हें ही अपना आदर्श एवं आराध्य मानती आई है।

पर जोखिम आ रही है।" साँप ने कहा—"घवराओ नहीं ! अभी तो आग वहुत दूर है, तव तक कुछ न कुछ सोच लूंगा।" यही उत्तर कछुए ने भी दिया। वार-वार कहने पर भी साँप और कछुए ने कोई हरकत नहीं की, तो खरगोश ने वहाँ से कुलांचे भरी और नमस्ते करके कहा—"अच्छा ! भइया, तुम दोनों अपनी डेढ़ सौ अक्ल से अपनी रक्षा करना, मैं तो दौड़ रहा हूँ। खरगोश एक सूखी खाई में दौड़कर चला गया, आग की लपेट में साँप और कछुआ भस्म हो गये। इस पर कवि ने कहा—

√ सौ की हो गई सेलड़ी, पचासां की दड़ी।
आछी म्हाँरी एकली लम्बे खाल खड़ी !

"सौ अक्ल वाले की समय पर जलकर रस्सी वन गई, पचास अक्ल वाला जलकर गेंद वन गया, वस मेरी तो एक ही अक्ल ठीक रही कि आपत्ति को देखकर भाग जाना, तो आज मैंने अपनी रक्षा करली।"

तो यह है शेखीवाजों की दशा। शेखीवाज अपनी सही स्थिति से, सही शक्ति से अनजान रहता है। कल्पना-लोक में रहता है, सपने देखता है कि वस मिनटों में यों कर दूंगा, पर जव आपत्ति आ जाती है, तो सारी सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती है और अपना सर्वस्व ही वर्वाद कर डालता है।√

इन आपदाओं से वचने के लिए आचार्य ने कहा है—सद्गृहस्थ हमेशा अपनी स्थिति को पहचान कर चले। अपनी शक्ति के उपरान्त, दिखावा न करे प्रदर्शन न करे, होड़ न करे और ऐसी वातें भी न वनाये जो उसे यथार्थ से दूर अन्धकार में पटक दें, वह कल्पना में भटक जाये और समय पर अपना अस्तित्व अपने हाथों से ही मिटा दे। अतः उसे हमेशा देशकाल की मर्यादा का ध्यान रखना चाहिये, और अपनी शक्ति को पहचान कर ही कार्य करना चाहिए।

ही कठिन है। जो वीर, दृढ़व्रती और महान आत्मबली होते हैं वे ही इस अग्नि-पथ पर कदम बढ़ा सकते हैं। इस स्थिति में साधारण जन का यह कर्त्तव्य है कि स्वयं जिस महान पथ पर नहीं बढ़ सकता हो, तो जो उस महापथ पर चल रहे हों, उन त्यागी, व्रती महापुरुषों को अपना आदर्श मानकर उनसे प्रेरणा ले, उनके आत्म-ज्वल की लौ से अपने आत्म-ज्वल के दीपक को भी प्रज्वलित करने का प्रयत्न करे। उनकी संगति करे, सेवा करे, उनका सम्मान करे और उनकी वाणी एवं व्यवहार से सतत शिक्षा लेता रहे, ताकि उसके जीवन में भी त्याग व संयम की प्रकाश किरणें प्रवेश कर सकें। इसी दृष्टि से आचार्य ने बताया है कि सद्गृहस्थ, जो स्वयं त्याग के कठोर मार्ग पर अभी तक नहीं चल सका है, वह अपने गृहस्थ आश्रम में रहता हुआ भी त्यागी जनों की सेवा करे, व्रती जनों की पूजा और अनुकंपा करता रहे तो अपने जीवन को उन्नत बना सकता है।

सेवा का शुभ फल

त्यागी और व्रती जनों की सेवा के पीछे कई महान हेतु छिपे हुए हैं। एक व्यावहारिक हेतु तो यह है कि त्यागी-व्रतीजनों को आदर्श मानने से और उनका सेवा-सत्कार करने से समाज में त्याग का गौरव बढ़ता है, त्याग के प्रति ऊँची भावना बनती है, और उनके जीवन से लोग प्रेरणा ग्रहण करते हैं। दूसरा एक सैद्धान्तिक कारण भी बताया गया है। व्रतीजनों की सेवा से सातावेदनीय कर्म का बंध होता है और प्राणी को सुख प्राप्त होता है।

संसार के समस्त प्राणी सुख चाहते हैं। आचारांगसूत्र में भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा है—"सव्वे पाणा···सुह साया दुक्खपडिकूला"[1] समस्त प्राणी चाहे वह कीड़ी है, या कुंजर, क्षुद्रतम मानव है या स्वर्गाधिपति इन्द्र, सभी सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता। "सुखकामानि भूतानि"[2]—प्राणीमात्र की कामना है—सुख मिले। पर, प्रश्न यह है कि सुख कैसे मिले। वह कोई फल तो नहीं है जो किसी पेड़ पर लटक रहा हो, उसे तोड़ लिया जाय, या कहीं से खरीद लिया जाय? यदि कहीं बाहर से सुख मिल पाता, बाजार या जमीन में कहीं सुख पैदा होता तो जितने धनिक हैं, वे तो कभी के ही खरीद लेते। फिर बिचारे गरीबों को तो सुख नसीब ही नहीं होता? पर, ऐसा नहीं है। सुख अपने ही भीतर से प्रगट होता है, आत्मा में ही सुख-दुःख के बीज छिपे हुए हैं।

---

१ आचारांग—१।२।३ २ उदान २।३

कोई पूछे कि ऋषियों का आदर क्यों रहा है ? इसका उत्तर है, उनके त्याग के कारण ! वैभव, वल, समृद्धि, साम्राज्य में तो वड़े-वड़े चक्रवर्ती, सम्राट, वड़े-वड़े विश्वजयी योद्धा और अपार वैभवशाली अनेकों हो गये हैं, किंतु जनता ने कभी उन्हें श्रद्धा के साथ पूजा हो, ऐसा कहीं आज तक सुनने में नहीं आया। मैं देखता हूँ भारतवर्ष में ऋद्धि की जगह सिद्धि की पूजा हुई है, भोग की जगह त्याग की प्रतिष्ठा हुई है। और अक्षय वल-वैभव के स्वामी चक्रवर्ती आदि स्वयं भी ऋषियों के चरणों में सिर झुकाते रहे हैं। उनकी चरणधूलि को सिर पर लगाकर अपने को धन्य मानते रहे हैं। उनके आदेश-उपदेश को जीवन का आदर्श मानकर उस पर चलते रहे हैं। उनके वचनों को अपनी संस्कृति का प्राणतत्त्व मानकर जी-जान से उसकी रक्षा करते रहे। अतः स्पष्ट है कि हमारी संस्कृति ऋषिप्रधान, अर्थात् त्याग-प्रधान संस्कृति रही है।

भोग में मनुष्य स्वच्छन्द होकर चलता है, जवकि त्याग-मार्ग में उसे अपने आप पर संयम एवं नियंत्रण करके चलना पड़ता है। अपने आप पर संयम वही कर सकता है, जिसकी आत्मा में वल होगा। जिसका आत्मवल, एवं मनोवल वहुत ऊँचा और सुदृढ़ होता है, वही व्यक्ति आत्म-संयम के असिधारा पथ पर चल सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र में एक उल्लेख आता है— राजकुमार मृगापुत्र जो अत्यन्त रूपवान, सुकुमार एवं किशोर था। एक दिन उसके मन में वैराग्य की लौ जल उठी। अपार राज्यवैभव, संसार के मधुर कामभोग उसे फीके और भयावने लगने लगे। उसने माता-पिता से संसार त्याग कर संयम लेने की आज्ञा माँगी। तव माता-पिता ने कहा—"वेटा ! कहाँ तुम सुकुमार गुलाव के फूल से भी अधिक कोमल, और कहाँ संयम का कंटकाकीर्ण मार्ग ? उस मार्ग पर चलना वड़े-वड़े वीरों के लिए भी कठिन है, वड़े-वड़े योद्धा भी उस पथ पर चलने से कतराते हैं। अग्नि की जलती हुई ज्वालाओं में से निकल जाना उतना कठिन नहीं है, जितना कठिन है यौवन अवस्था में संयम के पथ पर कदम वढ़ाना। अपार महासागर को भुजाओं से तैर जाना कठिन है, किंतु यह त्याग का महासागर तैरना तो उससे भी अधिक कठिन, वहुत कठिन है।"[1]

तो मैं वता रहा था कि त्याग का मार्ग साधारण मनुष्य के लिये वहुत

---

१ जहा अग्गिसिहा दित्ता पाउं होइ सुदुक्कर।
तहा दुक्करं करेउं जे तारुण्णे समणत्तणं॥ ४०
जहा भुयाहिं तरिउं दुक्करं रयणागरो।
तहा अणुवसन्तेणं दुक्करं दमसागरो॥ —उत्त० १९।४३

इस सेवा को सौदा मत समझ लीजए। 'यहाँ साधुओं की सेवा करो, ताकि आगे सुख मिले'—यह उद्देश्य समीचीन नहीं है। साधुओं की सेवा तो कर्म-निर्जरा के लिए होनी चाहिए। हाँ, जब अशुभ कर्म की निर्जरा होगी, और शुभ कर्म का बन्ध होगा तो सुख तो अपने आप मिल ही जायेगा। बहुत से भोले भाई और बहनें यह सोच लेते हैं कि "जैसे वैदिक लोग पितरों को तर्पण देने के लिए ब्राह्मणों को माल खिलाते हैं, और ब्राह्मण भी उन्हें यह समझाते हैं कि जैसा हमें खिलाओगे, वैसा ही आगे तुम्हारे पितरों को मिलेगा, जैसे ब्राह्मण का पेट कोई 'लेटर बक्स' है, जिसमें जैसी चिट्ठी डाली वैसी ही आगे अपने स्थान पर पहुँच जायेगी, यदि मिष्टान्न खिलाया तो मिष्टान्न मिलेगा, और बासी अन्न खिलाया तो बासी अन्न मिलेगा, वैसे ही साधु-सन्तों को अच्छे से अच्छा भोजन, वस्त्र आदि देंगे तो हमें भी आगे अच्छा भोजन, वस्त्र आदि मिलेंगे।" भाइयो! यह धारणा बहुत ही भूलभरी और गलत है।

जैनधर्म इतना अंधविश्वासी धर्म नहीं है, कि वह अन्न-वस्त्र आदि पर ही मनुष्य के परलोक का निर्णय करता रहे, और जैसा अन्न-वस्त्र दिया, वैसा ही आपको परलोक में दे दे। वह तो बहुत ही विचारप्रवण धर्म है, बीज को वट के रूप में विस्तार देने वाला है। जैसा दिया, वैसा ही आगे मिल गया, यह तो बहुत ही साधारण बात है। इससे तो गाय ही अच्छी जिसे आप फीका घास देते हैं, और वह आपको मीठा दूध देती है। क्या साधु गाय से भी निम्न-स्तर पर है? भूमि को कड़वी खाद देते हैं, फिर भी वह मधुर अन्न और रस पैदा करती है। तो क्या साधुजन भूमि जितनी भी महानता नहीं रखते? वास्तव में साधुजनों की सेवा में वस्तु की नहीं, भावना की कीमत है! जैन-धर्म वस्तुवादी नहीं, भावनावादी धर्म है। आपने सुना होगा भगवान नेमिनाथ और राजीमती के जीव ने पूर्वभव में जब वे शंख राजा के रूप में थे, मासखमण के तपस्वी मुनि को क्या दान दिया था? क्या खीर-खांड का दान या कोई श्रेष्ठ रस का दान किया था? नहीं, दान में तो वहां उपलब्ध था दालों का धोवण! किन्तु भावना उनकी कितनी ऊँची थी, और उसी शुभ एवं तीव्र भावना के कारण उन्होंने कितने महान् पुण्यों का उपार्जन किया? शालिभद्र पूर्व जीवन में संगम नाम का ग्वाला था, और मासखमण के तपस्वी मुनिराज को भिक्षा में खीर बहराई थी। खीर का महत्त्व नहीं, किन्तु महत्त्व है संगम की भावना का, वह कितनी स्वच्छ और पवित्र थी! शालिभद्र जी का सौभाग्य जानने वाले जानते हैं कि उनके जैसी ऋद्धि-समृद्धि महाराज श्रेणिक के राज-महल में भी उपलब्ध नहीं थी। जैसा देवे, वैसा मिले तो फिर उसे अगले जन्म में खीर ही मिलनी चाहिए थी, इतनी अपार समृद्धि कैसे मिली?

मानव ! तेरे अन्तरतम में
छिपा हुआ सुख का अमृत-घट !
और दुखों की ज्वालाएँ भी
वहीं किया करती हैं लट-लट !

तो इसलिए सुख और दुख का आधार आत्मा है, और उसका निमित्त है कर्म। शुभकर्म—सुख का कारण है, अशुभ कर्म दुःख का। जैनदर्शन के अनुसार वेदनीय कर्म सुख-दुःख का कारण बनता है। सातावेदनीय सुख का कारण है, और असातावेदनीय दुःख का। सातावेदनीय कर्म के बंध के कारणों की मीमांसा करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में बताया है—

भूतव्रत्यनुकंपा दानंसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य।

—तत्त्वार्थसूत्र ६।१३

अर्थात् जीवों की अनुकंपा, व्रतीजनों की अनुकंपा, दान, सराग संयम, क्षमा आदि ये सब सातावेदनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं। अन्य विषयों के विवेचन में नहीं जाकर मैं यहाँ आपको व्रतीजनों की सेवा अनुकंपा पर ही विस्तार से बताना चाहता हूँ कि व्रतीजनों की सेवा करने से, उनकी अनुकंपा अर्थात्—अन्न, पानी, वस्त्र, वसति आदि साधनों से उनको साता पहुँचे ऐसा प्रयत्न करते रहने से प्राणी सातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है। उसे इस जन्म में तथा अगले जन्म में सुख की प्राप्ति होती है। शारीरिक, मानसिक समाधि का लाभ होता है। भगवतीसूत्र में गौतमस्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान कहते हैं—

समाहि कारएणं तमेव समाहि पडिलब्भइ।

—भगवतीसूत्र ७।१

जो प्राणी श्रमण, त्यागी-व्रतीजनों को सुख एवं समाधि पहुँचाता है, उसे सुख एवं समाधि प्राप्त होती है। भरत चक्रवर्ती, बाहुबलिजी, आदि के अनेक उदाहरण आपके सामने सुनाये जाते हैं। भरतजी ने पूर्व जीवन में मुनिजनों की सेवा करके उन्हें समाधि पहुँचाई और उस सेवा के फलस्वरूप चक्रवर्ती की अपार ऋद्धि-सिद्धि के स्वामी बने। तो बन्धुओ ! व्रती-त्यागी जनों की सेवा का यह सैद्धान्तिक पहलू है कि व्रतीजनों को सुख-साता पहुँचाने से सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है, और फलस्वरूप जीव को अनेक प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है।

भावना भी पवित्र रखिए

इसी के साथ एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि व्रतीजनों की

में खड़ा देखता है। सोचता है—भगवान ने बेला किया होगा, कल तो जरूर पारणा करेंगे। पहले दिन की तरह आज भी प्रार्थना करता है—"प्रभो! कल जब आप पारणे के लिए पधारें तो मुझ अकिंचन का घर भूल न जाना। प्रभो, कल तो अवश्य ही कृपा करना।" वह गृहस्थ पुनः तीसरे दिन आता है और भगवान को ध्यानस्थ देखकर चौथे दिन के लिए प्रार्थना करता है। इस प्रकार उसे प्रार्थना करते-करते चार महीने बीत गये। उसका धैर्य भी अटूट था, रोज वह दर्शन करने आता, और प्रार्थना कर जाता। आखिर चार महीने निकल गये। चौमासा बीत गया, उसने सोचा—"कल तो भगवान् यहाँ से विहार करेंगे, और तब अवश्य ही मेरी भावना सफल करेंगे। चार महीने से मैं प्रार्थना कर रहा हूँ, उस पर प्रभु अवश्य ही ध्यान देंगे।" हमेशा की तरह वह प्रार्थना करके घर चला जाता है। इधर दूसरे दिन वह घर पर बैठा प्रभु के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है, भावना की विशुद्ध धारा में बह रहा है, और उधर भगवान भिक्षा के लिए घूमते-घूमते किसी और के द्वार पर पहुँच जाते हैं। वह नगर का नया श्रीमंत था उसका नाम था पूर्ण! भगवान् को द्वार पर आया देखकर उसने सोचा कोई भिक्षुक आया है, घर पर आया अतिथि भूखा नहीं जाये इसलिए उसने दासी से कह दिया, "देखो कोई भिक्षुक आया है, उसे कुछ दे दो।" सेठ ने भी जब द्वार पर फले हुए इस कल्पवृक्ष को नहीं पहचाना तो बिचारी दासी कैसे पहचान पाती? उसने घर में से चाटू भर कर उड़द के बाकले दे दिए। भगवान् ने जैसे ही बाकले ग्रहण कर पारणा किया तो आकाश में 'अहोदानं अहोदानं' की उद्घोषणा होने लगी, देव-दुंदुभि बजी, और साढ़े बारह लाख रत्नों की वर्षा हुई।

नगर में चारों तरफ पूर्ण की प्रशंसा होने लगी। वह धन्य है, भगवान को उसने दान दिया है। सब की जबान पर पूर्ण का नाम नाचने लगा। एक बार जब कोई मुनिराज उस नगर में आये, तो लोगों ने पूछा—"महाराज! इस नगर में सबसे बड़ा धर्मात्मा कौन है?" मुनि ने कहा—"जीर्ण सेठ।" लोगों को आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—"यह उल्टी बात कैसे? भगवान को दान तो दिया पूर्ण सेठ ने और आप नाम लेते हैं—जीर्ण सेठ का?"

मुनि ने इन दोनों का रहस्य खोला—"जीर्ण सेठ चार महीने तक लगातार भगवान से प्रार्थना करता रहा, और घर पर बैठा भावना भाता रहा। जिस दिन भगवान पारणा के लिए पधारे उस दिन भी वह भगवान की प्रतीक्षा करता हुआ निर्मल भावना भाता रहा। उसकी भावना की श्रेणी इतनी विशुद्ध होती गयी कि उसने भावना भाते-भाते बारहवें देवलोक के आयुष्य का बन्ध कर लिया। (कथाकारों ने तो उसकी भावना की विशुद्धि का इतना ऊँचा निरूपण

तो इसका अर्थ है, सेवा-सत्कार-दान आदि में वस्तु मुख्य नहीं, भावना मुख्य है।

भाव-प्रधान धर्म

ज्ञातासूत्र में 'नागश्री' ब्राह्मणी का वर्णन आता है, जो द्रौपदी का जीव था। उसने एक दिन तुम्बे का सांग बनाया, घी का बघार दिया, अच्छे-अच्छे मसालों से उसे स्वादिष्ट बनाया, किन्तु जब चखा तो वह कड़वा तुम्बा निकला, एकदम जहर ! कोई खाये तो मर जाये। उसने छुपाकर एक ओर रख दिया, और सोचा छुपकर कहीं एकांत में डाल दूँगी ताकि मेरी गलती का किसी को पता न चले। उसी समय उसके घर में महान् तपस्वी धर्मरुचि पहुँच जाते हैं। मासखमण का पारणा, जर्जर काया, शुद्ध भिक्षा के लिए घूमते-घूमते नागश्री की रसोई के द्वार पर पहुँच गये। नागश्री सोचती है—चलो, अच्छा हुआ यह उकरडी घर पर ही आ गई। उसने चुपचाप आग्रह करके कड़वे तुम्बे का साग मुनि के पात्र में डाल दिया। अब देखिए यह दान कैसा था ? पात्र तो बहुत उत्तम था ? तपस्वी दयामूर्ति अणगार ! और वस्तु भी कोई अशुद्ध नहीं थी, साधु को निमित्त करके नहीं बनाई गई थी, न वह सचित्त जल आदि से खरडी हुई थी। तो वस्तु भी निर्दोष, और पात्र भी उत्तम, किन्तु देने वाली नागश्री को क्या हुआ ? कौन से स्वर्ग का बन्ध हुआ ? आप कहेंगे, ऐसी को स्वर्ग ? नरक, घोर नरक मिलना चाहिए, हाँ और मिला भी ! इसका कारण ? यही कि उसकी भावना मलिन थी ! निकृष्ट थी। वस्तु और पात्र उत्तम होते हुए भी भावना की निकृष्टता के कारण उसे घोरातिघोर नरक-यातनाएँ सहनी पड़ीं।

भगवान महावीर स्वामी के जीवन की दो घटनाओं का जिक्र भी आपके सामने कर दूँ ! दोनों ही घटनाएँ उनके तपस्वी जीवन की हैं—एक है चातुर्मासिक तप के बाद की, और दूसरी है छमासी तप के सिर्फ पाँच दिन बाकी रहे, तब की।

भगवान जब चौमासी तप करके एक खंडहर में ध्यानस्थ खड़े थे, तब एक सद्गृहस्थ ने भगवान को ध्यानस्थ देखा। उसके मन में उनके प्रति बड़ी श्रद्धा-भक्ति जगी। वह निकट आकर भगवान के चरणों में वंदना करने लगा, और फिर सोचा—'आज इन तपस्वी प्रभु को अवश्य ही उपवास होगा, और कल अवश्य पारणा करेंगे।' उसने प्रभु से प्रार्थना की—"भगवन ! कल जब आप पारणे के लिए पधारें तो प्रभु ! मेरे घर को पवित्र करना !"

वह गृहस्थ दूसरे दिन फिर आता है और भगवान को उसी ध्यान-मुद्रा

है ? हाथों में हथकड़ी, पांवों में बेड़ी, सिर मुंडा हुआ, देहरी के बीच में, छाज में रखे उड़द के बाकले ! और इधर तरण-तारण भगवान महावीर पाँच मास पच्चीस दिन की तपस्या किये पधारते हैं और उड़द के बासी बाकले ग्रहण करते हैं। चंदनबाला धन्य-धन्य हो गई। अब देखिए, उड़द के बाकले पूरण ने भी दिये थे और चन्दनबाला ने भी ! दोनों ही जगह पात्र स्वयं भगवान थे, वस्तु भी समान, पात्र भी समान ! किन्तु अन्तर किस बात का था ? अन्तर था भावना का ! भावना के कारण ही तो पूरण का दान जहाँ तुच्छ लाभ देकर रह गया, वहाँ चन्दना का दान महान लाभ का कारण सिद्ध हुआ।

जैनधर्म ने इसीलिए व्रती जनों की सेवा, सत्कार-शुश्रूषा आदि पर बल तो दिया है, किन्तु सर्वप्रथम कहा है—भावना शुद्ध रखो। शुद्ध एवं पवित्र भावना से उनकी सेवा करो। तुच्छ लाभ के लिए, लोक में कीर्ति एवं प्रशंसा के लिए व्रतीजनों की सेवा न करो, किन्तु उस सेवा से महान् कर्म-निर्जरा होती है, जीवन में त्याग की प्रेरणा जगती है इस दृष्टि से उनकी सेवा करो। वे समाज एवं राष्ट्र के उपकारी हैं, असंख्य-अनन्त जीवों के रक्षक हैं, धर्म मार्ग के उपदेशक हैं—उनकी सेवा-शुश्रूषा से आत्मा को महान् लाभ होता है—यह भावना रखकर उनकी सेवा करे—यह सद्गृहस्थ का धर्म है।

वृद्ध कौन ?

आचार्य ने व्रतीजनों की सेवा के साथ एक सूत्र और जोड़ा है—**ज्ञान-वृद्धानां**—ज्ञानवृद्धों की भी सेवा करें।

संस्कृत में वृद्ध का अर्थ किया गया है—वृद्धि अर्थात् पूर्णता को प्राप्त हुआ व्यक्ति ! जिसके शारीरिक एवं मानसिक विकास की स्थिति अपनी पूर्णता को पा चुकी है, आयु, अनुभव, ज्ञान आदि दृष्टियों से जो वृद्धि के चरम बिन्दु तक पहुँच गया है उसे वृद्ध कहा जाता है। इसीलिए ग्रन्थों एवं टीकाओं में स्थान-स्थान पर आता है—**वृद्धाः एव वदन्ति**—वे वृद्ध अर्थात् अनुभवी, ज्ञानी ऐसा कहते हैं। आज के जमाने में तो वृद्ध का अर्थ सिर्फ बूढ़ा, जिसके बाल पक गये हों, चेहरे पर झुर्रियां पड़ गई हों, शरीर शिथिल हो गया हो, बस इतना ही रह गया है, इसीलिए किसी को 'वृद्ध' कहने पर चाहे वह वास्तव में ही वृद्ध है, फिर भी उसे अच्छा नहीं लगता। 'बूढ़ा' भी चाहता है, लोग उसे जवान कहें। जबकि पुराने जमाने में किसी को वृद्ध कहना सम्मानजनक शब्द माना जाता था। महाभारत में तो यहाँ तक कहा है—**न सा सभा यत्र न संति वृद्धाः**—वह सभा सभा ही नहीं है, जिसमें कोई वृद्ध नहीं हैं। इसलिए 'वृद्ध' शब्द बहुत सम्मानजनक है। वृद्ध का ही पर्यायवाची शब्द है—स्थविर ! शास्त्रों में

कराया है कि) यदि थोड़े समय तक और उसे देवदुंदुभि का घोष सुनाई नहीं देता, तो वह भाव श्रेणी पर चढ़ते-चढ़ते केवलज्ञान प्राप्त कर जाता। और पूरण सेठ ने भगवान को अनादरपूर्वक उड़द के बाकले दिये, लेकिन जब देव-दुंदुभि बजी, रत्नों की वर्षा हुई, तब उसे पता चला, यह तो साधारण भिक्षुक नहीं, कोई दिव्य तपस्वी है। लोगों ने उससे पूछा—'सेठ! बड़े पुण्यशाली हो, भगवान ने तुम्हारे घर भिक्षा ग्रहण की, तुमने क्या दान दिया?' तो पूरण ने सोचा—यदि सच कहूँ कि उड़द के बाकले दिये तो मेरी हलकाई होगी, इसीलिए उसने झूठी शेखी बघारी और कहा—"मैंने भगवान को खीर और घेवर की भिक्षा दी।"

तो आप देखिए—भावना किसकी श्रेष्ठ थी? जीर्ण की या पूरण की? भगवान के पारणे का संवाद सुनकर उसके मन में खेद जरूर हुआ! दर्द हुआ! चार महीने तक जिस कल्पवृक्ष की आराधना की, वह आखिर उसके घर में नहीं फल सका। पर उस पर भी उसके मन में प्रभु के प्रति आक्रोश नहीं उमड़ा, कि लो भावना तो मैंने भाई, और पारणा किया उसके घर पर! यह कितना बड़ा धैर्य है, जो अचानक इतना बड़ा झटका लगने पर भी विचलित नहीं हुआ? वह सोचने लगा—"मैं तो मरुभूमि जैसा हूँ और भगवान कल्पवृक्ष है! कल्पवृक्ष की उत्पत्ति मरुभूमि में कैसे हो सकती है? पूरण सेठ धन्य हैं, जिसने भगवान को भिक्षा दी।"

देखिए, यह कितनी ऊँची भावना है! कितना ऊँचा धैर्य है! मैं देखता हूँ बहुत से भाई एक दो बार मुनिराज को भावना भाकर गये, और किसी कारण से मुनिराज उनके घर भिक्षा के लिए नहीं जा सके तो बस, वे तो 'भाम-ड़ाभूत' हो जाते है। "लो, यह क्या, हमने इतना कहा, और महाराज साहब गोचरी भी नहीं आये, तो आज से हम कहेंगे भी नहीं। हम महाराज के जायेंगे भी नहीं?" थोड़ी सी बात पर भी आपे से बाहर हो जाते हैं, ईर्ष्या और अविवेक से ग्रस्त हो उठते हैं। तो भाई? यह श्रावक का आदर्श नहीं है। श्रावक को तो इतना धैर्य होना चाहिए कि साधु जी गोचरी आये तो अहोभाग्य यदि न आये तो धीरज नहीं खोए, अपने अन्तराय कर्म का दोष समझे, साधु जी पर रोष नहीं करे।

मैं कह रहा था कि सेवा, दान आदि में वस्तु का कोई मूल्य नहीं, मूल्य है भावना का। भावना से दिया गया चंदना का बाकला भी अपूर्व लाभ का कारण बन गया। जब भगवान पांच मास और पच्चीस दिन की तपस्या के दिन चंदना के द्वार पर पहुँचते हैं, और वह राजकुमारी किस स्थिति में बैठी

भव'—का सूत्र इस बात का संकेत करता है कि ज्ञान देने वाले गुरु, आचार्य के प्रति आपके मन में देवतुल्य भावना होनी चाहिए।

इस प्रसंग पर मुझे सूत्रकृतांग[1] का घटना प्रसंग याद आता है। एक बार गौतमस्वामी नालन्दा के हस्तियाम नामक उद्यान में ठहरे हुए थे। वहीं उनके निकट भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का श्रमण उदग पेढाल भी ठहरा हुआ था। उदग पेढाल गौतमस्वामी के निकट आया और उसने अनेक प्रकार के प्रश्न गौतमस्वामी से किये। गौतमस्वामी ने सबका उचित समाधान दिया। समाधान पाकर उदग पेढाल वैसे ही उठकर चलने लगा, तो गौतमस्वामी को उसका अविनयपूर्ण व्यवहार उचित नहीं लगा। गौतम ने उससे पूछा—"आयुष्मन्! यदि किसी श्रमण निर्ग्रन्थ के पास धर्म का एक भी पद सुनने को मिला हो—एगमवि सुवयणं सोच्चा—तो क्या उसके प्रति सत्कार-सम्मान प्रदर्शित किये बिना ही चले जाना चाहिये?"

उदग पेढाल ने चकित होकर गौतमस्वामी से पूछा—"भंते! मुझे नहीं मालूम कैसा व्यवहार करना चाहिए? कृपा करके आप बताइये।"

गौतमस्वामी ने कहा—"आयुष्मन्! जिन श्रमण निर्ग्रन्थों के पास धर्म-शिक्षा का एक भी सुवचन सुनने को मिला हो, उन्हें बुद्धिपूर्वक नमस्कार करना चाहिए, उनका सत्कार-सम्मान करना चाहिए और कल्याणकारी देव स्वरूप मानकर उनकी पर्युपासना करना चाहिए।" इसी बात को आचार्य शय्यंभव ने समस्त विद्याभ्यासी जनों को सम्बोधित करके कहा है—

जस्संतिए धम्मपयाइ सिक्खे
तस्संतिए वेणइयं पउंजे।[2]

जिनके पास से धर्म-विद्या का एक पद भी प्राप्त होता हो, उनका विनय एवं आदर करना चाहिए। उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये। हिन्दू धर्म-सूत्रों में तो गुरु को भगवान के तुल्य बताया गया है।[3] मनुस्मृति में कहा है, मनुष्य के दो पिता होते हैं, एक जन्म देने वाला जनक, और दूसरा ज्ञान देने वाला गुरु। जनक से भी गुरु श्रेष्ठ पिता है।[4]

---

१ सूत्रकृतांग २।७
२ दशवैकालिक ९।१।१२
३ आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।२।६।१३
४ मनुस्मृति २।१४६

तीन प्रकार के स्थविर वताये गये हैं—**वयःस्थविर, दीक्षास्थविर** तथा **ज्ञान-स्थविर**। जिनकी आयु साठ वर्ष की हो गई हो, वे वयःस्थविर कहलाते हैं। उन वयःस्थविरों के प्रति भी हृदय में आदर और सम्मान होना चाहिए कि ये आयु में हमारे से वड़े हैं, इन्होंने काफी देखा है, समझा है, वुजुर्ग हैं। इनके अनुभवों से हमें लाभ लेना चाहिए।

दूसरे दीक्षास्थविर होते हैं। जिनको दीक्षा लिये वीस वर्ष हो गये वे दीक्षा-स्थविर कहलाते हैं। उनके पास भी साधना की दीर्घकालीन उपलब्धि एवं अनुभव होने से वे भी पूजनीय कहे गये हैं।

ज्ञानस्थविर के लिए अवस्था का कोई नियम नहीं है। चाहे आज का नव दीक्षित साधु हो. यदि उसके पास भी विशिष्ट ज्ञान-बुद्धि-वैभव है तो वह ज्ञानस्थविर कहला सकता है। और यदि साठ-सत्तर वर्ष का होने पर भी यदि कोई विशेष ज्ञान नहीं है तो वह ज्ञानस्थविर नहीं हो सकता। हमारे यहाँ ऐसे अनेक आचार्यो के जीवन-प्रसंग आते हैं जो वचपन में ही वड़े प्रतिमा-शाली एवं विलक्षण ज्ञानशक्ति से सम्पन्न थे। आचार्य वज्रसेन, आचार्य हेमचन्द्र आदि के वड़े रोचक जीवन-प्रसंग मिलते हैं, जिनकी ज्ञान एवं प्रतिभा शक्ति को देखकर आचार्यों ने वचपन में ही उन्हें संघ का आधिपत्य सौंप दिया था। शंकराचार्य को भी कहते हैं १६ वर्ष की आयु में सब वेदों का ज्ञान प्राप्त हो गया था। तो इस प्रकार ज्ञानस्थविर अर्थात् ज्ञानवृद्ध किसी भी आयु में हो सकता है, और उसकी आयु का विचार नहीं करके उसके ज्ञान का सम्मान एवं सत्कार करना चाहिए।

ज्ञानी जनों की सेवा

जिस प्रकार सद्‌गृहस्थ व्रती-साधुजनों की सेवा करता है, वैसे ज्ञान-वृद्ध अर्थात् ज्ञानीजनों की भी सेवा करता रहे—यह एक आदर्श है। इस सूत्र से आचार्य ने त्याग एवं ज्ञान को समान स्तर पर लाकर खड़ा किया है, और वताया है कि समाज में त्यागी संतों की पूजा, वहुमान के साथ-साथ ज्ञानीजनों की भी पूजा एवं वहुमान होना चाहिये। त्यागी जिस प्रकार समाज एवं राष्ट्र में चरित्र का उच्चतम आदर्श उपस्थित करता है, वैसे ज्ञानी भी समाज एवं राष्ट्र की नीति एवं कर्त्तव्य का निर्देशक एवं निर्णायक होता है। जिस समाज एवं राष्ट्र में ज्ञान एवं ज्ञानी का महत्त्व नहीं होता, वह समाज व राष्ट्र कभी भी प्रगति नहीं कर सकता। हमारी भारतीय संस्कृति में जितना गौरव त्यागी का है, उतना ही शिक्षा एवं ज्ञान देने वाले आचार्य का भी है। 'आचार्य देवो

उत्तरदायित्व निबाहिए

✓एक बार किसी राजा को मन्त्रीपद के लिए किसी योग्य व्यक्ति की जरूरत हुई। राजा ने अनेक व्यक्तियों की परीक्षा ली, उनसे सम्पर्क किया, पर किसी भी व्यक्ति में मन्त्रीपद के योग्य गुणों का विकास नहीं मिला। राजा ने किसी योग्य, कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति की खोज के लिए एक तरीका निकाला। नगर के मध्य-मार्ग में एक बहुत बड़ा पत्थर रखवा दिया गया, और कुछ दूर पर एक गुप्तचर को खड़ा कर दिया गया कि जो व्यक्ति इस पत्थर को हटाये, उसे मेरे पास ले आना।

राजमार्ग के बीच में पत्थर पड़ा था। आते-जाते लोग उस पत्थर से टकराने लगे, कई ठोकर खाकर गिर पड़े, कइयों के पांव में चोट भी लगी, और हर टकराने व चोट खाने वाला आदमी बड़बड़ा कर गाली देता—"किस सूअर ने यह पत्थर रास्ते के बीच में रख दिया, तेरा सत्यानाश जाये"—और यों बड़बड़ाते हुये आगे निकल जाता।

कई दिनों के बाद एक प्रौढ़ व्यक्ति उस राजमार्ग से गुजरा। उसने रास्ते के बीच में इतना बड़ा पत्थर पड़ा देखा तो उसके पैर ठिठक गये। वह रुका, और झट से पूरी ताकत लगाकर उस पत्थर को उठाया और रास्ते के एक किनारे ऐसे स्थान पर रख दिया जहाँ किसी को कोई चोट नहीं लग सके। गुप्तचर ने उस व्यक्ति को पकड़ लिया और राज दरबार में चलने के लिए कहा। उसने कहा—"मैंने ऐसा क्या अपराध किया है?" गुप्तचर ने कहा—"तुमने यह पत्थर क्यों उठाया? इसी की सजा पाने के लिये तुम्हें राज दरबार में चलना होगा।"

राजा के सामने वह व्यक्ति उपस्थित किया गया। राजा ने गम्भीर दृष्टि से उसको देखा और पूछा—"तुमने यह पत्थर क्यों उठाया?"

हमारी संस्कृति की इन घटनाओं एवं शिक्षाओं का उद्देश्य यही है कि ज्ञान-दान देने वाले गुरुजनों के प्रति हमारे मन में आदर एवं बहुमान की भावना रहे। जब ज्ञानदाता के प्रति मन में आदर होगा तभी उनसे प्राप्त किया हुआ ज्ञान फलदायी हो सकता है। गुरुजनों की अवज्ञा करके, प्रथम तो ज्ञान प्राप्त किया ही नहीं जा सकता और यदि कोई शिक्षा प्राप्त हो भी गई, तो वह फलवती नहीं हो सकती। **विनयेनार्जितं ज्ञानं**—विनय से प्राप्त ज्ञान ही मनुष्य का विकास एवं उत्थान करने में समर्थ होता है। इस बात को प्राचीन आचार्यों ने भली प्रकार समझा और इसीलिए यह सूत्र दिया कि—**व्रतस्थज्ञानवृद्धानां पूजकः**—व्रती एवं ज्ञानवृद्ध जनों की पूजा करना सद्गृहस्थ का धर्म है।

...आते होंगे जिनसे आपको कष्ट होता है, पर आप अपने कष्ट का रोना रोकर चल-गुजरते हैं, दूसरों को भी वह कष्ट न हो, इस बात की कल्पना भी आपके मन में आती है या नहीं ? और उसके लिए अपने कर्त्तव्य को आप समझते हैं या नहीं ? शायद आपको मालूम हो कि यह पत्थर उठाने से ही मंत्रीपद मिल जायेगा तब तो पत्थर क्या, पहाड़ भी उठा लेंगे, पर कर्त्तव्य के नाते आप पत्थर क्या कंकर भी नहीं उठायेंगे। हम देखते हैं, कई बार सड़क पर पड़े केले के छिलकों से राहगीर फिसलते हैं, पर फिसलने वाला यह नहीं सोचता कि इसे उठाकर एक ओर फेंक दिया जाय, ताकि मेरा भाई दूसरा न गिरे। जीवन मे इस प्रकार की अनेक घटनाएँ रोज होती हैं, जिनसे आपकी कर्त्तव्यनिष्ठा का पता चल सकता है, पर आप अपने कर्त्तव्य के प्रति कितने जागरूक रहते हैं यह स्वयं विचारने की बात है।

उत्तरदायित्व समझिये

आप सोचते होंगे कि हम दूसरों की फिकर क्यों करें ? अपनी ही फिकर क्या कम है ? पर आपको यह भी पता है कि जिस समाज व राष्ट्र में आप रहते हैं, उसका और आपका अभिन्न सम्बन्ध है। राष्ट्र एक महल है तो आप उसकी एक ईंट हैं। राष्ट्र एक मशीन है, तो आप उसके एक उपयोगी पुर्जे हैं। राष्ट्र एक शरीर है और आप उसके एक आवश्यक अंग हैं। करोड़ों ईंटें, करोड़ों पुर्जे और करोड़ों रोम-राजि मिलकर ही राष्ट्ररूपी-महल को बनाते हैं, इस मशीन को चलाते हैं और इस शरीर की शोभा बढ़ा रहे हैं। हमें दूसरों की क्या पड़ी ? अपनी ही बहुत है—वैसे ही यदि सभी समझने लग जायें तो ? वाटर वर्क्स वाले समझ लें, हमें क्या करना है, दूसरों को पानी मिले या न मिले, पर बैठे रहो, कुएँ का पानी पीएँगे। बिजली वाले सोचें—चाहे लोग अंधेरे में रहें या उजाले में, हमें क्या मतलब ? अपने घर में चिराग जल रहा है, बस मत आओ काम पर ! तो क्या होगा ? पानी के अभाव में हजारों-लाखों लोग प्यासे मरेंगे, अंधेरे में ठोकरें खायेंगे, और सामाजिक जीवन की गाड़ी अस्त-व्यस्त हो जायेगी। तो यह स्वार्थ-परायण वृत्ति है, इससे सामाजिक जीवन चल नहीं सकता। समाज के व्यक्ति को तो अपना उत्तरदायित्व समझना होता है, और उसे निभाना होता है। समाज का प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे पर आधारित है, एक की गाड़ी दूसरे के सहारे चलती है। इसलिए परस्पर में उत्तरदायित्व की भावना, सहयोग की भावना और पोष्य-पोषक की भावना का विकास होना अनिवार्य है। आचार्य उमास्वाति ने तो जीव का लक्षण ही बताया है—"परस्परोपग्रहो जीवानाम्"—प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे के सहारे जीता है। इसी

"महाराज ! यह भी कोई प्रश्न है ? रास्ते में पड़ा पत्थर मेरे कितने भाइयों को चोट पहुँचा रहा था, कई बुजुर्गों को इसने घायल कर दिया, इस स्थिति में तो मेरा यह कर्त्तव्य ही था कि इस पत्थर को उठाकर एक ओर रख दिया जाय, ताकि किसी राहगीर को कष्ट न हो ! इसमें मैंने क्या अपराध किया ?"

राजा ने कृत्रिम रोष दिखाकर कहा—"नहीं ! तुमने बहुत बड़ा अपराध किया है। पाँच दिन से यह पत्थर वहाँ पड़ा था, हमने ही रखवाया था, और आज तक सैकड़ों-हजारों राहगीर उधर से निकल गये, लेकिन किसी ने भी नहीं उठाया, तुमने ही क्यों उठाया ? इसलिए इस अपराध का दण्ड तुम्हें अवश्य मिलेगा, बोलो ! भविष्य में तो फिर ऐसा नहीं करोगे ?"

प्रौढ़ राहगीर ने साहस के साथ कहा—"महाराज ! मेरे विचार में तो यह कोई अपराध नहीं, किन्तु सामान्य नागरिक के नाते मेरा कर्त्तव्य था, और मैंने अपना कर्त्तव्य पूरा किया है, भविष्य में भी यदि अपने कर्त्तव्य पालन का प्रश्न आया तो स्वभावतः मुझसे तो ऐसा हो ही जायेगा।"

राजा ने सभी सभासदों की ओर देखा और पूछा—"क्यों ? इसे दण्ड तो मिलना चाहिए ?" सभी सभासदों ने राजा की हाँ-में-हाँ मिला दी। राजा ने कहा—"इस अपराध का दण्ड तुम्हें दिया जा रहा है, आज से तुम मेरे महामन्त्री पद को सुशोभित करोगे।" और राजा ने उठकर अपने हाथ से उसे महामन्त्री के आसन पर बिठाया।

चकित सभासदों और प्रजाजनों को अपना गुप्त आशय समझाते हुए राजा ने कहा—"यह पत्थर मार्ग में मैंने रखवाया था, और इसलिए कि कौन कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति है जो इसे कर्त्तव्य के नाते हटाकर एक ओर रख दे। मैंने देखा, लोग पत्थर से चोट खाते, गालियाँ देते और बड़बड़ाकर चले जाते, पर किसी भी महानुभाव ने यह कष्ट नहीं किया कि इस पत्थर से राहगीरों को चोट लग रही है, तो क्यों न इसे हटाकर एक ओर कर दिया जाय। नगर में बसने वाले लोग अपना नागरिक कर्त्तव्य नहीं समझते, वे सिर्फ शोरगुल करना जानते हैं, किन्तु जहाँ, जिस क्षेत्र में हैं उस क्षेत्र के उत्तरदायित्व और कर्त्तव्यों का उन्हें ज्ञान तक नहीं है। मुझे सिर्फ यही एक व्यक्ति मिला है, जिसने अपने कर्तव्य को समझा और उसके लिए किसी की भी परवाह नहीं की। ऐसा ही कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति राज्य का महामन्त्री बनना चाहिए।" ✓

बन्धुओ ! मैं आपसे पूछूँ, आप में से भी ऐसे कितने व्यक्ति मिलेंगे, जो इस प्रकार हर क्षेत्र व हर समय में अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखते हों। आपको भी अनेक बार रास्ते में पड़े पत्थर की चोट लगती होगी, या ऐसे ही अनेक प्रसंग

…तरफ नहीं जा रहा था। अब भोजन करें तो कैसे ? पेट में भूख लगी है, सामने सुन्दर स्वादिष्ट भोजन सजा है, पर हाथ मुड़ता नहीं है तो भोजन मुंह में कैसे रखें ? सभी देवगण बड़े परेशान हुए। आखिर इन्द्र ने एक युक्ति निकाली, उसने देवताओं से कहा, हाथ मुड़ता नहीं है तो कोई बात नहीं, सीधा तो जा ही रहा है, तो क्यों न हम एक-दूसरे के मुंह में ग्रास देते रहें। सब एक-दूसरे को खिलाएँ बस सबका पेट भर जायेगा।

कहते हैं इन्द्र की युक्ति जिन देवताओं ने मानी उनका पेट भर गया, और वे 'देव' कहलाये। जिन्होंने नहीं मानी वे भोजन को टुकुर-टुकुर ताकते रहे और स्वयं खाने की फिकर में भूखे ही बैठे रहे। ब्रह्माजी ने उन्हें धिक्कार कर निकाल दिया और उन्हें 'राक्षस' संज्ञा दी।

मैं आपसे पूछूँ, आप देवता बनना चाहते हैं या राक्षस ? यदि आप में पोष्य-पोषक भाव है, एक-दूसरे को खिलाने की वृत्ति है तब तो निःसंदेह आपका जीवन 'देव-जीवन' कहला सकता है, और यदि अकेले ही खाने की भावना है, अपने ही पेट की फिकर है, तब तो पुराण की भाषा में यह 'राक्षसी वृत्ति' है।

संत इब्राहीम ने एक बार एक फकीर से पूछा—साधु की पहचान क्या है ?

फकीर ने कहा—"मिले तो खा लिया, न मिले तो संतोष कर लिया।"

इब्राहीम ने कहा—यह तो कोई कुत्ता भी कर सकता है, साधु तो वह है, "जो मिले तो बाँट कर खाये, और न मिले तो प्रभु की कृपा समझे कि उसे तपस्या करने का अवसर दिया है।"

भगोड़े मत बनो

तो जो दूसरों को खिलाता है, बाँट कर खाता है, वह सद्गृहस्थ 'पोष्य-पोषक' कहलाता है, अर्थात् जिन्हें पोषण की जरूरत है, उन्हें पोषण देने वाला है।

आप कहेंगे कि यह तो एक बहुत ऊंची उड़ान है कि हम दूसरों को, समाज और राष्ट्र को पोषण देते रहें। हम से तो अपना परिवार ही नहीं पलता है, अपने माँ-बाप और संतान का पेट पालना भी समस्या बना हुआ है। यह बात भी ठीक है। आज अधिकांश व्यक्तियों की यही समस्या और यही स्थिति है। पर आचार्य ने यह तो नहीं कहा कि समाज की सब जिम्मे-दारी आपको ही उठानी होगी। जिनके पास समाज के पोषण करने का

बात को आचार्य हेमचन्द्र ने सद्गृहस्थ के पच्चीसवें बोल में 'पोष्य-पोषकः' के रूप में प्रस्तुत किया है।

महावृक्ष की तरह आश्रय बनो

सद्गृहस्थ के जीवन को एक महावृक्ष की तरह माना गया है, जिसकी डालियों पर हजारों प्राणी अपना घोंसला बनाये जीवन गुजारते हैं, सैकड़ों-हजारों प्राणों का आधार होता है, और उसकी छाया में प्राणियों को जीवन मिलता है। वह वृक्ष यदि यह सोचे कि ये डालियाँ, शाखाएँ, पत्तियाँ और फल-फूल निरे भार हैं, इनसे मुझे क्या करना है, मैं तो अकेला नंगा खड़ा रहूँगा तब भी अपना जीवन गुजार लूंगा, तो ? इससे न उन प्राणियों को आश्रय मिलेगा और न वृक्ष की शोभा बढ़ेगी ! वृक्ष का वृक्षत्व इसी में है कि वह अपने फल-फूल, शाखा-प्रशाखाओं का विस्तार करके हजारों जीवों को आश्रय देता रहे।

इसी प्रकार हमारा जीवन है, जो स्वयं का विकास करता हुआ दूसरों के विकास में सहायक बने। निराश्रितों को आश्रय दे, शक्तिहीनों को शक्ति दे, और जिन्हें पोषण की आवश्यकता है, छाया की जरूरत है उन्हें संपोषण एवं शीतल छाया से रक्षित करे।

जैनसूत्रों में सद्गृहस्थ का वर्णन आता है वहाँ बताया गया है—वह परिवार एवं समाज में मेढ़िभूत होता था। खेत के खलिहान में जब गेहूँ आदि से दाने निकालने के लिए बैलों को उन पर चलाया जाता है तो बीच में एक मेढ़ी गाढ़ते हैं। उसी को केन्द्र मानकर बैल चक्कर लगाते रहते हैं। तो सद्गृहस्थ परिवार एवं समाज की व्यवस्था का ऐसा केन्द्र बनना चाहिए जिसके सहारे व्यवस्था सुन्दर ढंग से चलती रहे। जिस प्रकार समुद्र में डूबे हुए प्राणियों का 'द्वीप' सहारा होता है, उसी प्रकार दुःख-सागर में डूबे हुए मनुष्यों को जो सहारा देता है, वह सद्गृहस्थ होता है।[1] तो यह है लक्षण सद्गृहस्थ का, कि वह सिर्फ अपना ही पेट नहीं पाले, किन्तु अपने सहारे हजारों प्राणियों का पेट पालता रहे, सैकड़ों परिवारों के जीवन का आधार बना रहे।

पुराणों में एक कथा आती है कि एक बार ब्रह्माजी ने बहुत बड़ा भोज किया। तब देवताओं की एक ही जाति थी। सब देवता जगत्पिता के भोज में निमंत्रित हुए। आमने-सामने दो पंक्तियों में देवगण भोजन के लिए बैठ गये और सबके सामने मधुर भोजन परोसा गया। किन्तु ब्रह्माजी ने एक माया रची, कि सब देवताओं के हाथ अकड़ गये, किसी का भी हाथ मुड़कर मुँह की

---

१ बहुजणस्सणेयार दीवं ताणं च पाणिणं —दशाश्रुतस्कंध ६।१७

उत्तरदायित्व को टालिए मत

बहुत से व्यक्तियों में उत्तरदायित्व को टालने की आदत होती है। वे सोचते हैं, एक मैं नहीं करता हूँ तो क्या है, और तो सब कर ही रहे हैं। एक बाप के चार बेटे हैं, और उन पर बाप की जिम्मेदारी है, यदि एक बेटा सोच ले, मैं यदि बाप की सेवा नहीं करता हूँ तो क्या है, और बाकी तीन तो मरे नहीं है, तो ? यदि वे तीनों भी इसी प्रकार सोचकर उत्तरदायित्व को एक-दूसरे पर टाल दें, तो ? हो गई बिचारे बाप की सेवा !

निशीथसूत्र में बताया है, कोई साधु किसी गाँव की सीमा में से गुजर रहा है, या कहीं पर भी है, उसे यह मालूम हो गया कि अमुक स्थान पर अमुक साधु बीमार है, उन्हें सेवा की जरूरत है, और वह उस ओर लापरवाही करदे, सोचे कि और बहुत साधु हैं सेवा करने वाले, तथा उनकी सेवा में न आकर सीधा ही निकल जाये तो वह दोष का भागी है, उसे दण्ड आता है। वह साधु अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है, अपने धर्म से पतित होता है।

जब साधु के लिए कर्त्तव्य का यह विधान है, तो क्या श्रावक के लिए नहीं होगा ? साधु अपने उत्तरदायित्व को टालता है तो वह दोषी है, और यदि श्रावक अपने उत्तरदायित्व को टाले तो ? आपको मालूम हो, समाज का अमुक भाई, परिवार का अमुक सदस्य बीमार है, विपन्न है, दुःखी है—उसे सहायता, सहयोग एवं सेवा की आवश्यकता है, और आप उसका सहयोग कर सकते हैं, उसे सहारा दे सकते हैं, फिर भी यदि उसके प्रति आप उपेक्षा कर देते हैं, लापरवाही बरतते हैं और यह सोचते हैं कि क्या सबका ठेका मैंने ही ले लिया है, और भी बहुत से लोग हैं, वे ही सहयोग कर देंगे, तो क्या आप अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं होते ? हो सकता है दूसरे भी आपकी तरह सोचते हों, और इस सोच-सोच में उस संकटापन्न व्यक्ति की नैया ही डूब जाये। सुभूम चक्रवर्ती की कहानी तो आपने सुनी है ? सातवाँ खंड साधने को चला, विमान को उठाने वाले एक देवता ने सोचा—इतने हजार देवता तो विमान को उठाये चल रहे हैं, यदि मैं एक निकल कर चला भी जाऊँ तो क्या फर्क पड़ेगा ? और फिर क्या हुआ ? एक साथ सभी देवताओं के मन में यह विचार सबल उठा, और सभी ने एक साथ जैसे ही अपने कंधे हटाये, चक्रवर्ती का विमान समुद्र में गिर पड़ा। बिचारा गिरते-गिरते ही समाप्त हो गया।

समाज में भी लोग आज इसी प्रकार उत्तरदायित्व टालने के आदी हो गये हैं। समाज एवं परिवार के साथ अनेक धार्मिक संस्थाएँ, शिक्षण संस्थाएँ एवं सेवा संस्थाएँ भी जुड़ी हुई हैं, और उनके प्रति भी आपका दायित्व होता

साधन है, वे समाज का पोषण करें; कुटुम्ब का पोषण करने की स्थिति हो, वह कुटुम्ब का पोषण करें, और इतनी भी स्थिति न हो तो कम से कम अपने आश्रितों का, माता-पिता, पुत्र, पत्नी आदि का पोषण तो करें, उनके प्रति अपने उत्तरदायित्व को तो निभाएँ। यह नहीं कि पहले तो परिवार बना लिया, सबका उत्तरदायित्व कंधों पर ले लिया, और अब उसे पूरा करते समय मुंह छिपाते फिरें, उससे दूर भागें और कहें—कि "संसार में कोई किसी का सगा नहीं, सब अपने-अपने कर्मों से खायेंगे, अपना-अपना पायेंगे, हम किस-किसकी फिकर करें।" यह तो उत्तरदायित्व से भागने की बात है। भगोड़े बनकर समाज में जी नहीं सकते। जिस परिवार और कुटुम्ब की जिम्मेदारी तुमने ली है, तुम उसे पूरी करो। जिन व्यक्तियों को तुमने आश्रय का नैतिक आश्वासन दिया है, उन्हें मंझधार में छोड़कर भाग जाना तो बहुत बड़ा धोखा है, प्रवंचना है। यह पलायनवाद है। यदि गृहस्थ-जीवन के उत्तरदायित्वों से भागकर साधु भी बन गये तो क्या हुआ? क्या पता एक दिन यहाँ भी अपने उत्तरदायित्वों को छोड़कर भाग जाओगे? कई लोग आकर कहते हैं, "महाराज! संसार से तंग आ गये, दीक्षा दे दो, ताकि इन झंझटों से छुटकारा मिले।" मैं सोचता हूँ ऐसे भगोड़े व्यक्ति साधु बनकर भी क्या करेंगे? क्या साधु पर कोई उत्तरदायित्व नहीं है? साधु-जीवन के उत्तरदायित्व तो बहुत बड़े हैं। जो गृहस्थ-जीवन के उत्तरदायित्व पूर्ण कर सकता है, वही व्यक्ति साधु-जीवन के उत्तरदायित्व को निभा सकता है। भगोड़े व्यक्ति न गृहस्थ-जीवन की गाड़ी चला सकते हैं, और न साधु-जीवन की।

एक बार एक युवक ने किसी सेवा-संस्था में काम करने के लिए प्रार्थना पत्र दिया। साक्षात्कार के लिए उसे बुलाया गया। सेवा-संस्था के संचालक ने युवक से पूछा—आपको कितना वेतन चाहिए?

युवक ने कहा—"मैं तो संस्था में सेवा करना चाहता हूँ, दो सौ रुपए मासिक से मेरा काम चल जायेगा।"

संचालक ने पूछा—"आपके परिवार में और कौन-कौन है?"

युवक ने बताया—"माता-पिता हैं, पत्नी है। पत्नी को दो साल से टी० बी० हो रही है, इसलिए वह पीहर में है। मुझे सेवा की इच्छा थी इसलिए मैंने आपकी संस्था में प्रार्थना पत्र भेजा है।"

संचालक ने युवक की ओर बड़ी गंभीरता से देखा, और कहा—जाइए, आपकी सेवा की हमें इतनी जरूरत नहीं है, जितनी आपकी बीमार पत्नी को है। आप पहले अपनी पत्नी की सेवा कीजिए, पत्नी के प्रति आप अपना कर्त्तव्य नहीं निभा रहे हैं तो संस्था के प्रति क्या निभाएँगे?"

२८

भविष्यद्रष्टा

जैनआगमों में स्थान-स्थान पर भगवान महावीर स्वामी के लिए एक विशेषण आया है–दीहपन्ने–दीर्घप्राज्ञ। इस शब्द के टीकाकार आचार्यों ने कई अर्थ किये हैं। दीर्घप्राज्ञ का एक अर्थ किया है, उनकी बुद्धि दीर्घ—विशाल थी। सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्य को पकड़ने वाली थी। दीर्घ का एक अर्थ किया गया है—दूरगामी। भूत, भविष्य का ज्ञान करने वाली बुद्धि। किसी भी वस्तु का उपदेश या प्रवचन करने से पूर्व ही उसके भूत-भावी परिणाम, उससे सम्बन्धित समस्त विषय उनकी बुद्धि में इस प्रकार झलक उठते थे जैसे निर्मल जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब झलक उठता है। कई स्थानों पर गौतमस्वामी आदि साधकों के लिए भी 'दीहपन्ने' विशेषण का प्रयोग हुआ है। चूंकि कोई भी साधक अपनी साधना में तभी सफल हो सकता है जब उसकी बुद्धि निर्मल, सूक्ष्म, रहस्य-भेदिनी एवं दूरगामी होगी। जिसकी दृष्टि क्षुद्र एवं संकुचित होगी, जो सामने है सिर्फ उसी को देखता हो, भूत और भविष्य के फल-परिणाम का चिंतन-मनन नहीं कर सकता हो, वह साधक साधना के क्षेत्र में कभी भी सफल नहीं हो सकता।

आचारांगसूत्र को पढ़ने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि साधक की दृष्टि कैसी होनी चाहिए। साधक के लिए वहाँ बार-बार ये विशेषण आये हैं परिणामदंसी, आयंकदंसी, अणोमदंसी—अर्थात् प्रत्येक वस्तु की परिणति-परिणाम और फल का विचार करने वाला हो, जो कृत्य या आचरण अभी कर रहा है, उसके लिए भविष्य को देखे कि आगे इसका क्या परिणाम आयेगा। इन आचरणों से कहीं मुझे कष्ट या आतंक तो नहीं होगा, इसका विचार करने वाला—आयंकदंसी—होता है। अणोमदंसी—का भी यही तात्पर्य है कि वह साधक दृष्टि को कभी क्षुद्र नहीं बनने दे। निम्नगामी नहीं बनाये, किन्तु हमेशा

चाहिए। यह मत सोचिए कि और व्यक्ति सब दे ही रहे हैं, मैं यदि कुछ नहीं करूँ तो क्या फर्क पड़ता है ? और करते हैं, किन्तु आप क्यों नहीं करते ? यदि आप अपना दायित्व समझते हैं, तो उसे पूरा करना ही चाहिए। कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे का स्थान पूरा नहीं कर सकता। छोटे के स्थान पर छोटा और बड़े के स्थान पर बड़ा, अपनी-अपनी जगह सबकी उपयोगिता है और आवश्यकता भी है। मकान बनाने में जहाँ राज की जरूरत है, वहाँ राज काम करेगा और बेलदार की जगह बेलदार। यदि चार राज रख लें, और सोचें बेलदार की क्या जरूरत है, तो ? क्या बेलदार का काम राज कर लेगा। इसी प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में छोटे-बड़े सब अपने-अपने स्थान पर उपयोगी हैं। जहाँ सूई का काम है, वहाँ तलवार से काम नहीं चल सकता, और जहाँ चाकू का काम है वहाँ सूई से भी काम नहीं निकल सकता।

"जहाँ काम आवै सूई, कहा करै तलवारि !"

तो इसीलिए आचार्य ने कहा है, जो गृहस्थ जिस स्थान पर है, जो उत्तरदायित्व उसके ऊपर हैं, वह उनसे भागने का प्रयत्न नहीं करे, किन्तु उनके प्रति पोष्य भाव रखे। यह सोचे कि मेरे पोषण की इन्हें जरूरत है, और मेरा कर्त्तव्य है कि मैं इनका पोषण, पालन, संरक्षण करता हुआ अपने उत्तरदायित्व को निभाऊँ।

कहेंगे, जरूर ! यदि देखकर और संभल कर नहीं चलें तो एक ही दिन में कई एक्सीडेंट हो जायें। तो यह भी एक प्रकार की दीर्घदृष्टि है। आने वाले भविष्य को, सामने विद्यमान मार्ग को देखकर चलना—और फिर यह भी सोचना, कि आप जहाँ—दुकान, आफिस या कालेज आदि में जा रहे हैं वहाँ किसलिए जा रहे हैं, वहाँ जाने से आपको लाभ होगा या हानि ! यह सब सोच कर आप चलते हैं तो फिर कैसे कहें कि आपके पास दीर्घदृष्टि नहीं है। दीर्घदृष्टि तो है, लेकिन यह एक सामान्य काम के लिए हुई, अब इस दीर्घदृष्टि का उपयोग विशेष कार्य के लिये भी किया जा सकता है, जिससे आपका जीवन भी उन्नत एवं समृद्ध बने, समाज एवं राष्ट्र के जीवन में भी उन्नति एवं विकास के नये द्वार आप खोल सकें।

दीर्घदृष्टि के लिए अपने यहाँ 'दूरदर्शी' शब्द अधिक प्रचलित है। अर्थ उसका भी वही है, दूर की बात देखने वाला। आज की भाषा में कहूँ तो भविष्य को देखने वाला, जिसे साहित्यिक भाषा में 'स्वप्नद्रष्टा' कहते हैं। जीवन, परिवार, समाज, धर्म एवं राष्ट्र की उन्नति, समृद्धि एवं विकास के स्वप्न, नई कल्पनाएँ और उनके निर्माण की योजनाएँ जिसके मस्तिष्क में आज लहरा रही हैं, वह व्यक्ति राष्ट्र का स्वप्नद्रष्टा कहलाता है। नेहरू जी के लिये लोग आज कहते हैं वे नये भारत के स्वप्नद्रष्टा थे। समय से पूर्व ही उनकी कल्पना में भारत के नव-निर्माण का नक्शा उभर आया था और उसे साकार करने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये गये थे। इसी प्रकार जो व्यक्ति समाज की उन्नति एवं विकास के लिये नई-नई कल्पनाएँ लेकर उनका निर्माण प्रारम्भ करता है, वह नये समाज का स्वप्नद्रष्टा कहलाता है। संसार में जितने भी महान् राष्ट्रनायक, वैज्ञानिक और कलाकार हुए हैं वे अधिकतर स्वप्नद्रष्टा थे और अपने पुरुषार्थ व प्रयत्नों से उन स्वप्नों को साकार करने में जुट गये। उसी के फलस्वरूप आज नये-नये विकास हो रहे हैं। चालू भाषा में 'स्वप्नद्रष्टा' को लोग आकाश की उड़ान भरने वाला समझते हैं, केवल सपने देखने वाला मानते हैं, इसलिए मैं आज के प्रसंग में अपना प्रचलित शब्द—'दूरदर्शी' ही प्रयोग करूँगा ताकि मेरी बात ठीक से आपकी समझ में आ सके।

एक बार मैंने एक पद लिखा था—

आज को तो देखता हैवान भी,
मगर कल को देखते, इन्सान हैं।
देखना मुश्किल अंधेरी रात में,
रोशनी में देखना आसान है।

आज को, वर्तमान को तो कोई भी देख सकता है। जो रोशनी में रहता है,

ऊर्ध्वमुखी दृष्टि रखे। भविष्य को देखकर चले, और अपने हर कदम पर, हर चरण पर यह निर्णय लेता रहे कि मेरा ध्येय, मेरी दृष्टि सामने अपने लक्ष्य-बिन्दु पर टिकी है या नहीं ? मेरा अनन्त उज्ज्वल भविष्य कहीं वर्तमान की चकाचौंध में धुंधला तो नहीं हो रहा है ? मैं क्षुद्र वासना या सुख व स्वार्थ के लिए अनन्त सुखमय भविष्य के द्वार पर ताले तो नहीं लगा रहा हूँ? जिसके लिए कहीं आगे पछताना पड़े, ऐसा तो कोई कृत्य अभी नहीं कर रहा हूँ—इस प्रकार का चिंतन, इस प्रकार की दीर्घदृष्टि जिस साधक के पास होती है, वह साधक अपने साधनामय जीवन में निश्चित ही चारचाँद लगा सकता है। साधना का अमृत फल प्राप्त कर सकता है।

भविष्य को देखिए

गृहस्थ भी एक साधक है। उसका जीवन भी साधना की कर्मभूमि है। वह इस जीवन-रथ में चढ़कर धर्म एवं राष्ट्र दोनों की रक्षा करता है। अतः उसके लिए भी आचार्यो ने कहा है—गृहस्थ को 'दीर्घदृष्टि' होना चाहिए। सद्गृहस्थ के मार्गानुसारी बोलों में यह छब्बीसवाँ बोल है।

कुछ भाई कहते हैं 'दीर्घदृष्टि' तो कुदरत की देन है, हर कोई तो नहीं बन सकता। हाँ, कुछ मायने में यह बात ठीक है। जैनदर्शन भी कहता है, बुद्धि की सूक्ष्मता, दीर्घगामिता, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम का परिणाम है। पर, क्षयोपशम से जो बुद्धि मिली है, प्रयत्नपूर्वक उसको निर्मल और दूरगामी भी बनाया जा सकता है। बहुत से व्यक्तियों के पास बुद्धि की कमी होती है, किन्तु ऐसे बहुत से व्यक्तियों को भी मैंने देखा है, जो बुद्धिशाली होते हुए भी बुद्धि का सदुपयोग नहीं करते। जैसे धन खर्च करने के मामले में लोग कंजूसी करते हैं, वैसे बुद्धि खर्च करने में भी बहुत से लोग कंजूसी करते हैं। बुद्धि-युक्त होते हुए भी वे बुद्धि से काम लेना नहीं जानते, उसका उपयोग करना नहीं जानते। आचार्यों ने 'दीर्घदृष्टि' बनने की जो बात कही है, वह वास्तव में बुद्धि का सदुपयोग करने की ही बात है।

कल्पना करिये, आप सड़क पर चल रहे हैं, पिछला पैर उठाकर आगे रख रहे हैं, तो पहले क्या करेंगे ? सामने देखेंगे, कोई पत्थर तो नहीं है, कोई गड्ढा तो नहीं है जिससे आपको चोट लग जाय, या गड्ढे में धड़ाम से गिर पड़ें। सामने कोई मोटर, रिक्शा या आदमी तो नहीं आ रहा है, जिससे आप टकराकर चोट खा जायें। अगल-बगल में, या पीछे कोई ऐसा वाहन या पशु तो नहीं आ रहा है जिसकी टक्कर से आप संकट में पड़ जायें, कहीं एक्सीडेंट नहीं हो जाये—इन सब बातों को देखते हुए आप रास्ते में चलते है या नहीं ? आप

एक मिनट सोच-विचार कर उत्तर दिया—"दो आगे के, दो पीछे के, यों कुल चार पैर होते हैं।"

प्रश्नकर्ता ने मजाक से कहा—"वाह! इतने बड़े बुद्धिमान कहलाते हो, और इतनी सीधी-सी बात के लिए इतना सोचना? यह तो बच्चा भी जानता है कि हाथी के चार पैर होते हैं।"

बुद्धिमान ने कहा—यह उत्तर तो तपाक से दिया जा सकता था, पर लगते ही तुम यह पूछ लेते कि 'कंसलावे' (कान खजूरा) के कितने पैर होते हैं? और तब मुझे विचार करना पड़ता तो क्या तुम नहीं कहते कि अब झट से क्यों नहीं बोलते!"

प्रश्नकर्ता ने अपना कान पकड़ा, कि सच, मैं तो दूसरी बार में यही पूछने वाला था, पर तुमने मेरी चाल को पहले ही पकड़ लिया।

तो आने वाले प्रश्न और समस्या का अनुमान पहले ही कर लेना और उसका समाधान खोज लेना यह है दीर्घदृष्टि का एक रूप।

भविष्य का सुधार

मुझे जयपुर के इतिहास की एक घटना याद आ रही है। जयपुर नरेश माधोसिंह जी के समय की यह बात है। बैसाख का महीना था, ठण्डी सुहावनी रात में महाराज महल के ऊपर की छत पर सोये थे। करीब तीन बजे का समय होगा, एक हृदय-भेदी क्रन्दन महाराज के कानों में पड़ा, उनका हृदय उद्वेलित हो उठा। यह प्रातःकाल का शान्त समय, इसमें कौन दुखिया है जो इस प्रकार फूट-फूट कर रो रही है? दरबार की नींद उचट गई और उन्होंने अपने पहरेदार रामसिंह को आवाज दी। रामसिंह आया। दरबार ने कहा—"यह रोने की आवाज कहाँ से आ रही है। इसमें बड़ा दर्द भरा है, सुन-सुन कर मेरा हृदय दुखी हो रहा है। पता लगाओ कहाँ से यह आवाज आ रही है, और क्यों?" थोड़ी देर में पहरेदार पता लगाकर आया और बोला—"महाराज! राजमहल के पास में ठाकुर शार्दूलसिंह जी की हवेली है, वहीं पर यह रोना-धोना मच रहा है।" दरबार ने पूछा—"क्या बात है?" पहरेदार ने बताया—"ठाकुर साहब की इकलौती कन्या है मालती। रात को, लग्न में उसके फेरे थे। विवाह की वेदी पर जब कन्या और वर आये तो भँवरें पड़ने लगीं। विवाह में सात भँवरें पड़ती हैं, तो जब पाँचों भँवरें पड़ीं तो वर की [illegible] सा गई, वह एकदम बेहोश होकर गिर पड़ा और वहीं ही समाप्त हो गया। रंग में एकाएक भंग हो गया, चारों ओर हाय-हाय मच गई। अब वह

सूरज की रोशनी में चमक रहा है उसे देखना कोई कठिन बात नहीं, किन्तु भविष्य की गुफा में जो छिपा हुआ है, अन्धकार में डूबा हुआ है उसे देख पाना वास्तव में ही बड़ी बात है, और वही व्यक्ति भविष्यद्रष्टा या दूरदर्शी कहलाता है।

कल का प्रश्न आज सुलझाइए

हमारे यहाँ ज्योतिषी को भविष्यद्रष्टा कहा जाता है। वह ग्रह-नक्षत्रों की गति की गणना करके भविष्य का ज्ञान प्राप्त करता है और उसका फलाफल बताता है। किन्तु मैं मानता हूँ सच्चा भविष्यद्रष्टा वह व्यक्ति है, जो अपने जीवन, समाज एवं धर्म का भविष्य देखकर उसका विकास करता है, उसे ऐसे मार्ग पर ले चलता है, जहाँ कल आने वाली आपत्तियाँ, संकट और दुर्भाग्य उस पर आक्रमण नहीं कर सकें। और भविष्य में पैदा होने वाली नई-नई स्थिति-परिस्थितियों का वह ज्ञान के साथ मुकाबला कर सके।

समझ लीजिए आज आप एक नया बंगला बना रहे हैं, और अभी परिवार में आप दो मियाँ-बीवी ही हैं। पैसा भी पास में है, तो क्या आप सिर्फ दोनों के लिए ही एक छोटा-सा घर बनाएँगे? कल बच्चे भी होंगे, परिवार बढ़ेगा, रिश्तेदार व मित्र भी आयेंगे तो उन सबकी कल्पना करके, विकास की सम्भावनाएँ लेकर ही तो आप खूब लम्बा-चौड़ा बंगला बनायेंगे ताकि फिर तोड़-फोड़ करके नया नहीं बनवाना पड़े। आगे की सोचना और विकास की संभावना देखना—यह सामान्य जीवन-दृष्टि है। जो आगे की नहीं सोचता, कहता है—'**वर्तमानेन कालेन वर्तयन्ति विचक्षणाः**'—बस वर्तमान को देखो, आज जितनी जरूरत है बना लो, कल का कल देखेंगे—तो उसे भविष्य में दिक्कतें उठानी पड़ती हैं। नीतिकार का कहना है जो काम आज प्रारम्भ कर रहे हो, उसके लम्बे भविष्य को सोचलो। आज एक बड़ का बीज चार इन्च भूमि में भी डाला जा सकता है, किन्तु जब उसका विस्तार होगा तो कितनी जमीन घेरेगा, उसका विचार भी तो आज ही करना पड़ेगा। यदि यह विचार आज नहीं करोगे तो, या तो वह घर फोड़के निकलेगा, अथवा उसे काटना पड़ेगा।

तो यह दीर्घदृष्टि का एक पहलू है कि जो काम आज प्रारम्भ कर रहे हो, उसके भविष्य के विस्तार एवं विकास की कल्पना भी आज ही कर लो। उसका भविष्य में क्या रूप होने वाला है और किन-किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता है इसकी कल्पना भी आज ही आपके मन में उभर आनी चाहिए।

एक बुद्धिमान से किसी ने पूछा—हाथी के कितने पैर होते हैं? उसने

औरतों ने जब भँवर गाईं तो दरबार ने पुरोहित से पूछा—"ये भँवर शास्त्रों के अनुकूल हैं या नहीं ?" पुरोहितजी ने कहा—"महाराज ! ये शास्त्रों के अनुकूल हैं ।" दरबार—"तो पुरोहितजी ! जब चौथे भँवर में ही वर मर गया तो कन्या किस पक्ष की रही ?"

पुरोहितजी ने कहा—"महाराज ! तब तक तो कन्या अपने मातृपक्ष की ही रही, वर पक्ष की तो सातवें भँवर में होती है, और वर चौथे भँवर में ही मर गया तो कन्या कुँवारी ही रही ।"

दरबार ने उन ठाकुरों से पूछा—"फिर आप लोग इस कन्या को किसके पीछे सती कर रहे हो ? यह तो अभी तक कुँवारी है ।" महाराज माधोसिंह जी के उत्तर से सन्नाटा छा गया । दरबार ने फिर कहा—"इस बरात में जितने लड़के हों, उन्हें मेरे सामने लाओ ।" उसी वक्त ग्यारह लड़के दरबार के सामने लाये गये और उनमें एक सुन्दर युवक चतरसिंह नाम का था, उसे दरबार ने पसन्द किया और कहा—"इस लड़के के साथ कन्या की शादी कर दो ।" दरबार के सामने ही कन्या की शादी हो गई और बाद में उस लाश का संस्कार किया गया ।

दीर्घदृष्टि का यह दूसरा रूप है कि समाज में, आज जो रूढ़ियाँ या गलत धारणाएँ चल रही हैं, उनके भावी परिणाम को सोचें, कि आने वाले भविष्य में उनके कितने खतरनाक एवं अहितकर परिणाम आयेंगे, और आने वाली पीढ़ी किस प्रकार उन रूढ़ियों के चक्कर में निर्दयतापूर्वक पीसी जायेगी, अतः उन्हें आज ही समाप्त कर देना चाहिए । आज जो छोटा-सा छिद्र है, वह कल बहुत बड़ा नाला बन सकता है, और तब उसे रोकना बहुत ही कठिन हो जायेगा । आज जिस अंकुर को नख से उखाड़ा जा सकता है, भविष्य में वह कुठार से भी नहीं उखाड़ा जायेगा—इसलिए ऐसी गलत रूढ़ियों को भविष्य का विचार करके आज ही समाप्त करने का प्रयत्न करना यह भी दीर्घदृष्टि का गुण है ।

तो यह दो बातें हुईं—पहली बात आने वाले कल को सुन्दर और सुखमय बनाने के लिए नये प्रयत्न करे, और दूसरी बात भविष्य में दुःखदायी होने वाली अहितकर बातों का आज ही से निराकरण करे ।

दीर्घदृष्टि का तीसरा पहलू है—योग्यायोग्य का विचार और चौथा पहलू है—सर्वांगपूर्ण निर्णय करना । आप अपने परिवार, समाज या व्यक्तिगत जीवन के लिए कोई भी कार्य कर रहे हैं तो पहले उसकी उपयोगिता का भी विचार कर लेना चाहिए । जो कार्य आपके जीवन में अथवा समाज में अशान्ति व क्षोभ तो पैदा नहीं करेगा, कहीं ऐसा तो नहीं होगा, कि करने गये थे लाभ, और हो आये नुकसान । उलटी आग हाथ में पड़ जाये । इसलिए यही कहा जाता है—

वाले कह रहे हैं, चूंकि यह कन्या का पति हो चुका था इसलिए कन्या को इसके साथ सती होना चाहिए।"

रामसिंह की बात सुनकर दरबार का हृदय भी दुःखी हो उठा। सोचा, जो आ सो तो हुआ, किन्तु अब कन्या के साथ जो अन्याय हो रहा है; और उसके र्दोष जीवन को अग्नि की ज्वालाओं में भस्म करने का प्रयत्न हो रहा है, ह बिल्कुल अन्याय है, इसे यदि नहीं रोका तो भविष्य में इसके बड़े बुरे परि-णाम आयेंगे। दरबार ने इस मामले को बड़ी दूरदृष्टि से सोचा। यद्यपि वे स्वयं कट्टर धार्मिक थे। कहते हैं वे जब इंगलैण्ड जाते तो वहाँ का पानी भी नहीं पीते और न मिट्टी काम में लेते। महारानी विक्टोरिया ने जब उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा—'हमने आपको बेटी बनाई है', और बेटी के घर की कोई वस्तु खाना-पीना भारतीय परम्परा में निषिद्ध है। तो परम्परा में इतने चुस्त होते हुए भी उनसे यह अन्याय नहीं देखा गया। उन्हें इसमें देश की कन्याओं का अंधकारमय भविष्य दिखाई देने लगा। दरबार ने हाथ में तलवार उठाई, नंगे सिर और नंगे पाँव रात के साढ़े तीन बजे उस हवेली में पहुँच गये। वहाँ तो भयंकर क्रन्दन मचा हुआ था। लाश सामने पड़ी थी। दरबार को सामने उपस्थित देखकर सब लोग चुप हो गये। दरबार ने सब स्थिति का अध्ययन किया, उस फूल सी अधखिली कली-सी कन्या को भी देखा, और देखा उस अबोध बालिका को ये लोग सती होने के लिए विवश कर रहे हैं। इस रूढ़ि की वेदी पर पता नहीं ऐसी कितनी मासूम बच्चियाँ बलि हो रही होंगी, और भविष्य में होती रहेंगी। उनका हृदय भीतर ही भीतर संतप्त हो उठा। दरबार ने दोनों पक्षों की सही स्थिति समझी, और कहा—"यदि आप लोगों को मन्जूर हो, तो मैं न्याय कर दूं।" दोनों ही पक्ष इसके लिए रजामन्द हो गये।

दरबार ने पूछा—"शादी में भँवर कितने पड़ते हैं?" लोगों ने बताया—"सात भँवर पड़ते हैं।" दरबार ने कहा—"मैं उन्हें सुनना चाहता हूँ। भँवर गाने वाली औरतों को बुलाओ और ढोल के साथ मुझे सुनाओ।" औरतें आईं, ढोल बजने लगे और वे भँवर गाने लगीं—

पहली तो भँवर ए बनड़ी बाबोसा री लाडली,
दूजी तो भँवर ए बनड़ी काकोसा री लाडली,
तीजी तो भँवर ए बनड़ी वीरा री बहन,
चौथी तो भँवर ए बनड़ी मामासा री भानजी,
पाँचवीं तो भँवर ए बनड़ी फूफाजी री भतीजी,
छठी तो भँवर ए बनड़ी जीजासा री साली,
सातवीं तो भँवर ए बनड़ी हुई रे पराई,

२६

दो सद्गुण

आज मैं आपके समक्ष सद्गृहस्थ के दो बोल—'विशेषज्ञ' और 'कृतज्ञ' इन विषयों पर प्रकाश डालूँगा। वैसे अन्य रूप में ये दो विशेषताएँ पिछले प्रवचन में आ चुकी हैं, अतः यहाँ अधिक विस्तार नहीं करूँगा।

मार्गानुसारी बोलों का सत्ताईसवाँ बोल है 'विशेषज्ञ' और अट्ठाईसवाँ बोल है—'कृतज्ञ'। विशेषज्ञ का अर्थ है—'विशिष्ट ज्ञानी' विशेष जानकार। सामान्यतः ज्ञान तो हर एक मनुष्य में रहता है, किन्तु सामान्य ज्ञान से कोई व्यक्ति ज्ञानी अथवा विद्वान नहीं कहला सकता। जब तक किसी विषय का विशेष या गम्भीर ज्ञान नहीं होता, तब तक वह उस विषय में दक्ष नहीं हो सकता। आजकल की पढ़ाई में भी विद्यार्थी को सामान्य ज्ञान के साथ-साथ किसी एक-दो विषय की विशेष शिक्षा भी दी जाती है, जिसमें दक्षता प्राप्त कर वह उस विषय में आगे बढ़ जाता है, और अपनी आजीविका अच्छे ढंग से चला सकता है। डाक्टरों में भी कोई हार्ट का विशेषज्ञ होता है, कोई [illegible] का और कोई [illegible] आदि का। विज्ञान में भी अलग-अलग विषयों की अलग-अलग शाखाएँ चलती हैं और उनके अलग-अलग विशेषज्ञ होते हैं। प्रश्न यह है कि गृहस्थ को किस विषय का विशेषज्ञ होना चाहिए। यहाँ 'विशेषज्ञ' कहने से क्या अभिप्राय है?

बात यह है कि सामाजिक क्षेत्रों में भी गृहस्थ [illegible] होता ही है, जो [illegible] है, उसके [illegible] हैं, उनमें स्वभावतः ही वह विशेषज्ञ हो जाता है। [illegible] सुनार पर [illegible] [illegible] वर्ष [illegible] [illegible]—[illegible] [illegible] में [illegible]

खाती पीती डोकरी घर में घाल्यो घोड़ो।
राम भजन अब छोड़कर दूब खोदवा दौड़ो॥

घर में बैठी बुढ़िया मजे से खाती-पीती और राम का नाम लेती थी। पड़ोसी के घर में घोड़ा देखकर उसे भी घोड़ा खरीदने का शौक चर्राया। घोड़ा खरीद लिया, अब खाना-पीना और भगवान का नाम हराम हो गया, घोड़े के लिए दूब खोदने को और दौड़ लगाओ। उलटी परेशानी सिर पड़ गई। तो अपने किसी कदम से ऐसा अयोग्य कार्य न हो पाये कि जिससे 'घर में हाण और लोक में हाँसी' वाली बात हो। अतः नीतिकार का कथन है कि जिस काम को करना हो, उसे पहले गम्भीरतापूर्वक सोच लो। उसके सुन्दर परिणामों को भी सोचो, और बुरे परिणामों को भी। आपके कार्य के कितने और कैसे परिणाम आ सकते हैं, इन सब बातों पर विचार कर लो। और यह उचित विचार करने के बाद ही कोई कार्य करो।

मैंने अपने पूर्व प्रवचन में भी बताया था कि जो 'सोच के करता है, उसे सोचना नहीं पड़ता।' अर्थात् जो दीर्घदृष्टि से पहले ही विचार कर लेता है, उसे बाद में पछताना नहीं पड़ता। यह गुण—यह दीर्घदृष्टि जीवन में बहुत ही आवश्यक है, अतः आचार्य ने श्रावक को जीवन में इसे अपनाने और विचार-पूर्वक कार्य करने की शिक्षा दी है।

इसके साथ एक बात और कह दूं। कुछ लोग सोचते तो बहुत दूर की हैं, पर सोचते-सोचते इतनी सोचते हैं कि कर कुछ नहीं पाते। केवल सोचते रहना, करना कुछ नहीं, यह दीर्घदृष्टि का दोष है, जिसे 'दीर्घसूत्रता' कहते हैं। नीति-कारों ने 'दीर्घसूत्री—आलसी' को पुरुषार्थहीन और जीवन-संग्राम में हारने वाला बताया है। अतः दीर्घदृष्टि बनिए, परन्तु दीर्घसूत्री नहीं, सोचिए, विचारिए, पर सोच-विचार में ही डूबे मत रहिए। सोच-विचार कर आखिर कुछ कर डालिए, तभी जीवन में आनन्द, सुख एवं समृद्धि का नया प्रकाश फैलेगा।

फल नहीं आ रहा है। आप पूछेंगे कि क्यों? फल क्यों नहीं आ रहा है? तो भाई मेरा तो अनुभव है कि जब तक विद्या की बेल को धर्म-ज्ञान का पोषक खाद नहीं मिलेगा तब तक यह बेल बांझ ही रहेगी, उन पर योग्यता का फल नहीं लगेगा।

धर्म-ज्ञान से योग्यता

हमारे पुराने आचार्यों ने विद्या को फलवती बनाने के लिए ही यह बात कही है कि अन्य विषयों के साथ-साथ हमें अपने धर्म, इतिहास, परम्परा आदि का भी विशेषज्ञ होना चाहिये। मैं देखता हूं हमारे बहुत से भाई जिन्हें चालीस पचास वर्ष धर्मध्यान करने, सामायिक आदि करते गुजर गये पर, उन्हें पूछा जाय—'आपकी गति क्या है? जाति क्या है? तो मुंह देखने लग जायेंगे, कुछ भी उत्तर नहीं दे सकेंगे।'

कुछ बूढे संतों के पास एक भाई बैठा था। इधर-उधर की बड़ी बातें कर रहा था। संतों ने पूछा—'तुझे कुछ जाणपणा आता है या नहीं?' भाई बड़ा चालू था, बोला—'हां महाराज, बहुत आता है।' संतों ने पूछा—'बता तेरी गति क्या है?'

भाई—'महाराज! इस बात को हमें क्या मालूम, जो लिखी है सो हो जायेगी?'

संतों ने कहा—'मूर्ख! हो क्या जायेगी? गति तो तेरी हो गई—मनुष्य गति! अब कुछ जाणपणा नहीं सीखा और कुछ धर्म-ध्यान नहीं किया तो बिगड़ भले ही जायेगी!'

आप से कोई पूछे—आपकी जाति क्या है? तो कोई कहेंगे ओसवाल, कोई पोरवाल! तो यह कोई जाति है? जाति है 'पंचेन्द्रिय'। ये सब बातें धार्मिक ज्ञान होने से ही जानी जाती है। यह तो धर्म का सामान्य बोध है, बाकी तत्त्वज्ञान, आचारधर्म आदि का विशेष ज्ञान जब आपको होगा तो आपकी सन्तान की उस ओर दिलचस्पी रहेगी। जब आपके बच्चे धर्म के ज्ञाता होंगे तो अपने आप उनके संस्कारों में विनय-विवेक जागृत हो जायेगा। वे अपने कर्तव्य को समझने लगेंगे और जिसे कर्तव्य का बोध हो गया, उसके अन्दर अपने आप योग्यता आयेगी, पात्रता आयेगी और सोयी हुई विद्या चमकने और महकने लगेगी। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने सद्गृहस्थ के लिए यह गुण बताया है कि वह नीति एवं धर्म का विशेषज्ञ बने।

विशेषज्ञ कैसे बना जा सकता है? इसके उत्तर में बताया गया है, धर्म-

लायेगा। तोल और भाव-ताव में वह जितना जल्दी ग्राहक को पटायेगा, शायद डाक्टर नहीं पटा सकेगा। इसका कारण है, दुकानदारी उसका खानदानी पेशा है, उसके रक्त में संस्कार हैं और बिना पढ़ाये ही वह उस विषय का विशेषज्ञ हो जाता है। मैंने कई बार देखा है एक १० वर्ष की कन्या जितनी अच्छी रसोई बना सकती है, फुलके सेकना, बघार देना, जितनी कुशलता से कर सकती है, उतनी कुशलता से शायद आप नहीं कर सकते। आप या तो रोटी जला देंगे, या हाथ जला लेंगे। तो यह सब व्यावहारिक ज्ञान है, स्वभाव एवं खानदान के कारण प्रायः बिना अभ्यास किये ही यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है, और हमारी बहनें इन कामों में बड़ी जल्दी विशेषज्ञ हो जाती हैं। किन्तु यहां गृहस्थ को विशेषज्ञ होने की बात कही है उसका अभिप्राय कुछ दूसरा है।

विद्या है, पर योग्यता नहीं

आचार्य का कहना है कि सद्गृहस्थ को धर्म एवं नीति का विशेषज्ञ होना चाहिये। जो धर्म आपके जीवन-सुधार का मूल आधार है, जिसके द्वारा हम इस लोक और परलोक दोनों को सुधार सकते हैं उस धर्म का ज्ञान प्राप्त करना, और उस विषय में विशेषज्ञ होना—यह गृहस्थ का कर्त्तव्य है।

आज क्या हो रहा है? लड़कों को ऊँची से ऊँची शिक्षा व डिग्रियाँ दी जाती हैं, लड़कियाँ भी कहती हैं हम पीछे नहीं रहेंगी, हम भी कालेज जायेंगी, बी. ए., एम. ए. होंगी। तो अध्ययन काफी तेजी से बढ़ रहा है, और माता-पिता भी उसमें आँख मींचकर खर्च कर रहे हैं, कि कैसे भी बच्चे पढ़-लिखकर तैयार हो जायें। पर पढ़ाई के इतने खर्चे उठाने के बाद, इतना कष्ट व समय बर्बाद करने के बाद भी परिणाम क्या आ रहा है? क्या इस शिक्षा का कोई सुन्दर परिणाम आपके सामने आ रहा है? विद्या का फल क्या है? नीतिकारों ने कहा है—

विद्या ददाति विनयं, विनयाद् याति पात्रताम्।

विद्या से मनुष्य विनयसंपन्न बनता है, विनय से योग्यता प्राप्त करता है और योग्य व्यक्ति संसार में आनन्द और यश की उपलब्धि करता है। आज पढ़े-लिखे सैंकड़ों-हजारों विद्यार्थियों में कितने विनीत मिलेंगे? और कितने योग्य मिलेंगे? जहां देखो वहाँ आज यही शिकायत है कि एम. ए. और पी-एच. डी. तो बहुत मिलते हैं, पर कोई योग्य व्यक्ति नहीं मिलता। यदि पढ़ने से ही कोई योग्य हो जाता तो आज यह शिकायत नहीं सुनने को मिलती कि कोई योग्य व्यक्ति नहीं मिलता! हाँ, तो मेरा आशय यह है कि विद्या ज... रही है, पर विद्या की बेल बांझ बनती जा रही है, उस पर योग्यता

खरीद सके। एक बार बहुत से पत्रों का ढेर लग गया तो भारतेन्दु जी ने सबके उत्तर लिख-लिखकर लिफाफों पर पते कर टेबल पर रख दिये। उनके एक मित्र ने टेबल पर बिना टिकट लगे पत्रों का ढेर देखा तो तुरन्त उसने पाँच रुपये के टिकट लाकर भारतेन्दु जी को दिये और सब पत्र रवाना किये।

कुछ दिनों बाद भारतेन्दु जी की स्थिति कुछ ठीक हुई। अब जब कभी वे मित्र उनको मिलते तो जेब से पाँच रुपये निकालकर हठपूर्वक उन मित्र की जेब में डाल देते और कहते—'भाई! आपको याद नहीं, आपके पांच रुपये मुझ पर ऋण है।'

मित्र ने कई बार रोका, पर भारतेन्दुजी नहीं माने तो मित्र ने कहा—अब मुझे आपसे मिलना भी बन्द करना पड़ेगा।

भारतेन्दुजी की आँखें भर आई। वे बोले—"भाई! ऐसा मत करना। तुमने मुझे ऐसे समय में पांच रुपये दिये कि अब मैं जीवन भर भी तुम्हें रोज पांच रुपये देता रहूँ तब भी तुम्हारे उपकार से मुक्त नहीं हो सकता।"

देखिये यह है कृतज्ञता। ऋण कितना था? सिर्फ पांच रुपये! वह भी बिना मांगे मित्र ने दिया, और भारतेन्दु ने पांच के पच्चीस लौटा दिये फिर भी उनका उपकार मानते रहे कि उसने मौके पर सहयोग किया था?

आपके जीवन में भी ऐसे प्रसंग आते होंगे? पर आपके मन में शायद ही इस प्रकार की कृतज्ञ भावना कभी जगी होगी? छोटे-छोटे क्या बड़े-बड़े उपकार करने वालों को भी आदमी भुला देता है, और कहता है दिया तो कौनसा एहसान कर दिया, हमने वापस लौटा दिया!

बात यह है कि उपकार के अवसर जीवन में बार-बार नहीं आते। कभी-कभी कोई ऐसे प्रसंग आते हैं और उनको जीवन में सदा याद रखना चाहिए। यह सोचना चाहिए कि यदि समय पर उसका सहयोग नहीं मिलता तो क्या स्थिति होती? उसने जो सहयोग किया, उपकार किया वह जीवन में एक खतरे से, एक आपत्ति से आपको पार कर गया। अब उसके प्रति कृतघ्न नहीं होना चाहिए।

महाभारत में एक जगह बताया है—जो उपकार करने वाले के प्रति भी उपकार करे वह महात्मा है। उपकारी के प्रति उपकार की भावना रखे, वह सामान्य मानव है, और जो किये हुए उपकार को भूला दे, उपकारी का भी अपकार करने लग जाय, वह अधम मानव है। राक्षस और चांडाल से भी नीच है।

तो यही बात आज आपसे मैं कह रहा हूँ कि आप जीवन में महात्मा न भी बन सकें तो कम से कम सामान्य मानव तो बने रहिए। इस स्तर से नीचे मत गिरिए। जीवन में कृतज्ञता लाकर सबके प्रति विनम्र और प्रेममुग्ध बने रहना—यह सद्गुणों का आधार है।

शास्त्रों का श्रवण करें, अच्छे ग्रन्थों का अध्ययन करें, स्वाध्याय करें और उनमें से जो सार-तत्त्व है उसे स्मृति में स्थिर करें। अध्ययन करते-करते अल्पज्ञ मनुष्य भी विशेषज्ञ बन जाते है।

सताईसवां बोल है—'कृतज्ञ !' कृतज्ञता शब्द का अर्थ है—किये हुए को जानना। आपके ऊपर माता-पिता का उपकार है, परिवार का उपकार है, समाज और राष्ट्र का उपकार है। मतलब यह है कि छोटे से छोटे और बड़े से बड़े किसी भी मनुष्य पर क्या, प्राणि-मात्र पर, एक-दूसरे प्राणी का उपकार होता है। बिना एक-दूसरे के सहारे कोई जी नहीं सकता। हजारों-लाखों ऐसे व्यक्ति हो चुके हैं जिन्हें आप जानते नहीं, उनका नाम भी नहीं सुना होगा, पर उनका उपकार आपके सिर पर है ? आज आप बिजली के सहयोग से कितना आराम प्राप्त कर रहे हैं ? पर जिसने बिजली का आविष्कार किया, और जिन्होंने इसका विकास-विस्तार कर आपके घर तक पहुँचाया क्या आप उन्हें जानते हैं ? नहीं ! पर उनका उपकार तो है कि जिनके बदौलत आज आप आराम से जीवन गुजार रहे हैं। इस तरह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जो वस्तु हमारे उपयोग में आती है, उसके आविष्कारक, निर्माता आदि का उपकार-सूत्र तो जाने-अनजाने हमारे साथ जुड़ा हुआ ही है। यह एक बहुत गहरा विचार है और इस दृष्टि से सोचने पर संसार का प्रत्येक प्राणी हमें अपना उपकारी प्रतीत होगा। अब जो हमारा उपकारी है, उसके प्रति हमारी भावना में स्नेह, सम्मान और आदर होना चाहिये या नहीं ? आप कहेंगे—जरूर ! बस इस विचार की स्वीकृति और फिर मन में चिंतना करना, यही कृतज्ञता का मूल रूप है।

दूसरी बात यह है कि इस जीवन-क्षेत्र में जो हमारे निकटतम उपकारी हैं, जिनका उपकार, जिनका सहकार हमारे जीवन का आधार बना है, वे माता-पिता, बन्धु, मित्र, गुरुजन आदि प्रतिक्षण हमारे जीवन के अभ्युदय एवं कल्याण के लिए प्रयत्न करते हैं, उनके प्रति हमारे हृदय में 'कृतज्ञ भाव' होना चाहिए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम आपने सुना होगा। वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के आदि लेखक और कवि ही नहीं, किन्तु एक बहुत बड़े उदार और गुणी व्यक्ति भी थे। उनके सम्बन्ध में एक घटना प्रसिद्ध है कि वे एक बार अपने पास जो कुछ भी था वह सब लोगों को दे चुके थे। उनका हाथ बहुत तंग चल रहा था। तंगी के दिनों में भी किसी से मांगने में उन्हें संकोच होता। मित्रों और साहित्यकारों के पत्र आते तो उन्हें उत्तर देने के लिए डाक टिकट तक वे नहीं

खरीद सके। एक बार बहुत से पत्रों का ढेर लग गया तो भारतेन्दु जी ने सबके उत्तर लिख-लिखकर लिफाफों पर पते कर टेबल पर रख दिये। उनके एक मित्र ने टेबल पर बिना टिकट लगे पत्रों का ढेर देखा तो तुरन्त उसने पांच रुपये के टिकट लाकर भारतेन्दु जी को दिये और सब पत्र रवाना किये।

कुछ दिनों बाद भारतेन्दु जी की स्थिति कुछ ठीक हुई। अब जब कभी वे मित्र उनको मिलते तो जेब में पांच रुपये निकालकर हठपूर्वक उन मित्र की जेब में डाल देते और कहते—'भाई! आपको याद नहीं, आपके पांच रुपये मुझ पर ऋण हैं।'

मित्र ने कई बार रोका, पर भारतेन्दुजी नहीं माने तो मित्र ने कहा—अब मुझे आपसे मिलना भी बन्द करना पड़ेगा।

भारतेन्दुजी की आंखें भर आईं। वे बोले—"भाई! ऐसा मत करना। तुमने मुझे ऐसे समय में पांच रुपये दिये कि अब मैं जीवन भर भी तुम्हें रोज पांच रुपये देता रहूं तब भी तुम्हारे उपकार से मुक्त नहीं हो सकता।"

देखिये यह है कृतज्ञता। ऋण कितना था? सिर्फ पांच रुपये! वह भी बिना मांगे मित्र ने दिया, और भारतेन्दु ने पांच के पच्चीस लौटा दिये फिर भी उसका उपकार मानते रहे कि उसने मौके पर सहयोग किया था?

आपके जीवन में भी ऐसे प्रसंग आते होंगे? पर आपके मन में शायद ही इस प्रकार की कृतज्ञ भावना कभी जगी होगी? छोटे-छोटे क्या बड़े-बड़े उपकार करने वालों को भी आदमी भुला देता है, और कहता है दिया तो कौनसा एहसान कर दिया, हमने वापस लौटा दिया!

बात यह है कि उपकार के अवसर जीवन में बार-बार नहीं आते। कभी-कभी कोई ऐसे प्रसंग आते हैं और उनको जीवन में सदा याद रखना चाहिए। यह सोचना चाहिए कि यदि समय पर उसका सहयोग नहीं मिलता तो क्या स्थिति होती? उसने जो सहयोग किया, उपकार किया वह जीवन में एक खतरे से, एक आपत्ति से आपको पार कर गया। अब उसके प्रति कृतघ्न नहीं होना चाहिए।

महाभारत में एक स्थान बताया है—जो उपकार करने वाले के प्रति भी उपकार नहीं कर सकता है। उपकारी के प्रति उपकार की भावना रखे, वह सामान्य मानव है, और जो किये हुए उपकार को भूला है, उपकारी का भी अपकार करने लग जाए, वह महान् दुष्ट है। चांडाल और चांडाल से भी नीच है।

तो मैं यह बात आज आपको कह रहा हूं कि आप जीवन में महात्मा न भी बन सकें तो कम से कम सामान्य मानव तो बने रहिए। इस स्तर से नीचे मत गिरिए। जीवन में कृतज्ञता धारण कर सबके प्रति विनम्र और प्रेमपूर्ण बने रहिए—यह सत्पुरुष का व्यवहार है।

शास्त्रों का श्रवण करें, अच्छे ग्रन्थों का अध्ययन करें, स्वाध्याय करें और उनमें से जो सार-तत्त्व है उसे स्मृति में स्थिर करें। अध्ययन करते-करते अल्पज्ञ मनुष्य भी विशेषज्ञ बन जाते हैं।

सताईसवाँ बोल है—'कृतज्ञ !' कृतज्ञता शब्द का अर्थ है—किये हुए को जानना। आपके ऊपर माता-पिता का उपकार है, परिवार का उपकार है, समाज और राष्ट्र का उपकार है। मतलब यह है कि छोटे से छोटे और बड़े से बड़े किसी भी मनुष्य पर क्या, प्राणि-मात्र पर, एक-दूसरे प्राणी का उपकार होता है। बिना एक-दूसरे के सहारे कोई जी नहीं सकता। हजारों-लाखों ऐसे व्यक्ति हो चुके हैं जिन्हें आप जानते नहीं, उनका नाम भी नहीं सुना होगा, पर उनका उपकार आपके सिर पर है? आज आप बिजली के सहयोग से कितना आराम प्राप्त कर रहे हैं? पर जिसने बिजली का आविष्कार किया, और जिन्होंने इसका विकास-विस्तार कर आपके घर तक पहुँचाया क्या आप उन्हें जानते हैं? नहीं! पर उनका उपकार तो है कि जिनके बदौलत आज आप आराम से जीवन गुजार रहे हैं। इस तरह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जो वस्तु हमारे उपयोग में आती है, उसके आविष्कारक, निर्माता आदि का उपकार-सूत्र तो जाने-अनजाने हमारे साथ जुड़ा हुआ ही है। यह एक बहुत गहरा विचार है और इस दृष्टि से सोचने पर संसार का प्रत्येक प्राणी हमें अपना उपकारी प्रतीत होगा। अब जो हमारा उपकारी है, उसके प्रति हमारी भावना में स्नेह, सन्मान और आदर होना चाहिये या नहीं? आप कहेंगे—जरूर! बस इस विचार की स्वीकृति और फिर मन में चिंतना करना, यही कृतज्ञता का मूल रूप है।

दूसरी बात यह है कि इस जीवन-क्षेत्र में जो हमारे निकटतम उपकारी हैं, जिनका उपकार, जिनका सहकार हमारे जीवन का आधार बना है, वे माता-पिता, बन्धु, मित्र, गुरुजन आदि प्रतिक्षण हमारे जीवन के अभ्युदय एवं कल्याण के लिए प्रयत्न करते हैं, उनके प्रति हमारे हृदय में 'कृतज्ञ भाव' होना चाहिए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम आपने सुना होगा। वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के आदि लेखक और कवि ही नहीं, किन्तु एक बहुत बड़े उदार और गुणी व्यक्ति भी थे। उनके सम्बन्ध में एक घटना प्रसिद्ध है कि वे एक बार अपने पास जो कुछ भी था वह सब लोगों को दे चुके थे। उनका हाथ बहुत तंग चल रहा था। तंगी के दिनों में भी किसी से माँगने में उन्हें संकोच होता। मित्रों और साहित्यकारों के पत्र आते तो उन्हें उत्तर देने के लिए डाक टिकट तक वे नहीं

किसी भी व्यक्ति से यदि पूछा जाय—'कि आप लोकप्रिय होना चाहते हैं या नहीं ?' तो शायद शत-प्रतिशत यही उत्तर मिलेगा—जरूर ! जरूर ! और शायद यह भी पूछ बैठेंगे "कोई सरल नुस्खा हो तो महरबानी करके बताइए।" मतलब यह है कि लोगों का प्रिय होना मानव की मूल इच्छा है, वह आज ही नहीं, अनादि-अनादि काल से यही चाहता आया है कि मैं सब लोगों का प्रिय बनूं। सब मेरा आदर-सत्कार करें। वेदों में स्थान-स्थान पर ऐसी प्रार्थनाएँ आती हैं, जहाँ मनुष्य भाव-विह्वल होकर पुकारता है—

प्रियं मा कृणु देवेषु…प्रियं सर्वस्य पश्यतः।

—अथर्ववेद १६।६२।१

मुझे सज्जनों का प्रिय बनाओ, मुझे सबका प्यारा बनाओ।

मा नो द्विक्षत कश्चन। —अथर्व, १२।१।२४

कोई भी मुझसे ईर्ष्या, द्वेष व दाह न करें।

मधोरस्मि मधुतरो। —अथर्ववेद १।३४।४

मैं संसार में मधु से भी अधिक मीठा बनकर रहूँ। ये भावनाएँ बतलाती हैं कि मनुष्य चिरकाल से लोकप्रिय बनने की आकांक्षा हृदय में संजोये बैठा है। वह चाहता है, सब लोक उससे प्यार करे, कोई भी घृणा, नफरत की नजर से न देखे, सर्वत्र उसका सम्मान हो, और जहाँ जाये वहाँ आदर मिले।

प्रश्न यह है कि क्या चाहने मात्र से ये सब चीजें मिल सकती हैं ? क्या कोई ऐसा कल्पवृक्ष या चिन्तामणि रत्न आपके पास है जो आपकी इन आकांक्षाओं को पूरी कर सके ? कोई ऐसा मंत्र, तंत्र, यंत्र है जो आपकी इन भावनाओं को साकार कर दे सके, और संसार में आपकी कीर्ति, सम्मान तथा जनप्रियता बढ़ा सके ! शायद आप मुझसे ही पूछें कि—'महाराज ! आप ही बताइए ! आप ही ज्ञानी हैं।'

बात यह है कि कोई भी वस्तु चाहने से नहीं, किन्तु करने से मिलती है। आप यदि कुछ उद्यम, प्रयत्न व पुरुषार्थ करना चाहते हैं तो बहुत आसानी से चीजें मिल सकती हैं। आज हजारों वर्ष बीत जाने पर भी राम को 'प्रियदर्शन' कहा जाता है, सम्राट अशोक आज भी 'प्रियदर्शी' बना हुआ है, यह क्यों ? क्या वे राजा थे इसलिए ? राजा तो हजारों हो गये, पर यह 'प्रियदर्शन' का विरुद राम को ही क्यों मिला ? अशोक को ही इतिहास के हजारों राजाओं में 'प्रियदर्शी' क्यों लिखा गया ? बड़े-बड़े धर्माचार्यों सम्राटों को लोग क्यों पूजा करते हैं ? इसका कारण है, और वह यही है कि लोकप्रियता के जो सूत्र थे, वे उनके जीवन [illegible]

३०

लोकप्रियता के नुस्खे

कभी-कभी सोचता हूँ कि हमारे पुराने आचार्यों की कल्पना में सद्गृहस्थ के जीवन का कितना भव्य, मनोरम और उज्ज्वल चित्र बना हुआ था। वे गृहस्थ को घर में रहने वाला एक साधारण गृही नहीं समझते थे, किन्तु उसके भीतर एक देवत्व को देखना चाहते थे। उनकी कल्पना थी—"देहो देवालयः प्रोक्तः जीवो प्रोक्तस्तया शिवः"—यह मानव-शरीर एक पवित्र मन्दिर है, जिसमें जीव रूप शिव विराजमान है। इस देह को वे देवालय मानते हैं और आत्मा को उसका देवता। देवता सिर्फ कल्पना में नहीं, किन्तु उसमें दैवी गुणों का विकास देखना चाहते थे। मानव-देह में जिस देवत्व की प्रतिष्ठा होनी चाहिए थी उसके लिए उन्होंने ऐसे उपदेश किये हैं, ऐसी प्रेरणाएँ दी हैं, शिक्षा और साधना के सूत्र दिये हैं कि जिनको अपनाने से वास्तव में ही यह देहधारी मानव देवत्व से विभूषित हो सकता है। इस मृण्मय देह में चिन्मय ज्योति प्रकट हो सकती है। बन्धुओ! इसी भावना से आचार्य हेमचन्द्र ने गृहस्थधर्म के इन पैंतीस बोलों का विस्तार किया है। जिनकी चर्चा काफी समय से आपके सामने मैं करता आया हूँ। चूंकि अब चातुर्मास समाप्त होने जा रहा है और अभी आज आपके सामने उनतीसवाँ बोल आ रहा है। अतः अब कुछ संक्षेप में ही आपके सामने इन पर चर्चा करूँगा। वास्तव में तो ये सूत्र हैं, और प्रत्येक सूत्र अपने आप में बड़ा महत्त्वपूर्ण और बहुत सार लिए हुए है। तो, आज का बोल है—

"लोकवल्लभः!"

लोकप्रियता कौन नहीं चाहता ?

आचार्य ने गृहस्थ को 'दूरदर्शी', 'विशेषज्ञ' और 'कृतज्ञ' जैसे दिव्य गुणों की शिक्षा देने के बाद अब कहा है, उसे लोकवल्लभ—अर्थात् लोकप्रिय होना चाहिए।

सेवा कर रहा हूँ । सेवाग्राम में जब गांधीजी आश्रम चलाते थे तो वहाँ पण्डितजी थे, जिनका नाम था परचुरे शास्त्री । उन्हें गलित कुष्ठ हो ा । गांधीजी स्वयं उनके घावों को साफ करते, उन पर पट्टी बांधते उनकी सेवा करते । लोग उनसे कहते, "आप रहने दीजिए ।" स्वयं पर- ास्त्री ने भी गांधी जी से कई बार गद्‌गद्‌ होकर कहा—"आप रहने ए !" गांधीजी कहते—'क्यों ? भगवान ने जब मुझे अपनी सेवा का अवसर है तो फिर तुम लोग मुझे उससे रोकते क्यों हो ? मैं कोई परचुरे शास्त्री सेवा नहीं कर रहा हूँ किन्तु नर रूप में नारायण की सेवा कर रहा हूँ ।"

तो पहली बात है अभेद-दृष्टि एवं निस्पृह भाव से सेवा करना । यदि आप सी दुःखी की सेवा करते हैं तो उस दुःखी के मन में निश्चय ही आपके प्रति द्‌भाव पैदा होगा, और सिर्फ उसी के मन में नहीं, जो भी व्यक्ति आपको सेवा रते देखेगा उसके दिल में भी आपके प्रति सहज स्नेह उमड़ आयेगा । वह मन ही मन सद्‌भावों के फूल आपके चरणों में चढ़ायेगा और आपको बहुत ही आदर व सम्मान की दृष्टि से देखेगा ।

प्रायः देखा जाता है कि किसी बीमार या पीड़ित व्यक्ति को देखकर लोग या तो उससे दूर भागते हैं, या फिर उसे उपदेश देते हैं, "घबराओ मत ! यह तो कर्मों का भोग है, तुमने जो कर्म किये उन्हें भोगना ही पड़ेगा, धीरज रखो ! शुभ कर्म उदय में आयेंगे तो अपने आप ठीक हो जाओगे ।" भाई ! आपका उपदेश तो ठीक है, पर यही उपदेश बीमारी के समय कोई आपको दे तो ? आप क्या कहेंगे—"उपदेश तो मैं भी बहुत जानता हूँ, पर मुझे तो चिकित्सा, दवा और डाक्टर की जरूरत है । सेवा और सहयोग की जरूरत है । कोरे उपदेश से बीमारी नहीं मिट जायेगी । उपदेश उपदेश के समय ही उपयोगी होता है, जहां सेवा की जरूरत है, वहां उपदेश से काम नहीं चल सकता । वहां तो जो आगे बढ़कर सेवा करता है वही व्यक्ति सबको प्रिय लगता है । और उसी के नाम पर लोग वाह-वाह करते हैं ।

आपने श्रीकृष्ण वासुदेव की वह घटना तो सुनी है ? जब वे भगवान अरिष्ट- [illegible]

व्यवहार में आये थे। उनका व्यवहार और वर्तन इतना मधुर, सेवा-परायण और विनम्र था कि उसके बल पर वे जन-जन के हृदय में प्रवेश कर गये। जनता ने उन्हें अपनी आँखों पर बिठा लिया, अपने हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित कर लिया।

लोकप्रियता के नुस्खे

अब आपके मन में शायद यह जिज्ञासा बढ़ रही होगी कि वह मंत्र, तंत्र हमें भी बतलाइए ताकि हम भी 'लोकप्रिय' बन जायें। आज तो जमाना ही लोकप्रियता का है, जिसको जनता चाहे उसे मन्त्री बना सकती है, नेता बना सकती है। जिसकी जनप्रियता जितनी अधिक है, राजनीति, धर्मनीति आदि में उसका उतना ही अधिक सम्मान, प्रभाव और मूल्य होगा। तो भाई पुराने आचार्यों ने जब यह बताया है कि लोकप्रिय बनना चाहिए, तो उसके साधन भी बताये हैं और उनमें से ही कुछ सूत्र मैं आपके सामने रखूंगा। मैंने एक बार एक पद्य लिखा था—

तन से सेवा करते रहिए
मन से सबको प्यार
'मधुकर' सदा विनम्र बनो तुम
चाहे सब संसार !

तन से सेवा करना, धन से सहयोग करना, मन से स्नेह और प्रेम करना तथा व्यवहार में विनम्र बने रहना—ये हैं लोकप्रियता के चार सूत्र। ये हैं सरल नुस्खे। यदि आप लोकप्रिय बनना चाहते हैं तो इन पर अमल करिए, संसार स्वतः ही आपको चाहने लगेगा, आपकी इज्जत करेगा, और आपके लिए हथेली में प्राण लिए तैयार खड़ा रहेगा।

करे सेवा, मिले मेवा

सेवा लोकप्रियता का अमोघ साधन है। आपके मन में सेवा की भावना होनी चाहिए। कोई दुःखी, संतप्त प्राणी आपके सामने आता है, रोग से पीड़ित है, या धनाभाव के कारण संतप्त है, किसी कष्ट में पड़ा है, किसी मुसीबत में फँसा है, उस समय आपका कर्त्तव्य है कि आप बिना किसी भेदभाव के उसकी सेवा व सहयोग करें। सेवा में कभी भेदभाव नहीं आना चाहिए। गरीब-अमीर व जान-पहचान का अन्तर नहीं आना चाहिए, नहीं तो वह सेवा नहीं, स्वार्थ-साधना हो जायेगी। सेवा करते समय सिर्फ यह देखना चाहिए कि मैं एक चैतन्य देवता की सेवा कर रहा हूँ। गांधी जी कहते थे—मैं नर रूप में नारा-

करने जाते हैं, उससे तो लोगों के मन में धर्म के प्रति उलटी नफरत पैदा हो रही है, और ईसाई सिस्टर्स जो सीधे रूप में धर्म का प्रचार नहीं करती हैं, उनके धर्म व प्रभु के प्रति अपने आप ही लोग खिंचे आते हैं।

तो यह अन्तर किस बात का पड़ा ? एक केवल धर्म का उपदेश करते थे, जबकि दूसरे सेवा के जरिए अपने धर्म की ओर लोगों को खींचते थे। तो यह चमत्कार सेवा में है। सहयोग एवं स्नेह में है। आपके मन में जनता के प्रति स्नेह है, सद्भाव है, आप अपने धन को उसके हित में उपयोग करते हैं, और हर किसी के प्रति विनम्र व्यवहार करते हैं तो आपको जनप्रिय होने की चिन्ता करने की जरूरत नहीं। आपकी कीर्ति, आपकी प्रतिष्ठा अपने आप जनता के हृदय में प्रवेश कर जायेगी।

मधुर बनिए

आचार्य ने बताया है कि सद्गृहस्थ अपने व्यवहार एवं वर्तन को इतना मधुर, नम्र एवं सेवापरायण बनाये कि संसार में सबको ही प्रिय लगे। मधुर एवं नम्र व्यक्ति से कभी कोई द्वेष नहीं करता, जो देखेगा उसी का स्नेह उमड़ आयेगा। एक लोक कथा है कि रामराज्य में एक बार महाराज रामचन्द्र जी के दरबार में 'गुड़' एक शिकायत लेकर पहुँचा। राम ने पूछा—'भाई ! तुम क्यों आये हो ?'

गुड़ ने कहा—"महाराज ! मुझे संसार में सब कोई परेशान करते हैं। बड़े आदमी क्या, छोटे बच्चे क्या कोई मुझे छोड़ता नहीं, कहीं चुपचाप बैठता हूँ तो ये मक्खियाँ और चींटे भी परेशान करने लग जाते हैं, तो महाराज ! मेरा भी न्याय होना चाहिए।"

राम ने पूछा, 'तुझ में ऐसी क्या बात है, जिस कारण तुझे सब लोग इतना चाहते हैं, और तुम इनसे परेशान हो रहे हो ?"

गुड़ ने बताया—"महाराज ! मैं मीठा हूँ।"

राम ने हँसकर कहा—'भाई ! सब लोग तेरा [illegible] चखना चाहते हैं। मेरे मन में भी तुम्हारे प्रति प्यार उमड़ रहा है, बस इधर आ, जरा चखकर देखूँ तो सही…"

जो भी मीठा होता है, मधुर होता है, उसके प्रति हर किसी के मन में प्रेम उमड़ आता है। जनता का स्नेह उसे सहज ही मिल जाता है। कहावत है—प्रेम खरीदे से नहीं मिलता, प्रेम से मिलता है। यदि आप दूसरों के प्रति [illegible]

भाव। उनके मन में दीन-गरीबों के प्रति इतनी सेवा-भावना थी, तभी लोग उन्हें तक आज याद करते हैं। गांधी जी भी अपनी सेवा-भावना के कारण ही सारे संसार के 'बापू' कहलाये। तो लोकप्रियता का पहला सूत्र यह है कि जो सेवा करेगा, वह जनता का प्रिय होगा, लोग उसे चाहेंगे, उसका सन्मान करेंगे और उसे अपना हितैषी और नेता मानेंगे। लोग कहते हैं करे सेवा, मिले मेवा। पर आजकल लोग सेवा किये बिना ही मेवा पाना चाहते हैं, इसीलिए नेता लोग नेता कहलाकर भी जनप्रिय नहीं बन सकते। सेवा करने से ही जनप्रियता का मेवा मिल सकता है।

जनप्रियता का दूसरा नुस्खा है—सहयोग। आपके पास यदि धन है, अन्य साधन हैं तो उनसे जरूरतमन्दों की मदद कीजिए। रोगियों को दवा दीजिए, भूखों को रोटी दीजिए, मूर्खों को ज्ञान दीजिए, रुजगारहीनों को रोजी दीजिए—आपके साधनों का सदुपयोग होगा, और जनता हृदय से आपको चाहने लगेगी।

एक भाई बता रहे थे, कि एक बार बम्बई की विधान सभा में यह प्रश्न आया कि ईसाई लोग बन्दीगृहों में जाकर, अस्पतालों में जाकर अपने धर्म का प्रचार कर रहे हैं, अतः उसे रोकना चाहिए और उसकी जगह हमें हिन्दू पंडितों को वहाँ भेजकर भारतीय संस्कृति का प्रचार करना चाहिए। सरकार ने हिन्दू पंडितों को भी वहाँ भेजने की व्यवस्था करदी और दोनों के परिणाम जानने के लिए एक जाँच कमेटी बनाई।

कमेटी के सदस्य जब अस्पतालों व जेलों में जाकर देखते हैं तो वहाँ पंडित जी उन रोगी व कैदियों से दूर खड़े रहकर उन्हें उपदेश करते हैं—"देखो! तुमने पूर्व जन्म में पाप किये थे, भगवान का भजन नहीं किया था इसलिए यहाँ तकलीफ पा रहे हो, अब यहाँ भगवान का भजन करो ताकि अगले जन्म में तुम्हारा कल्याण हो" सुनने वाले पंडितों का उपदेश बड़े अनमने भाव से सुनते। पंडितजी भी बस आधा घंटा उपदेश करके चले जाते। किसी को छूते भी नहीं।

वहीं पर जब ईसाई सिस्टर्स आतीं तो वे रोगी उन्हें देखकर स्नेह से सिस्टर-सिस्टर पुकारने लग जाते। वे उन्हें बिस्कुट देतीं, दवाएँ देतीं, दूध व फल लाकर देतीं, बड़े स्नेह से उन्हें पूछतीं—तुम्हारी तबियत कैसी है? और फिर धीरज बंधातीं—"घबराओ मत! प्रभु ईसु बड़े दयालु हैं, तुम्हें जल्दी ही आराम करेंगे।" जब सिस्टर उनके पास से जातीं तो जैसे उनकी सूरत रोनी हो जाती, कोई सगी बहन ही छोड़कर जा रही हो।

जाँच कमेटी ने अपना निर्णय दिया कि ये कोरे पंडित जो धर्म का प्रचार

स्वयं को भी दुःखी समझते थे, वे जनता के साथ रहते, इसलिए जनता ने उन्हें साथ दिया। वे जनता की सेवा करते, इसलिए जनता ने उन्हें 'बापू' मानकर पूजा। वे तीसरे दर्जे में यात्रा करते थे, इसलिए कि जनता के सुख-दुःख का स्वयं भी अनुभव करते रहें। आज इस देश में अपने को लोकप्रिय नेता कहने वाले, या 'लोकप्रियता' की भूख लिये फिरने वाले, क्या इन आदर्शों पर चलते हैं? यदि नहीं, तो फिर लोकप्रिय कैसे बन सकेंगे? जो जनता के साथ रहेगा, वही जनता का प्रिय बनेगा। जो लोगों की सेवा करेगा, वही लोगों का वल्लभ होगा, बस यही लोकप्रियता का मूल मंत्र है, ये ही सरल नुस्खे हैं जो मैंने कुछ विस्तार के साथ आपके समक्ष प्रस्तुत किये हैं।

उनकी सेवा करेंगे, उनके लिए मधुर प्रेम की वर्षा करेंगे तो जनता तो आप पर निछावर हो जायेगी। वह आपको सर-आँखों पर बिठायेगी, और भगवान की तरह पूजेगी, पर कब? जब आपके मन में सेवा एवं सहयोग की भावना होगी।

आज के नेता अपने आपको 'जनप्रिय' नेता बताते हैं, और आज की सरकार भी अपने को 'लोकप्रिय' सरकार बता रही है। पर उनकी लोकप्रियता क्या है यह तो आप सब जानते हैं। लोकप्रियता पैसों से नहीं खरीदी जा सकती, सत्ता और अधिकार के बल पर कोई अपने को लोकप्रिय बताये, तो यह अपने आप से प्रवंचना है। वास्तव में लोकप्रियता त्याग और बलिदान करने से मिलती है। जिसने दूसरों के लिए अपने सुखों का त्याग कर दिया, अपनी सुविधाओं और साधनों का समर्पण कर दिया उसे ही लोकप्रियता मिलती है।

गांधीजी का आदर्श

गांधीजी ने अपने तन पर एक धोती और चादर रखकर बाकी सब वस्त्र क्यों उतार दिये? क्या उन्हें वस्त्रों की कमी थी? वे भी स्वयं बहुत बड़े बैरिस्टर थे, संभवतः एक-एक पेशी के पाँच-पाँच हजार रुपये भी उन्हें मिल जाते, देश की सर्वोच्च सत्ता भी उन्हें मिल जाती फिर तन पर ओढ़ने के लिए क्या सुन्दर वस्त्र नहीं मिलते? पर बात यह है कि चम्पारन में उन्होंने गरीब किसानों का हाल देखा था जिनके तन पर फटे चिथड़े भी नहीं थे। एक बार कस्तूरबा ने चम्पारन जिले में सफाई का प्रचार शुरू किया। वह एक गरीब किसान की झोंपड़ी में गई, वहाँ एक बहन के तन पर बहुत ही गंदी साड़ी लिपटी देखकर बा ने कहा—"बहन! इस साड़ी को धोकर साफ करलो।" इस पर उस गरीब औरत ने कहा—"माताजी! कई वर्षों से मैं इस साड़ी में अपना गुजारा कर रही हूँ, देखो यह चिथड़े-चिथड़े हो रही है, मेरे पास दूसरा कोई कपड़ा नहीं, जिसे पहन कर मैं इसे धो सकूँ।"

बा ने जब यह करुण-दशा देखी तो उसने गांधीजी को बताया। गांधीजी का भी हृदय दुःखी हो गया और वहीं पर उन्होंने यह प्रतिज्ञा की—जिस हिन्दुस्तान के करोड़ों मनुष्यों को दूसरा कपड़ा भी नहीं मिलता, वहाँ हम अपने शरीर पर इतने कपड़े क्यों पहनें? बस, तभी से उन्होंने मात्र एक चादर और एक धोती ही शरीर पर रखने का संकल्प ले लिया।

तो यह रहस्य था गांधीजी की जनप्रियता का। वे जनता के दुःख-दर्दों में

यह सोचता है कि यह अकर्त्तव्य मेरे रूप के अनुरूप नहीं है, अतः मुझे नहीं करना चाहिए—यह है लज्जा।

लज्जा किससे करनी चाहिए? इसका सीधा-सा उत्तर है—बुराई से। अकर्त्तव्य से। दुष्कर्म से और पाप से। आचारांगसूत्र में एक स्थान पर भगवान ने कहा है, "जो व्यक्ति साधु का वेष लेकर धर्म के नाम पर हिंसा करते हैं, जीवों की घात करते हैं, उनके इस कर्त्तव्य से हमें लज्जा आती है—**तेसिं पि वयं लज्जामो**—उनके कारण हमारे मन में लज्जा का अनुभव होता है कि देखो धर्म के पवित्र नाम पर किस प्रकार जीवों की हत्या की जा रही है।" तो इससे स्पष्ट होता है कि लज्जा बुराई एवं अन्याय से की जाती है।

हमारे राजस्थान में 'लाज' शब्द बहुत रूढ़ हो गया है। बहनें लाज करती हैं, घूँघट निकालती हैं, पर किससे? अपने माता-पिता तुल्य जो सास-श्वसुर हैं, ज्येठ आदि बड़े हैं, उनसे तो लाज करती हैं, और अनजान ऐरे-गैरे चाहे कोई आ जायें, घर के नौकर आदि सामने आ जायें तो उनसे कोई लाज नहीं करतीं। लाज का यह अर्थ नहीं है कि बड़ों के सामने मुँह ढक लिया तो लाज हो गई और मुँह खुला रह गया तो बस, वह बेशर्म बन गई। वास्तव में लज्जा अपने पूज्य जनों से नहीं की जाती, वह तो एक प्रकार की शिष्टता है, लज्जा तो बुरे कामों से होती है। 'आँख की लाज' जो कहते हैं उसका भाव यही है कि आँख में शर्म होती है तो व्यक्ति बुराई से बचता रहता है। बड़ों के सामने अविनय करने से, उनका अनादर करने से और किसी प्रकार का कटुक या अभद्र वचन बोलने से बचते रहना—यही है आँख की लाज। मुँह ढक के यदि सास-श्वसुर से झगड़ती रहे तो क्या वह बहू लज्जावती कहलायेगी?

हमारे यहाँ भाषा में एक प्रकार की गाली है—बेशर्म! निर्लज्ज! जिसके मन में पाप करते हुए, अन्याय एवं अत्याचार करते हुए, दुष्कर्म में प्रवृत्त होते हुए किसी प्रकार का संकोच नहीं होता, कोई लाज नहीं आती उसे बेशर्म कहा जाता है। यदि किसी को 'बेशर्म' कह दिया जाय तो वह अपने आप में बहुत बड़ा अपमान महसूस करता है। 'बेशर्म' लोगों की नजर में पतित एवं घृणित समझा जाता है। जिसे अपने खानदान की, अपने परिवार एवं समाज की मान-मर्यादा का विचार होता है, जिसके मन में यह भावना उठती है कि अमुक दुष्कर्म तो कर रहा हूँ पर लोग मुझे क्या कहेंगे? समाज क्या कहेगा? और हमारे गुरु महाराज को कैसे मैं अपना मुँह दिखाऊँगा? माता-पिता के सामने कैसे जाऊँगा? वह व्यक्ति सहजतया दुष्कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। उसके मन की लाज, उसे गड्ढे में गिरते-गिरते हाथ पकड़ कर बचा लेती है। शर्म एवं संकोच

३१

लज्जा और दया

आज आपके सामने गृहस्थधर्म के तीन बोलों पर विवेचन किया जा रहा है। वे बोल हैं—'लज्जा', 'दया' और 'सौम्यता।' आचार्य ने बताया है—सद्गृहस्थ के हृदय में लज्जा भी होनी चाहिए, दया भी और सौम्यता भी। ये तीनों ही बातें जीवन में बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं।

मुझे आगम का एक पद्य याद आता है, जिसमें भगवान ने कल्याण के इच्छुक शिष्य को उपदेश करते हुए चार विशुद्धि स्थान बताये हैं—

लज्जा दया संजम बंभचेरं
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं

—दशवैकालिक ९।१।१३

जो साधक आत्मा को पवित्र एवं परम विशुद्ध बनाना चाहता है उसके जीवन में लज्जा, दया, संयम एवं ब्रह्मचर्य—ये चार बातें आवश्यक हैं।

लज्जा किससे!

अब प्रश्न यह होता है कि लज्जा से आचार्य का क्या तात्पर्य है? लज्जा किससे और किस लिए? इसका उत्तर पाने के लिए हमें कुछ गहराई में जाना होगा।

लज्जा एक प्रकार के मानसिक संकोच को कहते हैं। जो व्यक्ति किसी उच्चपद पर होता है, जिसके पीछे खानदान, परम्परा एवं आदर्श का एक गौरव खड़ा रहता है, कि मेरा अमुक वंश है, अमुक आदर्श है, मैं अमुक परम्परा का प्रतीक हूँ, लोग मुझे महान समझते हैं, उस गौरव और आदर्श के विचार से जो व्यक्ति किसी अकर्त्तव्य को करते हुए मन में संकोच करता है,

सद्गृहस्थ को लज्जायुक्त होने की बात इसीलिए कही है, कि किसी समय भी यदि उसके विचारों में कोई तूफान आ जाये, किसी अकर्त्तव्य या नीचकर्म की ओर झुकाव भी हो जाये तब भी वह अपने कुल, धर्म एवं परम्परा की लज्जा के कारण उससे बच सकता है। मनुस्मृति में तो यहाँ तक कहा है कि स्त्रियों की भाँति पुरुष को भी लज्जाशील होना चाहिए। आँखें फाड़-फाड़कर देखना, सभा के बीच में अट्टहास करना, किसी का उपहास करना, या किसी स्त्री की ओर ताकना—ये निर्लज्जता के लक्षण हैं। सुशील एवं सदाचारी व्यक्ति के चरित्र में इस प्रकार की निर्लज्जता नहीं आनी चाहिए। सद्गृहस्थ—सुशील एवं सदाचारी होता है, वह शिष्टता एवं सभ्यता के नियमों का पालन करता है, और प्रत्येक समय लज्जा एवं शिष्टता से नीची नजर किये रहता है।

दया का अमृत

जो सद्गृहस्थ लज्जावान होगा, वह दयावान भी होगा। जिसके हृदय में दया नहीं है, वह वास्तव में इन्सान ही नहीं है। एक उर्दू शायर ने कहा है—

वह आँख, आँख नहीं, वह दिल दिल नहीं,
जिसे किसी को मुसीबत नजर नहीं आती!

जिसे दूसरे के कष्ट की अनुभूति नहीं होती, दूसरे की पीड़ा और तकलीफ से अपने दिल में दर्द नहीं होता, समझना चाहिए उसके पास इन्सान का दिल ही नहीं है, वहाँ सिर्फ इन्सान के रूप में शैतान बैठा है।

संसार के जितने भी धर्म हैं, पंथ हैं, और सम्प्रदाय है उन सबका मूल दया है। तुलसीदास जी ने कहा है—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।

एक आचार्य ने कहा है—

दयानदी महातीरे सर्वे धर्माः द्रुमायिताः

धर्मों के जितने वृक्ष हैं, वे सब दयारूप नदी के तीर पर ही टिके हुए हैं, उसी आधार पर हरे-भरे खड़े हैं, यदि तट का पानी सूख गया, तो वृक्ष की क्या दशा होगी? वह भी सूखकर ढह पड़ेगा। इसी प्रकार यदि मन में दया नहीं रही, करुणा नहीं रही तो कोई भी धर्म, कोई भी सत्कर्म पनप नहीं सकता। जब हृदय में दया होगी, तो मनुष्य किसी को कष्ट देते हुए सकुचायेगा। सोचेगा—"जैसी पीड़ा मुझे होती है, वैसी ही दूसरे को होती है।"

के कारण वह फिसलते-फिसलते वच जाता है, और उद्धार का कोई न कोई मार्ग उसे मिल जाता है।

लाज सुधारे काज

एक कहानी है कि एक सेठ साहव के सुपुत्र किसी संगति के कारण शराव पीने लग गये। साथियों के साथ मयखाने में जाकर हँसी-मजाक करना और उनके साथ वैठकर पीना—धीरे-धीरे आदत वन गई और रोज जाने लगे।

नगर में सेठजी की वड़ी इज्जत थी। वहुत वड़ी खानदानी प्रतिष्ठा थी। उनका पुत्र जव यों शरावखाने में जाकर पीने लगा तो लोगों ने सेठजी से कहा। सेठजी को वड़ा दुःख हुआ और आश्चर्य भी कि एक ही तो पुत्र है, और वह भी इतनी वड़ी इज्जत-आवरू पर यों पानी फेरने लग गया। पर सेठ जी वड़े समझदार थे। सोचा अव लड़का तो सयाना हो गया है, अपना हिताहित खुद समझता है, उसे डाँट-डपट वताने से तो और विगड़ जायेगा, और फिर तो जो सुधार की वची-खुची आशा है, वह भी नहीं रहेगी। अव तो यदि उसकी आँख में शर्म है तव तो वह सुधर सकता है, वर्ना गाड़ी पटरी से उतर गई।

एक दिन सेठजी ने देखा, लड़का साथियों के साथ शराव पीने गया है, वे भी उसके पीछे-पीछे चल दिये। लड़का मयखाने में जाकर वैठा, जैसे ही शराव की प्याली हाथ से लगाई सेठजी भी वहीं पहुँच गये। लड़के ने जैसे ही सेठजी को वहाँ आया देखा तो हाथ से प्याली छूट गई। उसे वड़ी शर्म आई, और अपने रूमाल से मुँह ढक लिया। सेठजी तुरन्त वापस लौट आये।

सेठजी से लोगों ने कहा—'आपने कुछ कहा नहीं, उसे!' सेठजी ने कहा—"अभी उसे कहने की जरूरत नहीं है। डूवते को तिनके का सहारा अभी वचा है, उसकी आँखों में शर्म है, अतः अव वह अपने आप सुधर जायेगा।" लड़के के मन में भी उस दिन से इतनी शर्म वैठी कि वह उस दिन के वाद कभी उधर नहीं गया, और धीरे-धीरे आदत छोड़ दी।

मैं कह रहा था कि जव तक मनुष्य के हृदय में लज्जा होती है, तव तक वह गिरकर भी उठ सकता है, चूंकि—लाज सुधारै काज। इसीलिए शास्त्रों में लज्जा को आत्म-विशुद्धि का कारण वताया है। प्राचीन ग्रन्थों में अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि वड़े-वड़े व्यक्ति पतित होते-होते इसलिए वच गये कि उनके मन में लज्जा थी। आषाढ़भूति की कथा तो आपने सुनी ही है। संसार गें डूवती हुई किश्ती सिर्फ एक लज्जा के कारण वच गई, और संयम से पतित [illegible] भी पुनः अपने पथ पर आ गये।

सौम्यता : भीतर भी बाहर भी

दयाशील गृहस्थ का अगला गुण बताया गया है—'सौम्यता'। सौम्यता—अर्थात् शांति, शीतलता और शालीनता। जिसके हृदय में करुणा होती है उसके चेहरे पर, आँखों और वाणी में स्नेह एवं शांति झलकती रहती है। जिस सरोवर के भीतर में जल भरा होगा, जिस नदी में जलधारा प्रवाहित होती रहेगी, उसके किनारों पर हमेशा शीतलता और सरसब्जता छाई रहेगी। भयंकर ग्रीष्म ऋतु में भी उसके तट पर तरी मिलेगी। जलती हुई लू की लपटें भी वहाँ शीतल हवा बन जायेंगी। इसी प्रकार करुणाशील हृदय की आकृति व वाणी भी सदा शांत और मधुर रहेगी। क्रोध और लोभ की ज्वालाएँ उसके हृदय की शांति को, उसके मुख की सौम्यता को कभी नष्ट नहीं कर सकती।

आपने पुराने मन्दिरों में और पुरानी चित्रकला में तीर्थंकरों के चित्र देखे होंगे? भगवान महावीर के कई चित्र मैंने देखे हैं, दो-दो चार-चार मास की तपस्या किये भगवान खड़े हैं; क्षुधा, पिपासा और बाहरी उपसर्ग उनकी काया को संत्रस्त कर रहे हैं, किन्तु फिर भी उनकी मुखमुद्रा बड़ी सौम्य, शांत प्रतीत होती है। एक चित्र में भगवान महावीर स्वामी ध्यान में खड़े हैं, और दुष्ट चंडकौशिक नाग उन पर जहरीली फूँकारें मार रहा है, उनके शरीर पर डंक लगा रहा है, और फिर भी भगवान प्रसन्न और प्रशांत भाव से उसे सद्बोध दे रहे हैं। चित्रों में इस प्रकार का भाव दिखाया जाता है, वह वस्तुस्थिति का सच्चा प्रतीक होता है कि करुणासागर भगवान बाहर में कष्टों की प्रचण्ड ज्वालाओं के बीच खड़े रहकर भी अन्तर में अनन्त शांति एवं सौम्यता का अनुभव कर रहे हैं।

आचार्य ने कहा है—इतनी शान्ति एवं सामर्थ्य हमारे में नहीं है, फिर भी आदर्श तो हमारा भी वही है, अतः हमें भी सौम्य एवं शांत बने रहने का प्रयत्न करना चाहिए। जीवन में कभी-कभी क्षोभ के प्रसंग भी आते हैं, हृदय को उद्वेलित एवं पीड़ित करने वाली घटनाएँ भी सामने आती हैं, कभी क्रोध की ज्वालाएँ भी भड़क उठती हैं, कभी लोभ के ज्वालामुखी भी फूटने लगते हैं, किन्तु इन परिस्थितियों में हमारे हृदय का धैर्य नहीं डिगना चाहिए। यदि धैर्य टूट गया तो मन अशांत हो उठेगा, और एक कण भर पीड़ा भी हमें मण भर प्रतीत होने लगेगी, थोड़ी-सी वेदना भी असह्य हो जायेगी। उस समय में हमारे मन में शांति एवं समता रहनी चाहिए, हमारे चेहरे पर भी शांति की रेखाएँ चमकनी चाहिए। कष्ट में जिसका मुख मलिन और बीभत्स हो जाता है, क्रोध में जो लाल-पीला हो जाता है, रौद्र आकृति धारण कर लेता है, वह तमोगुण का शिकार हो जाता है और अपने मार्ग से लड़खड़ा कर गिर पड़ता है।

वह धोखा देते, किसी की हत्या करते, मन में पहले संकोच करेगा, उसके हृदय में कम्पन होगा और दया माता उसका पाप कर्म की ओर बढ़ता हुआ हाथ रोक देगी।

दया के सम्बन्ध में जितना कहा जाये, कम है। कई बार कहा भी जा चुका है इसलिए यहाँ संक्षेप में इतना ही कहता हूँ कि सद्गृहस्थ के हृदय में दया का अमृत सतत छलकता रहना चाहिए। किसी दीन-दुःखी को देखकर उसका हृदय कंपित होना चाहिए और उसको रक्षा एवं सेवा के लिए हाथ बढ़ाते जाना चाहिए। यही सद्गृहस्थ का धर्म है। सम्यक्त्व के लक्षणों में 'अनुकंपा' मुख्य लक्षण है। आचार्य ने बताया है कि किसी को दुःखी एवं पीड़ा से कराहते देखकर भी जिसके हृदय में कंपन पैदा नहीं होता, करुणा की हिलोर नहीं उठती, उस कठोर-हृदय में कभी सम्यक्त्व रूप पुष्प नहीं खिल सकता। आचार्य जिनभद्रगणि ने भी ऐसे पुरुष को निर्दय-निरनुकंप कहकर पुकारा है—

जोउ परं कंपंतं दट्ठूण न कंपए कढिणभावो,
एसो उ निरणुकंपो.......

—बृह० भाष्य० १३२०

तो जो श्रावक होता है, सद्गृहस्थ होता है उसके हृदय में तो अहर्निश अनुकम्पा एवं करुणा की मधुर हिलोर उठती रहती है। वह दूसरों का दर्द देखकर स्वयं तड़प उठता है—

खंजर चले किसी पै तड़पते हैं हम 'अमीर'।
सारे जहाँ का दर्द, हमारे जिगर में है॥

करुणाशील गृहस्थ जब किसी की आँख में आँसू देखता है तो उसकी आँखें भी तर हो जाती हैं, और वह उन आँखों के आँसू पोंछने में अपनी पूरी शक्ति लगा देता है। एक सहृदय कवि ने कहा है—

किसी की आँख तर देखूं तो अश्क आँखों से जारी हो,
किसी की बेकरारी से मुझे भी बेकरारी हो।
किसी की जान से बढ़कर न अपनी जान प्यारी हो,
मेरी हस्ती का मरकज और मकसद इनकिरारी हो॥

यह है सच्चे गृहस्थ की भावना और आदर्श कि वह दूसरे का आँसू देख, उसकी व्याकुलता देखकर स्वयं व्याकुल हो जाता है, उसकी समूची शक्ति इसी काम में लग जाती है कि वह हर प्रकार से सेवा, सहयोग करके उसकी आत्मा को शांति पहुँचाए।

३२

कीजे पर-उपकार

संस्कृत साहित्य के एक महान् सन्तकवि भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक में कहा है—

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन,
दानेन पाणिर्न तु कंकणेन।
विभाति कायः करुणामयानां,
परोपकारैर्न तु चन्दनेन।

कान की शोभा शास्त्र-श्रवण से बढ़ती है, कुण्डलों से नहीं; हाथ की शोभा दान से बढ़ती है, कंकण से नहीं। करुणाशील मनुष्यों का शरीर पर-उपकार करने से सार्थक होता है, केवल चन्दन के तिलक-छापे लगाने मात्र से नहीं।

वास्तव में परोपकार मानव-जीवन का भूषण है। मनुष्य अपना हित और अपना उपकार करने में तो बिना कहे ही रात-दिन लगा हुआ है। अपने स्वार्थ का पोषण करने में कोई मनुष्य पीछे नहीं रहता। किन्तु विशेषता तो यह है कि वह अपने स्वार्थ और अपने हित से भी अधिक दूसरों के हित की चिन्ता करे। दूसरों के उपकार के लिए रात-दिन सोचता रहे। वही मानव, वास्तव में मानव है, और उसी का मानव-जीवन सफल है।

आचार्य हेमचन्द्र ने तेतीसवें बोल में इसी बात का वर्णन करते हुए लिखा है—परोपकृति कर्मठः—गृहस्थ को परोपकार में तत्पर रहना चाहिए।

'परोपकार' और 'स्वोपकार'

परोपकार शब्द कहने से यह सूचित होता है कि उपकार के दो रूप हैं—एक स्वोपकार दूसरा परोपकार। स्वोपकार अर्थात् अपना उपकार जिसे सीधी

शिवशंकर बनो

आपने शिवजी का चित्र भी देखा होगा ? वे महादेव क्यों बने और कैसे बने ? एक कवि ने कहा है—जिनके हाथ में हलाहल विष का प्याला है, गले में साँप लटक रहे हैं, तन पर भभूत रमी है, मृग की छाल पर बैठे हैं, ऐसी सभी विचित्र और वीभत्स स्थितियों के बीच भी जो सदा प्रसन्न और सौम्य आकृति लिए विराजमान हैं, वह देव वास्तव में महादेव कहलाता है।

तो आपको भी जीवन में महादेव बनना है। दुःखों और संकटों के गरल पीकर भी मुस्काते रहना है, **"मन में हजार गम हों, मगर शिकन न हो चेहरे पर"** इस बात को चरितार्थ करना है, और यह तभी हो सकती है जब आपके हृदय में धैर्य, समता और चेहरे पर सौम्यता होगी।

एक कहावत है—चेहरा हृदय का दर्पण है। **मुखं चित्तस्य वाचकः**—हृदय का वाचक है मुँह। मुँह के आइने में हृदय की तस्वीर झलकती है। व्यक्ति के जैसे विचार होते हैं, उसकी आकृति भी वैसी ही बन जाती है। जिसकी प्रकृति में तमोगुण होगा, हृदय में क्रोध होगा—उसकी आकृति बड़ी रौद्र और डरावनी लगेगी। जिसके हृदय में हिंसा की भावना होगी—उसका चेहरा देखते ही मन में भय छा जायेगा। लोभी और कपटी का चेहरा देखकर आप पहचान जायेंगे—इसकी झूठी हँसी और मीठी मुस्कान में खतरें की घण्टी बज रही है। और एक सत्पुरुष का चेहरा देखते ही आपके मन में उसके प्रति श्रद्धा एवं विश्वास का भाव जग जायेगा। तो ये सब बातें कोई चेहरे पर लिखता नहीं है, किन्तु विचारों के प्रतिबिम्ब ही रेखाएँ बनकर चेहरे पर छाये रहते हैं, और दिल की इन रेखाओं को कोई भी दिल आसानी से पढ़ लेता है।

मैं अधिक विस्तार में नहीं जाकर आज इतना ही कहना चाहता हूँ कि सद्गृहस्थ को सदा अपने हृदय को प्रशांत एवं आकृति को सौम्य बनाये रखना चाहिए। सौम्यता के पास सद्भाव और स्नेह, विश्वास और प्रेम अपने आप खिंचा आता है। सौम्य प्रकृति और सौम्य आकृति वाले सज्जन कहीं भी जायेंगे तो लोग अपने आप उनका आदर और विश्वास करेंगे ? बस यही बात आचार्य ने कही है कि तुम जीवन में सबका विश्वास, प्रेम और सद्भाव प्राप्त करना चाहते हो तो कभी भी अपनी शांति और सौम्यता को नष्ट न होने दो।

का कष्ट मिटाने आये थे, और यही एकमात्र उनका उद्देश्य था कि अपने शरीर का बलिदान करके भी संसार का कष्ट मिटाऊँ ! छद्मस्थ काल में उन्होंने कितनी यन्त्रणाएँ और कितनी पीड़ाएँ सहीं इसका वर्णन कई बार आप सुन चुके होंगे ? संसार में ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने अपने सुख की तनिक भी परवाह नहीं की। लोगों ने उन्हें पत्थर मारे, शूली पर चढ़ाया, जहर के प्याले पिलाए, फिर भी वे संसार की भलाई की कामना ही करते रहे। तो इन महापुरुषों को हम प्रथम कोटि में लेते हैं। जिन्होंने अपने सुखों का बलिदान करके संसार को सुखी बनाने का प्रयत्न किया।

प्रसिद्ध सन्त रंगदास के जीवन की घटना है कि एक बार जब वे बच्चे थे तो पिता ने उन्हें कुछ पैसे दिये और कहा—"बेटा ! जा कुछ फल ले आ !"

रंगदास बाजार में गये तो उन्हें कुछ दरिद्र और भूखे व्यक्ति दिखाई दिये, जो मारे भूख के छटपटा रहे थे। रंगदास ने उन्हें वे पैसे दे दिये। उन्होंने उन पैसों का सामान खरीदा और खाकर बड़े प्रसन्न हुए। रंगदास ने यह देखा तो उसका हृदय भी प्रसन्न हो उठा। वह खाली हाथ ही घर लौट आया तो पिता ने पूछा—"बेटा ! फल नहीं लाया ?"

बालक ने कहा—"पिताजी ! मैं आपके लिये 'अमरफल' लाया हूँ।"

पिता ने आश्चर्यपूर्वक देखकर पूछा—"कहाँ है अमरफल ?"

रंगदास ने कहा—"आप कहते हैं न किसी गरीब को देने से परलोक में अमरफल मिलता है, सो मैंने आज रास्ते में भूख से छटपटाते गरीबों को देखा तो अपने पैसे उनको दे दिये, उन्होंने उससे पेट भर लिया और वे बड़े प्रसन्न हुए। उनकी आज की भूख मिट गई, हम लोग फल खाते तो दो-चार क्षणों के लिए ही हमारा मुँह मीठा होता, किन्तु उन्हें दिया तो इसका परलोक में भी फल मिलेगा।"

पुत्र की बातें सुनकर पिता बड़े प्रसन्न हुए।

तो यह वृत्ति संतों की और सत्पुरुषों की वृत्ति है। सामान्य मनुष्य में इतनी उदारता भी नहीं होती, और इतनी क्षमता भी नहीं होती कि वह स्वयं कष्ट झेलकर दूसरे का कष्ट निवारण करे। यह हुई पुरुषों की प्रथम कोटि !

स्वोपकारी मानव

दूसरी कोटि के पुरुष वे है, जो स्वयं के सुख की हानि नहीं कर सकते। अपने स्वार्थ का त्याग कर नहीं सकते। किन्तु साथ में दूसरों के सुख की भी

भाषा में 'स्वार्थ' कहते हैं, और परोपकार—अर्थात् दूसरों का उपकार, परार्थ !

अपना पेट भरने के लिए किसी को उपदेश देने की जरूरत नहीं रहती। आपके पास रोटी है, और आपको भूख लगी है तो आप क्या करेंगे ? सबसे पहले अपनी पेटपूजा ! पहले अपनी चिन्ता करेंगे कि पेट में भूख लगी है तो चलो, पहले पेटपूजा, फिर काम दूजा। यह प्राणीमात्र का सहज स्वभाव है कि वह सबसे पहले अपने सुख की चिन्ता करता है, और अपना दुःख दूर करने में लगता है। वैसे कुछ सन्त पुरुष होते हैं, जो अपने दुःख-सुख की परवाह नहीं करके भी दूसरों के सुख का प्रयत्न करते हैं। इस दृष्टि से संसार में चार प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटका स्वार्थान् परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे।

कुछ सत्पुरुष ऐसे होते हैं, जो रात-दिन दूसरों के हित-साधन में ही जुटे रहते हैं। उन्हें अपने खान-पान और तन की भी फिकर नहीं रहती। स्वयं कष्ट झेलकर भी दूसरों को सुख पहुंचाते हैं। अपना बलिदान करके भी दूसरों की भलाई करना चाहते हैं। ऐसे सत्पुरुष बहुत कम होते हैं, वे पहली कोटि में आते हैं।

भगवान महावीर के जीवन-चरित्र में आपने सुना होगा, कि भगवान ने सिंधुसोवीर देश के राजा उदायी को उपदेश देने के लिए सातसौकोश का उग्र विहार किया था। कहाँ पर बिहार और कहाँ पर सिंधु सो वीर ! पूर्वी किनारे से पश्चिमी किनारा ! शीतकाल की भयंकर सर्दी और ग्रीष्मकाल की जान लेवागर्मी ! इतना लम्बा मार्ग और साथ में हजारों साधु-साध्वी ! इन सबको साथ लेकर भगवान ने उग्र विहार किया, यात्रा के भयंकर कष्टों का सामना किया—किस लिए ? राजा उदायी को उपदेश देने के लिए ! ग्रन्थकारों ने बताया है कि इस यात्रा में शीत-ताप के भयानक उपसर्ग के कारण भगवान के सैकड़ों साधु-साध्वियों का स्वर्गवास हो गया। मेरे कहने का आशय यह है कि भगवान ने इतने कष्ट क्यों उठाये ? यदि वे सिर्फ राजगृही और पावापुरी में ही विचरते रहते तब भी उनका मोक्ष तो अटकता नहीं ! उन्हें केवलज्ञान हो गया तो मोक्ष की गारण्टी थी, फिर भी इतने घोर कष्ट क्यों सहन किये ?

या गजवृत्ति ! आप कहेंगे, गजवृत्ति ! हाँ भाई, हाथी बनना कौन पसन्द नहीं करता ? किन्तु उसके गुण भी तो आने चाहिए। आपके सामने अभी मैंने दो वृत्तियों का वर्णन किया है, एक मात्र परोपकारी वृत्ति, दूसरी स्वोपकार के साथ परोपकार ! आप यदि पहली कोटि में नहीं जा सकते तो कोई बात नहीं किन्तु दूसरी कोटि से भी यदि नीचे उतर गये, तो फिर आप मानव की कोटि में नहीं रह सकते। स्वोपकार के साथ यदि परोपकार की भावना मन में नहीं रही, तो फिर आपका धन, धन नहीं मिट्टी है, आपका वैभव और बल केवल धोखा है और दुःख का कारण है।

मानव-राक्षस

मनुष्यों की एक तीसरी कोटि भी संसार में है, किन्तु वे वास्तव में मनुष्य नहीं, मनुष्य देह में दैत्य ही होते हैं। जो अपने स्वार्थ के लिए, अपने सुख के लिए दूसरों को पीड़ा देते है, कष्ट पहुँचाते हैं वे मानव के रूप में दानव हैं। जो व्यक्ति अपनी रोटी सेकने के लिए दूसरे की झोंपड़ी में आग लगा दे, वह दुष्ट एवं निकृष्ट मानव है। उसे यह कल्पना नहीं होती कि इसी प्रकार का व्यवहार यदि कोई मेरे साथ करे तो मुझ पर क्या बीतेगी ? भर्तृहरि ने कहा है, ऐसे मनुष्यों को मनुष्य कहने में मेरी जिह्वा को शर्म आती है, अतः उन्हें मैं 'मानव-राक्षस' ही कहता हूँ।

किन्तु संसार बड़ा विचित्र है, कवि ने मानव-राक्षस तक तो बता दिया, पर एक और भी प्राणी होते हैं, जो बिना किसी स्वार्थ के, बिना किसी प्रयोजन के निरर्थक ही दुनिया को संताप एवं कष्ट देते रहते हैं। उन्हें अपनी लगी, लगी सूझती है, किन्तु दूसरों की लगी दिल्लगी लगती है। दूसरों के घावों पर व्यर्थ ही नमक छिड़कर उन्हें रोते देखकर तमाशा करना चाहते हैं। कवि कहता है—वे प्राणी क्या हैं मैं कुछ समझ नहीं पाता। वे मानव तो नहीं, मानव-राक्षस भी नही, उससे भी गये-बीते, निकृष्ट और निकृष्टतम प्राणी हैं। वे सिर्फ संसार के भार हैं, धरती के दूषण हैं।

तो बन्धुओ ! आज आपके सामने सद्गृहस्थ का यह तेतीसवाँ गुण आया है कि वह परोपकार करने में सदा तत्पर रहे। जहाँ कहीं भी उपकार करने का प्रसंग आये वहाँ सबसे आगे रहे। उसके मन में उमंग होनी चाहिए कि मुझे पर-उपकार का पुण्य अवसर प्राप्त हो रहा है। इससे मेरा जीवन कृतार्थ हो जायेगा।

परोपकार करते समय एक विशेष बात और भी समझनी चाहिए कि

चिन्ता करते हैं, अपना पेट भरके, दूसरे का पेट भरने की भी जिन्हें भावना होती है। वे सोचते हैं—"यह शरीर मिला है, तो इससे सिर्फ अपना ही स्वार्थ नहीं साधना चाहिए, किन्तु कुछ दूसरों का भी उपकार होना चाहिए।" एक कहावत है—अपना पेट तो कुत्ता भी पालता है जो दूसरों का पेट पालता है, वह इन्सान है। उनमें इतना आत्मबल नहीं होता कि स्वयं भूखे रहकर अपनी रोटी दूसरे को दे दें। स्वयं कष्ट उठाकर दूसरे को सुखी कर दें इतनी शक्ति उनमें नहीं होती, किन्तु स्वयं का पेट भरकर दूसरे का पेट भरने की चिन्ता भी उन्हें होती है। उनके मन में करुणा होती है, और वे चाहते हैं कि अपनी भलाई के साथ कुछ पर की भलाई भी करनी चाहिए। उनमें श्वानवृत्ति नहीं, किन्तु गजवृत्ति होती है। आप देखते हैं—कुत्ता सिर्फ अपना पेट भरने के लिए ही दौड़-धूप करता है। अपने पेट के लिए वह अपनी बिरादरी से भी झगड़ा कर लेता है और अपने बन्धुजनों से द्रोह करता है। इसके विपरीत हाथी में इतनी स्वार्थवृत्ति नहीं होती, वह स्वयं भी खाता है, और अपने सामने जो रखा है वह सूंड़ से उछालकर दूसरे पशुओं को भी देता रहता है।

मुझे बचपन की एक बात याद आती है। मैं जब बच्चा ही था, किसनगढ़ में देखा करता था कि वहाँ दरबार की हाथीशाला में बहुत से हाथी बँधे रहते थे और उनके सामने बहुत से पूले पड़े रहते। वे स्वयं भी खाते रहते और बाहर में गाय या गधा कोई जानवर उनके सामने आता तो हाथी सूँड से कुछ पूले उछालकर उसकी ओर फेंक देता। उसके भी मन में आता होगा, दो पूलों से मेरे कोई कमी नहीं आने वाली है, और इस बिचारे का पेट भर जायेगा। तो यह हाथी की वृत्ति है परोपकार की। इसी वृत्ति को लक्ष्य करके राष्ट्रकवि मैथिलीशरण ने कहा है—

आभूषण नरदेह का एक पर उपकार है।
हार को भूषण कहे उस बुद्धि को धिक्कार है।
स्वर्ण की जंजीर बांधे श्वान फिर भी श्वान है।
धूलि-धूसर तन करी, पाता सदा सन्मान है।

मनुष्य के देह का आभूषण या शृंगार हार नहीं किन्तु पर-उपकार है। कुत्ते को यदि सोने की जंजीर से बांध दिया जाये, तब भी वह कुत्ता ही है। किन्तु हाथी भले ही सिर पर धूल व मिट्टी उछाल कर डाल रहा हो, गन्दा हो, फिर भी वह हाथी है—श्रेष्ठ है। कुत्ता उसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता।

अब आपसे मैं पूछूँ कि आप कौन-सी वृत्ति पसन्द करते हैं? श्वानवृत्ति

३३

विजय की ओर

गृहस्थधर्म के तेतीस बोलों का वर्णन आपके सामने किया जा चुका है। इन बोलों में गृहस्थ-जीवन के प्रत्येक पक्ष पर बड़ी सूक्ष्मता के साथ विचार किया गया है। उसके आन्तरिक एवं वाह्य-जीवन के सम्बन्धों, व्यवहारों तथा आदर्शों पर विश्लेषण करके आचार्य ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि गृहस्थ का जीवन एक पवित्र जीवन होना चाहिए। उसका व्यवहार मधुर एवं विनम्र हो, उसकी आजीविका के साधन न्याय एवं नीति युक्त हों, उसका रहन-सहन सादगी एवं स्वच्छता से पूर्ण हो, उसका घर-परिवार सुन्दर व स्वस्थ हो, तथा उसका हृदय गुणानुरागी, दयालु एवं परोपकार की भावना से सम्पन्न हो। मुख्यतः गृहस्थ के व्यावहारिक जीवन के प्रत्येक पक्ष को सुन्दर, स्वच्छ एवं परिपूर्ण बनाने की दिशा में आचार्यश्री अपना बहुमूल्य चिन्तन प्रस्तुत करके अब अगले दो बोलों में उसके आन्तरिक जीवन को सुन्दर, सुरम्य एवं संपुष्ट बनाने की ओर इंगित करते हैं। गृहस्थ-जीवन का जो अन्तिम एवं मूल आदर्श है, उसकी ओर इन अन्तिम दो बोलों में आचार्यों ने समग्र भावना को व्यक्त करते हुए कहा है—

अन्तरंगारि-षड्वर्ग-परिहार-परायणः
वशीकृतेन्द्रियग्रामो गृही धर्माय कल्पते।

जीवन के छः अन्तरंग शत्रुओं को दूर हटाता हुआ, और अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करता हुआ गृहस्थ अपने जीवन को धर्म के योग्य बनाता है।

शत्रु कौन ?

शत्रु दो प्रकार के होते है, एक वाह्य शत्रु और दूसरे अन्तरंग शत्रु ! वाह्य शत्रु वास्तव में शत्रु नही होते, वे तो हमारे जैसे ही मानव होते हैं, हमारे बन्धु

आपके मन में उस उपकार का प्रतिफल पाने की कामना नहीं होनी चाहिए। "मैंने इसका यह उपकार किया है, तो इसे भी मेरा कुछ काम करना चाहिए, या मुझे इसका लाभ मिलना चाहिए।" ऐसा विचार और संकल्प परोपकार के पुण्य को क्षीण कर देता है। हमारे यहाँ कहावत है—"नेकी कर कुए में डाल" अर्थात् किसी का उपकार किया तो उसे भूल जाओ, मन में यह संकल्प ही मत रखो कि मैंने कुछ किया है। किये हुए का स्मरण करना अभिमान को जगाता है। और करके उसका अभिमान करना मूर्खता का लक्षण है। कालिदास ने मूर्ख के लक्षणों में कहा है **कृतं न मन्ये**—मैं किये हुए का अभिमान नहीं करता इसलिए मैं मूर्ख नहीं हूँ। अर्थात् जो कुछ भलाई करके उस पर अहंकार करता है, वह अपनी भलाई का पुण्य नष्ट कर देता है। इसलिए यह कहा जाता है—

किसी का उपकार करके भूल जाओ।
किसी से उपकार कराके मत भूलो।
किसी को देकर भूल जाओ।
किसी से लेकर मत भूलो।

सारांश यह है कि सद्गृहस्थ मन में परोपकार का संकल्प रखे, जब भी परोपकार का अवसर आये, उसमें तत्पर रहे। और परोपकार करके अपने को ऐसा अनुभव करे कि जैसे कुछ किया ही नहीं है। उसका अहंकार और प्रतिफल की भावना मन में नहीं रखे! बस, यही परोपकार का सच्चा मार्ग है।

यह शत्रु जब तक तेरे मन में प्रबल रहेगा, तुझे सत्कर्म की ओर नहीं बढ़ने देगा। तेरे आत्मबल को उभरने नहीं देगा, तेरा तेज और ओज दबाये रहेगा। अतः सबसे पहले इस काम रूप शत्रु को मार डाल!

काम—के दो अर्थ होते है! एक—इच्छा, कामना। और दूसरा—विषय वासना। धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य, पद-प्रतिष्ठा, आदि की इच्छा करना कामना है, यह कामना जब उग्र बन जाती है, अपनी सीमा से बाहर चली जाती है तो तृष्णा का रूप ले लेती है। भोग एवं विषयों की प्राप्ति से आनन्द की इच्छा करना, विषयेच्छा अथवा वासना कहलाती है। 'काम' शब्द का शास्त्रों में दोनों ही अर्थ में प्रयोग हुआ है। दोनों ही प्रकार की कामना, 'काम' कहलाती है। और इस काम को अर्थात् इच्छा को नियन्त्रित करना 'संयम' कहलाता है।

शास्त्रों में बताया है कि मनुष्य किससे डरता है? दुःख से!—**दुःखेनोद्विजते जनः**—कोई भी मनुष्य दुःखी होना नहीं चाहता। आप सुबह उठकर सबसे पहले क्या भावना करते होंगे? हमें सुख मिले, हमारे परिवार को सुख मिले। मन्दिर में जाने वाला, भगवान के सामने हाथ जोड़कर सबसे पहली प्रार्थना करता है—"प्रभो! मुझे सुखी बनाओ! मेरे दुःखों को दूर करो!" मैं पूछूँ आपसे, कि कोई दुःखी होने की भी प्रार्थना करता है? नहीं! तो यही बात मैं कह रहा था कि संसार में सबसे अप्रिय और डरावनी चीज कोई है तो वह है दुःख। लोग कहते है—

मौत भले दे साहिबा मत दीजे मुझ दुःख।

प्रभो! मौत भले ही दे देना, मरना तो एक बार है, पर दुःख मत देना जिसके मारे तिल-तिलकर मरना पड़े।

तो आप दुःख से डरते हैं, और दुःख क्या है? शास्त्र की भाषा में कहूँ तो 'काम' ही संसार में सबसे बड़ा दुःख है। कहा है—

सल्लं कामा, विसं कामा
कामा आसीविसोवमा। —उत्तराध्ययन ९।५३

शूल की तरह चुभने वाली वस्तु क्या है—काम!
विष की तरह मारने वाली वस्तु क्या है—काम!
आसीविष की तरह क्षणमात्र में भस्मसात् करने वाली उग्र वस्तु क्या है—
म!

बौद्धधर्म के सन्तों ने भी यही बात दुहराई है—

"सत्तिसूलूपमा कामा"

—थेरीगाथा

होते हैं, किन्तु हम अज्ञान व मोह आदि के कारण उन्हें अपना शत्रु व दुश्मन मान बैठते हैं। उन पर शत्रुता का आरोप कर लेते हैं, सिर्फ अपनी कल्पना से उन्हें शत्रु मान लेते हैं और उनके साथ वैर, विरोध, संघर्ष आदि की चिनगारियाँ उछालते रहते हैं। वास्तव में जो हमारा शत्रु है, वह तो हमारे भीतर ही बैठा है, हमारे घर में छुपकर हमारी जड़ काट रहा है, हमारे सद्गुण रूपी धन को चुरा रहा है, हमारी सदप्रवृत्तियों का नाश कर रहा है और हमें पतन के गड्ढे में ढकेल रहा है।

आप पूछेंगे—वे शत्रु कौन हैं? आचार्य ने उन्हीं शत्रुओं के नाम बताते हुए कहा है—वे अन्तरंग शत्रु हैं छह—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य! ये छह अन्तरंग शत्रु हैं, असली शत्रु हैं। जब तक इन शत्रुओं पर विजय नहीं की जाती, आप सच्चे अर्थ में विजेता नहीं बन सकते। आपको मालूम है, आप जैन हैं। आपका धर्म जैनधर्म है। और जैन कौन कहलाता है?

जिन का उपासक! जिन का अनुगामी!

जिन का क्या अर्थ है?

विजय करने वाला!

प्रश्न होता है—विजय किस पर? किसको जीतने से जिन कहलाता है।

उत्तर है—जो अपने आन्तरिक दुर्गुण रूप शत्रुओं पर विजय करता है, राग-द्वेष, मोह-मात्सर्य आदि आभ्यन्तर शत्रु हैं, उनको जीतने वाला जिन कहलाता है, और उन विजेता महापुरुषों की उपासना करने वाला, और उनके उपदेशों का पालन करने वाला जैन! तो मतलब हुआ—जैनधर्म विजेता का धर्म है। जो विजय करने की उत्कंठा रखता है, जिसके हृदय में विजय की उमंगें लहरा रही हैं, जिसका हर कदम वीरता से भरा विजय पथ की ओर बढ़ता है, वह है जैन!

काम : महागर्त

बन्धुओ! यदि आपको सच्चा जैन बनना है, जैन का सच्चा आदर्श प्राप्त करना है तो सबसे पहले आपको इस विजय-पथ की ओर बढ़ना होगा और अपने अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना होगा।

सबसे पहला शत्रु है—काम! यह बड़ा ही शक्तिशाली और दुर्जय ... गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से बताया है कि—"वीर अर्जुन! तू सबसे ... इस काम रूप दुर्जय शत्रु का नाश कर—

जहि शत्रुं महाबाहो! कामरूपं दुरासदम्। —गीता०

अपनी वासनाओं और कामनाओं को मारने में ही सच्ची वीरता है। पारे को यदि भस्म बना दिया तो उसमें कौन-सी बड़ी बात हो गई, अपनी वासना को भस्म करो तो कोई बात है। शेरों को, साँपों को और घड़ियालों को मार डालने में कोई बहादुरी नहीं है।

तो मैं आपसे बता रहा था कि काम ही हमारे अंतरंग जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है। इच्छा, आशा, तृष्णा, वासना, विकार ये सब इसी के रूप हैं। और जब तक इन पर विजय नहीं की जाती, तब तक मानव-जीवन का विकास नहीं हो सकता। काम को संयत कैसे करें? इस विषय पर मैंने पीछे के एक प्रवचन में भी विस्तारपूर्वक बताया था। यहाँ तो सिर्फ इतना ही प्रसंग है कि 'काम' मनुष्य जीवन का शत्रु है, और गीता की भाषा में यह बड़ा 'दुर्जय शत्रु' है। इस शत्रु पर विजय करने से ही तुम विजेता बन सकते हो।

क्रोध राक्षस है

गीता में बताया गया है—**कामात् क्रोधः प्रजायते**—काम से क्रोध की उत्पत्ति होती है। मनुष्य जब किसी विषय की कामना करता है, उसे पाने के लिए प्रयत्न करता है, और प्रयत्न जब सफल नहीं होता है, उसके अभीष्ट विषय की प्राप्ति नहीं होती है तो उसका मन क्रोध से बुद-बुदाने लग जाता है। वह भीतर ही भीतर तपने लगता है, सन्ताप बढ़ता है और फिर उस क्रोध व क्षोभ को रोक नहीं पाने के कारण वह बाहर उमड़ आता है।

काम रूप शत्रु मनुष्य को भीतर ही भीतर जलाता है, किन्तु क्रोध भीतर भी बेचैनी पैदा करता है और बाहर भी। बाहर में भी वह आग बरसाने लग जाता है। क्रोधी अपनी शान्ति तो भंग करता ही है, किन्तु अपने परिवार की, पड़ौसियों की और समाज एवं देश की शान्ति भी नष्ट कर डालता है। क्रोध में आकर मनुष्य विवेकभ्रष्ट हो जाता है, बुरी तरह बकने लगता है, मार-पीट करने लगता है और बड़ा रौद्र एवं भयानक रूप धारण कर लेता है। काम मनुष्य को निर्लज्ज बनाता है, और क्रोध क्रूर बनाता है। इसलिए क्रोध को कहीं राक्षस कहा गया है, कहीं दैत्य कहा है, और कहीं चांडाल कहा है।

√ एक कहानी है। एक तपस्वी सन्त थे। बड़ी उग्र तपस्या करते थे। उनकी तपस्या के प्रभाव से देवता सेवा किया करते थे। एक बार तपस्वी मुनि मास-खमण के पारणे के लिए कहीं गोचरी जा रहे थे। गली बहुत संकड़ी थी, उधर से एक धोबी गधे पर कपड़ों का गट्ठर डालकर आ रहा था। मुनि बचने की कोशिश कर रहे थे, फिर भी संकड़ी गली होने से गट्ठर की टक्कर लग गई और मुनिराज भूमि पर गिर पड़े। गिरते ही मुनिराज को क्रोध आ गया।

विष बुझे वाण के समान और तीखे भालों के समान कोई पीड़ादायक वस्तु है तो वह है—काम ! काम मनुष्य के भीतर छुपा वह भस्मरोग है, जो कभी भी उसे शान्ति एवं प्रसन्नता प्राप्त नहीं करने देता । जो कामनाओं से घिर जाता है, वह सब कुछ पाकर भी खाली रहता है । क्योंकि कामना का महागर्त कभी भी भर नहीं सकता । एक आचार्य ने बताया है—

'समुद्र इवहि कामः नैव कामस्यान्तोऽस्ति'

—तैत्तिरीय ब्रा० २।२।५

काम समुद्र की तरह अगाध और असीम है । जैसे समुद्र का कोई ओर-छोर नहीं, वैसे काम का भी कोई कहीं ओर-छोर नहीं, कहीं किनारा नहीं । वे इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं—**इच्छाहु आगास समा अणंतिया** । संसार में धन-धान्य, भोगोपभोग की वस्तुएँ सीमित हैं, परिमित हैं और इच्छा है असीम, अनन्त ! तो सीमित वस्तु से असीम इच्छा का गड्ढा कैसे भर सकता है ? और फिर प्रत्येक प्राणी की इच्छा असीम है । संसार में इसीलिए संघर्ष होते हैं, युद्ध होते हैं, कलह और झगड़े होते हैं, कि वस्तु कम है, और वस्तु को प्राप्त करने की लालसा अधिक है । बस यही दुःख का मूल है ।

सुख का उपाय

एक बार एक साधक ने प्रभु से पूछा—"भंते ! इस संसार में चारों ओर दुःख ही दुःख है । कहीं इच्छाओं के द्वन्द्व हो रहे हैं, कहीं वासनाओं का नग्न नृत्य हो रहा है, उनमें से दुःख की चिनगारियाँ फूट रही हैं, और अशान्ति एवं उद्विग्नता फैल रही है, तो इस दुःख से दूर होने का, बचने का कोई उपाय भी है ?

भगवान ने कहा—"है ! दुःख से बचा जा सकता है !"

साधक ने पूछा—"भंते ! वह उपाय मुझे बताइए ।"

भगवान ने एक सूत्र में उसे दुःख से बचने का उपाय बताया—**कामे कमाहि, कमियं खु दुक्खं**—साधक ! तू कामनाओं से दूर हो जा ! बस तेरे दुःख दूर हो जायेंगे । कामना ही दुःख है, जिसने कामना को जीत लिया उसने सब दुःखों को जीत लिया । उर्दू के प्रसिद्ध शायर 'जौक' ने कहा है—

न मारा आपको जो खाक हो अक्सीर हो जाता
अगर पारे को ऐ अक्सीर गर मारा तो क्या मारा ?
बड़े मूजी को मारा नफ्से-अम्मारे को गर मारा
नहंगो अजदहा ओ शेर नर मारा तो क्या मारा ?

अपनी वासनाओं और कामनाओं को मारने में ही सच्ची वीरता है। पारे को यदि भस्म बना दिया तो उसमें कौन-सी बड़ी बात हो गई, अपनी वासना को भस्म करो तो कोई बात है। शेरों को, साँपों को और घड़ियालों को मार डालने में कोई बहादुरी नहीं है।

तो मैं आपसे बता रहा था कि काम ही हमारे अंतरंग जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है। इच्छा, आशा, तृष्णा, वासना, विकार ये सब इसी के रूप हैं। और जब तक इन पर विजय नहीं की जाती, तब तक मानव-जीवन का विकास नहीं हो सकता। काम को संयत कैसे करें? इस विषय पर मैंने पीछे के एक प्रवचन में भी विस्तारपूर्वक बताया था। यहाँ तो सिर्फ इतना ही प्रसंग है कि 'काम' मनुष्य जीवन का शत्रु है, और गीता की भाषा में यह बड़ा 'दुर्जय शत्रु' है। इस शत्रु पर विजय करने से ही तुम विजेता बन सकते हो।

क्रोध राक्षस है

गीता में बताया गया है—कामात् क्रोधः प्रजायते—काम से क्रोध की उत्पत्ति होती है। मनुष्य जब किसी विषय की कामना करता है, उसे पाने के लिए प्रयत्न करता है, और प्रयत्न जब सफल नहीं होता है, उसके अभीष्ट विषय की प्राप्ति नहीं होती है तो उसका मन क्रोध से बुद-बुदाने लग जाता है। वह भीतर ही भीतर तपने लगता है, सन्ताप बढ़ता है और फिर उस क्रोध व क्षोभ को रोक नहीं पाने के कारण वह बाहर उमड़ आता है।

काम रूप शत्रु मनुष्य को भीतर ही भीतर जलाता है, किन्तु क्रोध भीतर भी बेचैनी पैदा करता है और बाहर भी। बाहर में भी वह आग बरसाने लग जाता है। क्रोधी अपनी शान्ति तो भंग करता ही है, किन्तु अपने परिवार की, पड़ौसियों की और समाज एवं देश की शान्ति भी नष्ट कर डालता है। क्रोध में आकर मनुष्य विवेकभ्रष्ट हो जाता है, बुरी तरह बकने लगता है, मार-पीट करने लगता है और बड़ा रौद्र एवं भयानक रूप धारण कर लेता है। काम मनुष्य को निर्लज्ज बनाता है, और क्रोध क्रूर बनाता है। इसलिए क्रोध को कहीं राक्षस कहा गया है, कहीं दैत्य कहा है, और कहीं चांडाल कहा है।

✓ एक कहानी है। एक तपस्वी सन्त थे। बड़ी उग्र तपस्या करते थे। उनकी तपस्या के प्रभाव से देवता सेवा किया करते थे। एक बार तपस्वी मुनि मास-खमण के पारणे के लिए कहीं गोचरी जा रहे थे। गली बहुत संकड़ी थी, उधर से एक धोबी गधे पर कपड़ों का गट्ठर डालकर आ रहा था। मुनि बचने की कोशिश कर रहे थे, फिर भी संकड़ी गली होने से गट्ठर की टक्कर लग गई और मुनिराज भूमि पर गिर पड़े। गिरते ही मुनिराज को क्रोध आ गया।

विष बुझे बाण के समान और तीखे भालों के समान कोई पीड़ादायक वस्तु है तो वह है—काम ! काम मनुष्य के भीतर छुपा वह भस्मरोग है, जो कभी भी उसे शान्ति एवं प्रसन्नता प्राप्त नहीं करने देता । जो कामनाओं से घिर जाता है, वह सब कुछ पाकर भी खाली रहता है । क्योंकि कामना का महागर्त कभी भी भर नहीं सकता । एक आचार्य ने बताया है—

'समुद्र इवहि कामः नैव कामस्यान्तोऽस्ति'
—तैत्तिरीय ब्रा० २।२।५

काम समुद्र की तरह अगाध और असीम है । जैसे समुद्र का कोई ओर-छोर नहीं, वैसे काम का भी कोई कहीं ओर-छोर नहीं, कहीं किनारा नहीं । वे इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं—**इच्छाहु आगास समा अणंतिया** । संसार में धन-धान्य, भोगोपभोग की वस्तुएँ सीमित हैं, परिमित हैं और इच्छा है असीम, अनन्त ! तो सीमित वस्तु से असीम इच्छा का गड्ढा कैसे भर सकता है ? और फिर प्रत्येक प्राणी की इच्छा असीम है । संसार में इसीलिए संघर्ष होते हैं, युद्ध होते हैं, कलह और झगड़े होते हैं, कि वस्तु कम है, और वस्तु को प्राप्त करने की लालसा अधिक है । बस यही दुःख का मूल है ।

सुख का उपाय

एक बार एक साधक ने प्रभु से पूछा—"भंते ! इस संसार में चारों ओर दुःख ही दुःख है । कहीं इच्छाओं के द्वन्द्व हो रहे हैं, कहीं वासनाओं का नग्न नृत्य हो रहा है, उनमें से दुःख की चिनगारियाँ फूट रही हैं, और अशान्ति एवं उद्विग्नता फैल रही है, तो इस दुःख से दूर होने का, बचने का कोई उपाय भी है ?

भगवान ने कहा—"है ! दुःख से बचा जा सकता है !"

साधक ने पूछा—"भंते ! वह उपाय मुझे बताइए ।"

भगवान ने एक सूत्र में उसे दुःख से बचने का उपाय बताया—**कामे कमाहि, कमियं खु दुक्खं**—साधक ! तू कामनाओं से दूर हो जा ! बस तेरे दुःख दूर हो जायेंगे । कामना ही दुःख है, जिसने कामना को जीत लिया उसने सब दुःखों को जीत लिया । उर्दू के प्रसिद्ध शायर 'जौक' ने कहा है—

न मारा आपको जो खाक हो अक्सीर हो जाता
अगर पारे को ऐ अक्सीर गर मारा तो क्या मारा ?
बड़े मूजी को मारा नफ्से-अम्मारे को गर मारा
नहंगो अजदहा ओ शेर नर मारा तो क्या मारा ?

है—क्रोध मन का धुआँ है—**कोधो वुच्चति धूमो**—जो क्रोधी स्वभाव का होता है, रात-दिन उसके भीतर अग्नि की तरह सन्ताप बना रहता है, जिसमें उसके आत्मगुण तो जलते ही हैं, किन्तु शरीर के रक्त, मांस, वीर्य आदि भी जलकर खाक होते रहते हैं। अतः सद्गृहस्थ जोकि शरीर एवं मन को स्वस्थ रखना चाहता है, उसे क्रोध पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

मोह और लोभ

क्रोध के वाद नम्बर तीन का शत्रु है—मोह और चार नम्बर का है लोभ! गीता में काम से क्रोध, और क्रोध से मोह की उत्पत्ति बताई है—**क्रोधाद् भवति सम्मोहः**—क्रोध से मनुष्य अत्यन्त मूढ़ एवं विवेकहीन हो जाता है, मोह से ग्रस्त हो जाता है और मोहग्रस्त मनुष्य की बुद्धि पर आवरण आ जाता है, स्मृति दूषित हो जाती और अन्त में वह विनाश के महागर्त में जा गिरता है—

जैसा कहा है……

सम्मोहाद् स्मृतिविभ्रमः,
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशाद् प्रणश्यति। —गीता० २।६२-६३

—मोह से स्मृति-विभ्रम पैदा होता है, स्मृति-विभ्रम से बुद्धि का नाश हो जाता है, और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य पतित हो जाता है, नष्ट हो जाता है।

मूढ़ता से विनाश

अनुभव से देखा जाय तो यह बात शत-प्रतिशत सही है कि जब मनुष्य पर मूढ़ता हावी हो जाती है, तो वह विचार एवं विवेक से शून्य हो जाता है। फिर उसे कृत्य एवं अकृत्य का भान नहीं रहता, वह मोहग्रस्त होकर कुछ भी कर बैठता है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी के लिए भी बताया गया है कि जब लक्ष्मणजी का आयुष्य पूर्ण हो गया तो रामचन्द्रजी भाई के मोह में इस प्रकार विक्षिप्त हो गये कि उनके शव को लेकर गले से लिपटा लिया, और बोले—कौन कहता है मेरा भाई मर गया? मेरा लक्ष्मण नहीं मर सकता, यह नाराज हो गया है, मैं इसे प्रसन्न करके जगाऊँगा। और छह महीने तक उनकी लाश को कन्धे पर लिए घूमते रहे। ऐसा वर्णन पुराने जैनग्रन्थों में मिलता है। तो यह मोह की महिमा है कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम जैसा नीति एवं विवेक के साक्षात् स्वरूप को भी विक्षिप्त बना दिया और नहीं करने जैसे कृत्य भी करवा दिया। गौतमस्वामी के विलाप की बात भी आप लोग सुनते हैं—भगवान महावीर के निर्वाण का सम्वाद सुनकर वे किस तरह बच्चों की तरह विलाप

तपस्वी थे, कुछ तेजोलेश्या प्रचण्ड थी, बोले—"अरे मूर्ख ! अन्धा होकर चलता है, दीखता नहीं।"

धोबी तो ओछी जात, उसे क्या पता मुनिराज तपस्वी हैं या क्या हैं ? बस, वह भी मुनि को गाली देने लगा। मुनि का क्रोध और भड़क गया, उन्होंने दो-चार बात कहीं तो धोबी ने मुनिराज को पकड़कर पटक दिया जमीन पर, और छाती पर बैठ गया। घूंसों और मुक्कों से खूब मरम्मत कर डाली। तभी आस-पास के लोग दौड़े आये, और धोबी को डाँट-डपट कर हटाया। मुनिराज का क्रोध उतर गया, उन्हें मन में बड़ा पश्चात्ताप हुआ—"देखो, कैसे क्रोध में अंधा हो गया मैं !" उन्हें अपने कृत्य पर बड़ी ग्लानि आई। कपड़े झटककर पातरे सँभाले और थोड़ी दूर चले कि वह देवता सेवा में आकर वन्दना करने लगा। मुनिराज ने कहा—"देवानुप्रिय ! इतनी देर कहाँ चले गये थे ?" देवता ने कहा—"गुरुदेव ! एक खेल देखने लग गया।"

साधुजी—"तुम्हारा खेल देखना हुआ और इधर तो बस हड्डी-पसली एक हो रही थी ! कैसा खेल देखने लग गये थे ?"

देवता—"महाराज ! एक धोबी और एक चांडाल की गुत्थम-गुत्था हो रही थी, बस वहीं रुक गया।"

साधुजी ने कहा—"देवानुप्रिय ! वह चांडाल नहीं, मैं था।" देवता ने कहा—"महाराज ! आप पर कौन हाथ उठा सकता है, देखूं किसकी मजाल है ? वहाँ आप नहीं थे, आपके भीतर का चांडाल था।" ✓

तो बात यह है कि क्रोध ही सबसे बड़ा चांडाल है। क्रोध जब मनुष्य पर हावी हो जाता है तो बुद्धि के द्वार बन्द हो जाते हैं। आचार्य सोमदेव सूरि ने बताया है—"अति क्रोधनस्य शौर्यं बह्निस्थित लवणमिव शतधा विशीर्यते"[1]—क्रोधी की शक्ति और बुद्धि अग्नि पर पड़े नमक की तरह चर्‌चर् करके जल उठती है। क्रोधी अपनी शक्ति, सामर्थ्य और आत्मबल को स्वयं निगल जाता है, जैसे सर्पिणी अपने अण्डे स्वयं निगल लेती है। शास्त्रों में बताया है—क्रोधी व्यक्ति अपने सत्य, शील, विनय, औदार्य, साहस आदि गुणों को स्वयं ही नष्ट कर डालता है—'कुद्धो···सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज'[2]—क्योंकि क्रोध मन के भीतर में छिपी हुई आग है। प्रकट अग्नि से तो बचा भी जा सकता है, किन्तु गुप्त अग्नि से बचना कठिन है, वह धीरे-धीरे सुलगती रहती है और भीतर के सद्‌गुणों को जलाती जाती है। बौद्धग्रन्थ चुल्लनिद्देस (२।५।१७) में बताया

---

१ नीतिवाक्यामृत

२ प्रश्नव्याकरण २।२

दीनारशतं दास्यामि...(दिव्यावदान, कावेल सम्पादन १८८६, पृ० ४३४) जो मुझे एक श्रमण का मस्तक देगा मैं वदले में उसे सौ दीनार दूँगा।" जैन एवं बौद्धग्रन्थों को जलाना, मन्दिर एवं विहारों को नष्ट करना तो मामूली बात थी। कहते हैं दक्षिण का एक सुन्दर पाण्ड्य राजा जो पहले जैन था, फिर सन्त तिरुज्ञान सम्वन्दर की शिष्यता ग्रहण कर शैव बन गया, उसने आठ सहस्र जैनों के रक्त से फाग खेला था।

मैं वता रहा था कि ये घटनाएँ धार्मिक उन्माद का घृणित रूप वता रही हैं। सांप्रदायिक मोह, जो उन्माद के रूप में ही अक्सर फूटता है, कितने हिन्दू और मुसलमानों के खून की होली खेलता है, किसी से छिपा है? इसी तरह आज सत्ता और पद के मोह में अंधे होकर अनेक व्यक्ति वड़ी दर्दनाक हत्याएँ कर रहे हैं। चलते हुए राष्ट्र नेता को गोली दाग देना, सोते हुए प्रतिद्वन्द्वी की गर्दन काट डालना ये सब घिनौने कुकृत्य मनुष्य के इसी अन्धमोह या उन्माद से प्रेरित होते हैं। सामाजिक एवं पारिवारिक तथा व्यक्तिगत जीवन में मनुष्य मोह-मूढ़ होकर अनेक दुष्कृत्य, अनैतिक एवं निंदनीय आचरण कर बैठता है, और अपनी प्रतिष्ठा एवं सम्मान से च्युत होकर आत्मा की उच्चता से गिरता ही है, सामाजिक दृष्टि से भी गिर जाता है।

इसलिए आचार्य ने वताया है कि सद्गृहस्थ जो कि संसार में सुखपूर्वक जीना चाहता है, उसे मोह पर विजय पाने की कोशिश करनी चाहिए और कम से कम उस मोह पर तो जरूर ही—जो उसे मूढ़ वनाकर, उन्मत्त एवं विक्षिप्त वना डालता है।

लोभ पाप का बाप

लोभ के लिए तो संसार में प्रसिद्ध कहावत है—पाप का वाप कौन? लोभ! ऐसा कोई पाप नहीं, दुष्कृत्य नहीं जो लोभ में मूढ़ हुआ मनुष्य नहीं कर डाले। मैंने यहाँ तक सुना है कि जो कसाईखाने हैं, उनमें वकरे काटने वाले नौकरों को १० पैसा प्रति वकरा मिलता है। अब सोचिये १० पैसे के लिए एक जीव की हत्या कर डालना कितनी जघन्यवृत्ति है। पर वात यह है कि यह पैसा ऐसी चीज है कि मनुष्य को पागल वना देता है। थोड़ा-सा लालच किसी को मिल गया तो वह मनुष्य की भी हत्या कर डालता है। जो टके की टकटकी में भटक जाता है, वह फिर धर्म-कर्म, पुण्य-पाप कुछ नहीं सोच सकता। ऊँचे घरों में उत्पन्न हुए कुलीन व्यक्तियों को भी मैंने देखा है कि वे ऐसे-ऐसे व्यापार कर रहे हैं जिन्हें सुनें तो आपको भी आश्चर्य होगा। और मन में घृणा भी पैदा होगी कि—क्या आदमी है, पैसे के लिए इतना नीच कृत्य कर

करने लग गये ? जो गौतम चार ज्ञान चौदह पूर्व के ज्ञाता, समस्त वाङ्मय के वृहस्पति, अक्षर-वर्ण के प्रत्येक संयोग के रहस्यवेत्ता—वे गौतम भी मोह में ग्रस्त हो गये। इसीलिए तो मोह को सबसे बड़ा मल्ल बताया है। भगवान ने कहा है—**मोहो हओ जस्स न होई तण्हा**[1] जिसने मोह को नष्ट कर दिया उसके मन में किसी प्रकार की तृष्णा, लालसा और कामना पैदा ही नहीं होती। जिसका मोह कर्म खतम हो गया, उसके नये कर्म का बन्ध ही नहीं होता—

एवं कम्मा न रोहंति मोहणिज्जे खयं गते[2]

मैंने न्यायदर्शन जब पढ़ा था तो उसमें आचार्य अक्षपाद का एक सूत्र आया था—**तेषां मोहः पापीयान्**[3]—रागद्वेष आदि विकारों में मोह सबसे दुष्ट एवं हानिकारक है। मोह से मनुष्य मूढ़ हो जाता है, और मूढ़ मनुष्य कुछ भी कर बैठता है।

मोह के विविध रूप

संसार में आज जितने प्रकार की लड़ाइयाँ चल रही हैं, उनमें मोह का सबसे मुख्य हाथ है। परम्परा व सम्प्रदाय का भी मोह होता है, जाति का भी मोह होता है, पार्टी का भी गोह होता है, पद का भी मोह होता है। भाषा, प्रान्त, देश और संस्कृति का भी मोह होता है। मोह के सैकड़ों-हजारों रूप होते हैं। जब तक विवेक जागृत रहता है, मोह का कुछ अंश हो, तब भी वह नुकसान नहीं कर सकता, किन्तु जैसे ही मोह उग्ररूप धारण कर लेता है, तो विवेक लुप्त हो जाता है और मोह उन्माद बन जाता है। किसी व्यक्ति के मन में अपनी परम्परा और सम्प्रदाय का मोह उग्ररूप से जगता है तो वह दूसरी परम्परा और सम्प्रदायों को समाप्त करने के लिए मचल उठता है।

ज्ञानोदय (१९५६-अक्टूबर पृ० ३२) में मैंने एक लेख पढ़ा था, उसका शीर्षक तो मुझे स्मरण नहीं, किन्तु उसमें धार्मिक उन्माद के कारण संसार में किस प्रकार के हत्याकांड हुए हैं इसका बड़ा रोमांचक वर्णन किया गया था। अन्य देशों में ही क्या, किन्तु जो भारत धर्मभूमि कहलाती है उसमें किसी जमाने में जैन और बौद्धों पर भयंकर अत्याचार हुए हैं। हिन्दू राजा पुष्यमित्र शुंग, जिसने भारत से बौद्धधर्म के लोप का बीड़ा उठाया था, उसने सैकड़ों-हजारों श्रमणों को अपनी तलवार से उड़ा दिया था। बौद्धग्रन्थ दिव्यावदान में उसकी वह भीषण घोषणा आज भी उट्टंकित हैं—"यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं

१ उत्तराध्ययन ३२

२ दशाश्रुतस्कन्ध ५।१४

३ न्यायदर्शन ४।१।६

जब मैं था तब गुरु नहीं, जब गुरु तब मैं नाँय।
प्रेम गली अति सांकड़ी, ता में दो न समाय॥

धर्म की, प्रेम की यह गली इतनी संकड़ी है कि यदि इसमें अहंकार खड़ा रहता है, तो ज्ञान, ध्यान, धर्म और पुण्य को रास्ता ही नहीं मिल सकता। अतः आचार्यों ने कहा है—सद्गृहस्थ अपने अहंकार पर विजय प्राप्त करता रहे, मन को सरल और विनम्र बनाये रखे तभी वह धर्म का आराधक हो सकता है।

गुणानुरागी बनो !

हमारा छठा अंतरंग शत्रु है—मात्सर्य। मात्सर्य का अर्थ है—ईर्ष्या, असूया, डाह !

दूसरे की उन्नति एवं अभिवृद्धि होते देखकर, दूसरे को धर्म एवं सत्कर्म करते देखकर मन में प्रसन्नता आनी चाहिए—कि यह धन्य है, जो ऐसा सुयोग प्राप्त कर रहा है, इसने अपने जीवन को कृतकृत्य किया है जो खुले दिल से दान दे रहा है, किसी की सेवा कर रहा है, या धर्म-ध्यान में जीवन को सफल बना रहा है। यह उच्च भावना है और इस भावना को शास्त्रों में गुणानुराग कहा है। इसके विपरीत यदि ऐसे अवसर पर आपके मन में ईर्ष्या जगती है, दूसरों के प्रति मात्सर्य भाव पैदा होता है तो यह बहुत बड़े दुर्भाग्य की बात है, यह मानव के पतन का मार्ग है।

सद्गृहस्थ के प्रतिदिन चिंतन के लिए अपने यहाँ भावना और अनुप्रेक्षा प्रचलित है। बारह भावना हैं, और फिर चार भावना और है। उनमें प्रमोद भावना है, जिसका अर्थ है दूसरों का गुण देखकर मन में प्रमुदित होना। गुण व गुणी को देखकर आनन्द तथा उल्लास की अनुभूति करना। उसमें कहा गया है—

गुणी जनों को देख हृदय में,
मेरे प्रेम उमड़ आवे।
बने जहाँ तक, उनकी सेवा,
करके यह मन सुख पावे।
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं,
द्रोह न मेरे उर आवे।

रहा है। पर यह सब हो रहा है, लोभ सबको नाच नचा रहा है, नाश और संहार के मार्ग पर धकेल रहा है।

आप यदि सद्गृहस्थ बनना चाहते हैं, तो आपको इस क्षुद्र लोभ पर विजय प्राप्त करनी होगी। अपने मन को स्थिर करना होगा, और कुछ संतोष धारण करना होगा। संतोष का यह मतलब नहीं कि हाथ पर हाथ धरकर बैठ जायें, या मुँह पर मुखपट्टी बाँध लेवें। किंतु जैसा मैंने पहले भी बताया कि ऐसे लोभ एवं लालच के प्रसंग पर अपने को स्थिर कर सकें। लोभ के तूफान में डिगें नहीं, किंतु अपने कर्त्तव्य एवं धर्म का विचार करके उस पर दृढ़ता के साथ बढ़ते रहें।

अभिमान पतन का मार्ग है

एक कहानी प्रसिद्ध है कि एक संत से किसी ने पूछा—"नरक में कौन जाता है?"

संत ने प्रतिप्रश्न किया—"कौन पूछता है?"

प्रश्नकर्ता ने अहंकार में अकड़कर कहा—"मैं।"

संत ने कहा—"बस, यह 'मैं' ही नरक में जाता है। जिसके मन में 'मैं'-अहंकार है, वही नरक का मेहमान बनता है। जिसने 'मैं' को मार दिया, अहंकार को जीत लिया उसके लिए स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं।"

अहंकार सत्कर्म का प्रतिरोधी है। जब तक आपके मन में अहंकार है, आप कोई सत्कर्म कर नहीं सकते। यदि अहंकार-पोषण के लिए सत्कर्म करते भी हैं तो वह फल-शून्य हो जाता है। अहंकार से पुण्य का रस सूख जाता है। भगवतीसूत्र में बताया है कि क्रोध, लोभ या अहंकार के वश में होकर कोई प्रत्याख्यान करता है तो वे प्रत्याख्यान भी दुष्प्रत्याख्यान हैं, उनसे संसार घटने की बजाय बढ़ता है। अपना बड़प्पन जताने के लिए यदि तपस्या करते हैं, दान करते हैं, तो वह सब राख में डाला हुआ घी है। पुण्य चाहे थोड़ा सा करो, लेकिन जो करो, वह विनम्रता एवं सरलता के साथ करो। मैं नहीं कहता कि आप एक मासखमण करिए, या रोज की पाँच सामायिक करिए, भले ही आप एक उपवास करिए या एकासना ही करिए, एक सामायिक ही कर लीजिए लेकिन जो करते हैं वह लोगों को दिखाने के लिए नहीं, अपनी वाहवाही के लिए नहीं, किंतु आत्मकल्याण के लिए कीजिए। धर्म और अहंकार साथ-साथ नहीं रह सकते। कबीर ने कहा है—

तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो।

चक्षु का प्रयोजन सिर्फ इतना ही है कि वह रूप को ग्रहण करती है। जो उसके गृहीत मनोज्ञ विषय पर आसक्ति करता है, वह राग का हेतु बन जाता है, जो अमनोज्ञ विषय पर खेद करता है, वह द्वेष का हेतु बन जाता है और जो मनोज्ञ-अमनोज्ञ पर समभाव रखता है वह वीतराग भाव की साधना करता है।

तो मैं आपसे बता रहा था कि इन्द्रिय की प्राप्ति स्वयं में बुरी नहीं है, बुराई और भलाई, हित और अहित उसके प्रयोग पर निर्भर करता है। यदि आपने इन्द्रियों को अपने अधीन नहीं किया है, उन्हें खुली छूट दे रखी है, तो वे विषयों में आसक्त होकर आपकी आत्मा का इतना अहित कर सकती है, जितना एक दुश्मन भी नहीं कर सकता। शास्त्र में कहा है—

न तं अरी कंठछेत्ता करेई,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।

—गर्दन काटने वाला शत्रु भी उतना अहित नहीं करता जितना अहित विषयों में लुब्ध, इन्द्रियों के वशीभूत हुई कुमार्गगामिनी अपनी आत्मा करती है।

गीता में कहा है—इन्द्रियाँ बहुत चंचल हैं, हवा से भी अधिक चंचल है, यदि इन्हें थोड़ी-सी भी ढील दे दी, तो वे तुरन्त विषयों की ओर दौड़ने लगती हैं और आत्मा को पतन के गर्त में ढकेल देती हैं—

'बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।

इन्द्रियों का समूह बड़ा बलवान है, विद्वानों और ज्ञानियों को भी ये खींच-कर ले जाती हैं। जो मनुष्य इन्द्रियों के वशीभूत हो जाता है, उनकी दासता स्वीकार कर लेता है वह शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है।

कल्पना करिए—आप भोजन करने बैठे हैं, सुन्दर और स्वादिष्ट भोजन आपके सामने आ गया, आपने खाना शुरू कर दिया। पेट में जितनी जगह थी, खा लिया, पेट भर गया। किन्तु वस्तु इतनी स्वादिष्ट है कि जीभ से स्वाद नहीं छूट रहा है। पेट में जगह नहीं है, और जीभ स्वाद नहीं छोड़ रही है, फिर भी खाते जा रहे हैं तो आखिर क्या परिणाम होगा ? पेट से ज्यादा खायेंगे तो बीमार पड़ेंगे। रोग आयेंगे और आखिर कष्ट उठाना पड़ेगा। या

गुण-ग्रहण का भाव रहे नित,
दृष्टि न दोषों पर जावे।

इस प्रमोद भावना से मनुष्य के अन्तःकरण में लगी हुई अहंकार और मात्सर्य की गाँठें खुल जाती हैं, हृदय सरल, विनम्र एवं गुणानुरागी बनता है और मनुष्य अपने छठे शत्रु—मात्सर्य पर विजय करने में अग्रसर होता है।

इन्द्रिय-विजय

अन्तरंग शत्रुओं पर विजय करने के साथ ही आचार्य ने इन्द्रियों को वश में करने की बात भी कही है और यह गृहस्थधर्म का पैंतीसवाँ तथा अन्तिम सूत्र है। आचार्य की शब्दावली का सूक्ष्म विवेचन करने पर 'विजय' के दो रूप हमारे सामने आते हैं। एक विजय होती है—शत्रु को नष्ट करना तथा दूसरी विजय है—शत्रु को अधीन करना। जो शत्रु खतरनाक होता है, तथा जिसका कोई विश्वास नहीं कि वह किस समय धोखा देकर अनिष्ट कर जाये, राज-नीति की दृष्टि से उस शत्रु को तुरन्त समूल नष्ट कर दिया जाता है। उसको न तो बंदी बनाकर रखते हैं, और न किसी प्रकार की क्षमा की जाती है।

एक दूसरे प्रकार के शत्रु होते हैं, जो वास्तव में शत्रु नहीं होते, किन्तु शत्रु के द्वारा बहकाये जाने पर विपरीत आचरण करने लग जाते हैं। उनको नष्ट नहीं किया जाता, मारा नहीं जाता किंतु या तो उन्हें बंदी बना लिया जाता है, या उन्हें अनुकूल बनाकर क्षमा कर दिया जाता है, वे राज्य के अधीन होने पर उसी के अनुकूल प्रवृत्ति करने लग जाते हैं। यहाँ पर काम क्रोध आदि जो अन्तरंग शत्रु हैं, वे पहली कोटि के शत्रु हैं, उनको तो नष्ट, ही करना पड़ता है, क्योंकि वे कभी भी आत्मा के अनुकूल नहीं हो सकते, अतः आचार्य ने उनके लिए 'परिहार' शब्द की योजना की है। उन शत्रुओं को तो मूलतः समाप्त ही कर देना चाहिए। किन्तु इन्द्रियों के लिए आचार्य ने विजय का दूसरा तरीका बताया है—उन्हें अधीन करना, वश में कर लेना।

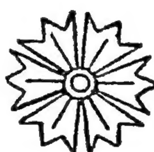
जैनदर्शन की यह सुस्पष्ट मान्यता है कि इन्द्रियाँ वास्तव में न बुरी हैं, न अच्छी, वह तो शुभ कर्म की प्रकृति हैं, और एक प्रकार की उपलब्धि हैं। इन्द्रिय का कार्य इतना ही है कि वह अपने विषय का ग्रहण करके मन के संवे-दन सूत्र तक उसे पहुँचा दे।

उत्तराध्ययनसूत्र (३२/२२) में स्पष्ट कहा है—

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।

विजय की ओर मन को वश में करने की दिशा में सक्षम हो सकता है जो अपनी इन्द्रियों को, मन को वश में करने की दिशा में सतत प्रयत्नशील रहता है।

गृहस्थधर्म के ये पैंतीस वोल आचार्य हेमचन्द्र ने वताये हैं उनकी व्याख्या मैंने आपके समक्ष की है। कुछ वोलों की व्याख्या तो वहुत ही संक्षेप में करनी पड़ी है, और कुछ को सिर्फ परिचय देकर ही छोड़ दिया है। कुछ वातें ऐसी हैं जो शब्दान्तर से दुवारा भी आ गई हैं—किन्तु कुल मिलाकर इन समस्त वोलों का सार आचार्य ने अन्तिम एक ही वोल में उपसंहार के रूप में रख दिया कि—इनमें सूचित या नहीं सूचित सभी विधियों, और आचार-प्रणालियों का पालन वही गृहस्थ समुचित रूप में कर सकेगा जिसके सामने आत्मानुशासन का लक्ष्य रहेगा। आत्म-विजय और आत्म-स्वरूप की उपलब्धि का ध्येय जिसका होगा, वही व्यक्ति न्याय से धन कमायेगा, उपार्जित धन को जन-सेवा में लगायेगा अपने जीवन में सात्विक गुणों का विकास करेगा और मन एवं इन्द्रियों को विषयाभिमुखता से हटाकर अन्तर्मुखीन वनाने का प्रयत्न करेगा। उसी सद्गृहस्थ के लिए यह समस्त उपक्रम, उपदेश एवं प्रवचन किया गया है।



ऐसी चीज सामने आ गई जिसे खाने से बीमारी होती है, किन्तु खाने में स्वादिष्ट लगती है, खाते जा रहे हैं। तो उसका परिणाम क्या होगा ? बीमारी, पीड़ा और अन्त में मृत्यु !

तो यह है 'रसना' को खुली छूट देने का परिणाम ! खाते-खाते जब पेट भर गया, या आपने देख लिया कि इस-चीज को खाने से नुकसान होता है तो तुरन्त जीभ पर काबू कर लिया, तो आप रोग से भी बच गये, और पीड़ा से भी। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में सद्गृहस्थ को यह ध्यान रखना है कि इन्द्रियाँ उस पर हावी न हो जाएँ, वह इन्द्रियों का दास न बन जाये, किन्तु इन्द्रियों को अपने वश में रखे, इन्द्रियों का स्वामी बनकर रहे। जो इन्द्रियों को वश में कर सकता है, अपने मन पर काबू कर सकता है वह कभी भी अपने मार्ग से च्युत नहीं हो सकता, अपने धर्म से गिर नहीं सकता।

केशीस्वामी ने जब गौतमस्वामी से पूछा—इन हजारों शत्रुओं के बीच में आप कैसे निर्भय होकर बैठे हैं ? तो गौतमस्वामी कहते हैं—मैंने एक (मन) को जीत लिया है, उसे जीतने से पाँचों (इन्द्रिय) भी जीत ली गई हैं, और उन पाँच को जीतने से दसों (चार कषाय) पर ही मेरी विजय हो गई और अब मुझे किसी भी शत्रु से कोई भय नहीं—

एगंजिए जियापंच पंचजिए जियादस,
दसहा उ जिणित्ताणं सव्व सत्तू जिणामहं।

—उत्तराध्ययन २३।३६

तो इस विजय का मूल क्या है ? एक मन, और पाँच इन्द्रिय ! बस इन पर जिसने विजय कर ली—संसार में उसके लिए कहीं भी कोई शत्रु नहीं रहा, कहीं भी कुछ भय नहीं रहा।

यद्यपि गृहस्थ की भूमिका बिल्कुल प्राथमिक है, वह गृहस्थाश्रम में रहता हुआ सम्पूर्ण इन्द्रिय विजेता नहीं बन सकता, और न ऐसी अपेक्षा ही की जा सकती है। किन्तु गृहस्थ-जीवन के लिए आवश्यक इतना ही है कि इन्द्रियों पर संयम करने का अभ्यास करे, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील बना रहे, और कभी भी इन्द्रिय विषयों के पीछे बेतहाशा दौड़ न लगाये। बस यह लक्ष्य और भावना जिस गृहस्थ के जीवन में होती है, वह गृहस्थ ही धर्म का सच्चा अधिकारी होता है। आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में—'गृही धर्माय कल्पते'—वही गृहस्थ, ये जो उपर्युक्त धर्म-साधना के सूत्र बताये गये हैं, उनका पालन करने के योग्य होता है, इन धर्मसूत्रों की साधना करने

मन को प्रसन्न

एवं

बुद्धि को धर्मानुगामिनी

बनाने के लिए

जीवन-निर्माणकारी पुस्तकों का स्वाध्याय कीजिये

	मूल्य	
१—मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ		४०)
२—आम्र मंजरी	”	३)
३—अन्तर की ओर [प्रथम भाग]	”	३)
४—अन्तर की ओर [द्वितीय भाग]	”	३)
५—ऐतिहासिक काव्य-संग्रह	”	३)
६—योगशास्त्र	”	४)
७—श्रद्धाञ्जलि [स्मृति ग्रन्थ का प्रथम खण्ड]	”	५)
८—जैन दृष्टि	”	१)
९—साधुवंदना	”	१)५०
१०—जागरण	”	)७५
११—धर्मपथ	”	)८८
१२—भगवान महावीर की साधना	”	)३७
१३—सन्मति वाणी	”	)७५
१४—स्वस्थ अध्ययन	”	)२०
१५—ज्योतिर्धर जय	”	)५०
१६—साधना के सूत्र	”	१०)
१७-२२—जैन कथामाला : भाग १ से ६ तक	”	१)
२३-२७—जैन कथामाला : भाग ७ से ११ तक	”	१)५०
२८—जैन कथामाला : भाग १२	”	२)५०

सम्पर्क करें :—

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)